श्री शङ्कराचार्य

[श्री शङ्कराचार्य के जीवनचरित तथा उपदेशों का प्रामाणिक विवरण]

श्री बलदेव उपाध्याय, एम० ए०, साहित्याचार्य
प्रोफेसर, संस्कृत-पाली विभाग
हिन्दू विश्वविद्यालय, काशी

शङ्करं शङ्कराचार्यं केशवं बादरायणम् ।
भाष्यसूत्रकृतौ वन्दौ भगवन्तौ पुनः पुनः ॥

हिन्दुस्तानी एकेडेमी
इलाहाबाद

प्रकाशक :
हिन्दुस्तानी एकेडेमी,
इलाहाबाद

प्रथम संस्करण : १९५०
द्वितीय संस्करण : १९६३
मूल्य १५ रुपये

मुद्रक—सरयू प्रसाद पांडेय, नागरी प्रेस, इलाहाबाद
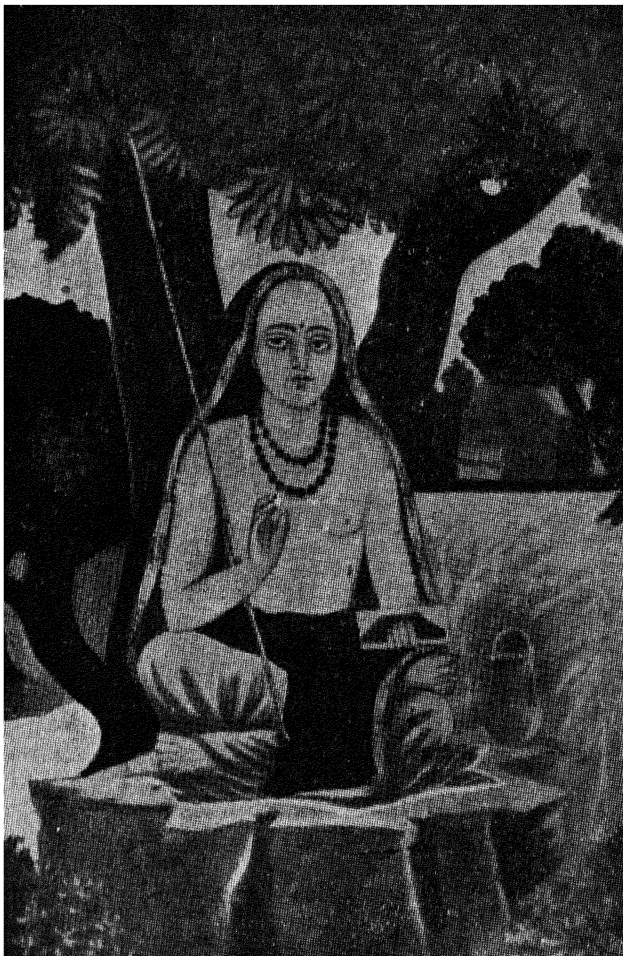
श्री शंकराचार्य

श्रीशङ्करस्तुतिः

१

श्रुतिस्मृतिपुराणानामालयं करुणाकरम् ।
नमामि भगवत्पादं शङ्करं लोकशङ्करम् ।।

२

वेदान्तार्थ–तदाभास–क्षीरनीरविवेकिनम् ।
नमामि भगवत्पादं परहंसधुरन्धरम् ।।

—अमलानन्द सरस्वती

३

अज्ञोऽप्यश्रुतशास्त्राण्याशु किल व्याकरोति यत् कृपया ।
निखिलकलाधिपमनिशं तमहं प्रणामामि शङ्कराचार्यम् ।।

—सच्चिदानन्द स्वामिनः

४

अद्वैतामृतवर्षिभिः परगुरुव्याहारधाराधरैः,
कान्तैर्हन्त समन्ततः प्रसृमरैरुत्कृत्ततापत्रयैः ।
दुर्भिक्षं स्वपरैकताफलगतं दुर्भिक्षुसम्पादितं,
शान्तं सम्प्रति खण्डिताश्च निविडाः पाखण्डचण्डातपाः ।।

—माधवाचार्यस्य

समर्पणम्

इतिहासपरां रीतिमवलम्ब्य धिया स्वया ।
विचार्य 'विजयानां' च वृत्तं निरवशेषतः ॥१॥
भक्तिपूतेन मनसा बलदेवेन शर्म्मणा ।
विषयानां समग्राणां सन्निवेश इहादृतः ॥२॥
गम्भीरं कार्यंचरितं क्व चाल्पविषया मतिः ।
वृत्ताम्बुधिस्तु संतीर्णो विश्वनाथप्रसादतः ॥३॥
'नामूलं लिख्यते किञ्चित् नानपेक्षितमुच्यते' ।
इति प्रतिज्ञा-निर्वाहः कृतो मतिपुरःसरः ॥४॥
शङ्कराचार्य-चरितं श्रीशङ्कर-कराम्बुजे ।
परया श्रद्धया प्रेम्णा समर्प्यत इदं मया ॥५॥
इतिहासकथास्वादरसिकाः सुधियो मुदा ।
आलोचयन्तु चरितमित्येषाऽभ्यर्थना मम ॥६॥

———

प्रकाशकीय

अनेक वर्ष पूर्व, हिन्दुस्तानी एकेडेमी के संस्थापक स्वर्गीय राय राजेश्वर बली की प्रेरणा से नये ग्रन्थों की रचना में सहायता देने के लिये कतिपय रुचि-सम्पन्न व्यक्तियों से धन प्राप्त हुआ था। गणेश फ्लावर मिल, के श्री महानारायण जी ने शङ्कराचार्य की साँगोपांग जीवनी के लिये १२०० रुपये का अनुदान दिया था। हिन्दुस्तानी एकेडेमी के अनुरोध पर श्री बलदेव उपाध्याय ने जगद्गुरु शङ्कराचार्य की जीवनी तथा उनकी रचनाओं पर विद्वत्तापूर्ण ग्रन्थ तैयार किया था। ग्रन्थ का प्रथम संस्करण सन् १९५० में प्रकाशित हुआ था।

'शङ्कराचार्य' का यह संशोधित और परिवर्द्धित द्वितीय संस्करण है। एकेडेमी के इस ग्रन्थ का अनुवाद दक्षिण की भाषाओं में भी हो रहा है। स्पष्ट है कि इस ग्रन्थ की प्रामाणिकता को समस्त भारत में स्वीकार किया जा रहा है। कारण सम्भवत: यह है कि जगद्गुरु शङ्कराचार्य सम्बन्धी प्राय: सम्पूर्ण सामग्री इसी एक ग्रन्थ में उपलब्ध हो जाती है। श्री बलदेव उपाध्याय मर्मज्ञ विद्वान् हैं। उन्होंने ही परिश्रम से इस बहुमूल्य ग्रन्थ के नये संस्करण को संशोधित और परिवर्द्धित किया है।

शोध-प्रेमी विद्वानों तथा उन अध्येताओं के लिए, जो भारतीय इतिहास के तमसाच्छन्न काल में जगद्गुरु शङ्कराचार्य के आविर्भाव को एक अविस्मरणीय घटना मानते हैं, यह ग्रन्थ पठनीय एवं संग्रहणीय है।

यह कहने की आवश्यकता नहीं कि जगद्गुरु शङ्कराचार्य के जीवन और कर्त्तव्य से, तेजस्वी प्रतिभा और अद्भुत एवं अलौकिक नेतृत्व शक्ति से समस्त भारतीय जीवन प्रकाशमान् हो उठा था और वही प्रकाश आज भी उसको मार्ग दिखला रहा है।

हमें आशा है, कि इस पुस्तक का समस्त देश में यथोचित आदर होगा। एकेडेमी इसके भावी संस्करण को और भी पूर्ण तथा दोष-रहित बनाने में देश के हर क्षेत्र और वर्ग के सहयोग की अपेक्षा करता है।

हिन्दुस्तानी एकेडेमी
इलाहाबाद

विद्या भास्कर
सचिव

नवीन संस्करण का वक्तव्य

'आचार्य शङ्कर' का यह नवीन, संशोधित तथा परिवर्धित संस्करण पाठकों के सन्मुख प्रस्तुत करते समय मुझे विशेष हर्ष हो रहा है। यह उपयोगी ग्रन्थ कई वर्षों से दुष्प्राप्य था जिससे जिज्ञासुजनों की जिज्ञासा पूर्ण नहीं होती थी। आनन्द का विषय है कि अब एकेडेमी के उत्साही मन्त्री श्री विद्या भास्कर जी की कृपा से यह पुनः प्रकाशित होकर अध्ययन तथा अनुशीलन के लिए सुलभ हो रहा है।

'आचार्य शङ्कर' भारतवर्ष के अध्यात्मतत्त्वविद् मनीषियों में अग्रगण्य थे, अद्वैत मत के प्रतिष्ठापक थे तथा समस्त भारतवर्ष में वैदिक धर्म में नवीन प्राण, नूतन स्फूर्ति तथा अभिनव प्रेरणा प्रदान करने वाले आदरणीय आचार्य थे। ऐसे महनीय आचार्य के जीवन चरित्र और उपदेश से परिचय पाना प्रत्येक भारतीय का कर्त्तव्य है। हर्ष का विषय है कि इधर शोधकर्ता विद्वानों का ध्यान आकृष्ट हुआ है। ग्रन्थ के सुलभ होने से ऐसे जिज्ञासुओं की जिज्ञासा की पूर्ति भली-भाँति हो सकेगी। इस ग्रन्थ की उपयोगिता का सङ्केत इसी घटना से हो सकता है कि इसका कन्नड भाषा में अनुवाद हो गया है जो शीघ्र ही प्रकाशित होगा। द्वारिकापीठ के शङ्कराचार्य ने ग्रन्थ की प्रामाणिकता से प्रसन्न होकर इसका गुजराती भाषा में अनुवाद कराने का विचार किया है। यह इस ग्रन्थ की प्रामाणिकता तथा उपादेयता का स्पष्ट परिचायक है। तथ्य तो यह है कि यह अभी तक अपने विषय का एक अद्वितीय ग्रन्थ है जिसमें आचार्य के जीवन चरित्र आदि से सम्बद्ध विषयों का गम्भीर अनुशीलन प्रस्तुत किया गया है।

इस नवीन संस्करण में पूरे ग्रन्थ का संशोधन भली-भाँति किया गया है। प्रतीयमान त्रुटियों को यथासाध्य दूर करने की पूरी चेष्टा की गई है। इस पर भी यदि त्रुटियों तथा दोष दृष्टिगोचर हों, तो विद्वज्जन उन्हें बतलाने की कृपा करेंगे जिससे उनका मार्जन उचित समय पर उचित रीति से किया जा सके। लेखक को इस बात से सन्तोष है कि जिस उद्देश्य की पूर्ति के लिए इस ग्रन्थ का प्रणयन किया गया था, वह उद्देश्य थोड़ी मात्रा में अवश्य ही पूर्ण दीख पड़ता है। तथास्तु।

वाराणसी
गीता जयन्ती
संवत् २०२०

बलदेव उपाध्याय
अध्यक्ष, पुराणेतिहास विभाग,
वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय

प्रथम संस्करण की प्रस्तावना

आज शङ्कराचार्य का जीवनचरित हिन्दी पाठकों के सामने प्रस्तुत करते समय मुझे अपार आनन्द हो रहा है। राजनैतिक आन्दोलन के इस युग में हम अपने धर्म के संरक्षकों तथा प्रतिष्ठापकों को एक तरह से भूलते चले जा रहे हैं। परन्तु आचार्य शङ्कर का पावन-चरित भुलाने की वस्तु नहीं है। यह तो हमारे निरन्तर मनन का प्रधान विषय है। आचार्य का हमारे ऊपर इतना अधिक उपकार है कि उसका स्मरण न करना हमारे लिये घोर अपराध है। शङ्कर की जयन्ती हमारे लिए राष्ट्रीय पर्व है। उनका चरित्र परमार्थ-पथ के पथिकों के लिये एक बहुमूल्य सम्बल है। आचार्य के जीवन-चरित के सम्बन्ध में यद्यपि बहुत से ग्रन्थ संस्कृत में उपलब्ध होते हैं, तथापि आवश्यकता इस बात की थी कि उनके वृत्तों को सर्वसाधारण तक पहुँचाने के लिये उक्त ग्रन्थों का ऊहापोह कर हिन्दी में एक प्रामाणिक जीवन-चरित प्रस्तुत किया जाय। इसी अभाव का पूर्ति करने के लिए यह ग्रन्थ रचा गया है।

ग्रन्थ में चार खण्ड हैं—प्रवेश खण्ड (२) चरित खण्ड (३) रचना खण्ड (४) दर्शन खण्ड। प्रवेश-खण्ड में हमने आचार्य के जीवनचरित को ठीक-ठीक समझने के लिए जो आवश्यक उपकरण हैं, उनका वर्णन किया हैं। पहले परिच्छेद में मैंने इस जीवन-चरित के लिखने की शैली कैसी होनी चाहिए, इस विषय पर विशेष विचार किया है। द्वितीय परिच्छेद में उपलब्ध उपकरणों की समीक्षा की गयी है। तीसरे परिच्छेद में शङ्कर पूर्व भारत की एक भव्य झाँकी है, जिसके देखने से इनके जीवन चरित का महत्व भली-भाँति समझा जा सकता है। चौथे परिच्छेद में शङ्कराचार्य के आविर्भाव काल का पूरा विवेचन किया गया है।

'चरित-खण्ड' में ९ परिच्छेद हैं जिनमें शङ्कर का जीवनचरित क्रमबद्ध रूप से प्रस्तुत किया गया है। इस खण्ड के लिखने में हमारा यही अभिप्राय नहीं है कि केवल शङ्कर का ही जीवनचरित दिया जाय, प्रत्युत् उनके समसामयिक महापुरुषों का, विशेषतः कुमारिलभट्ट का, जीवनवृत्त भी साथ-साथ निबद्ध किया गया है। रचना-खण्ड में शङ्कर के रचनात्मक कार्यों का विवरण है। इसके पहले परिच्छेद में शङ्कर के ग्रन्थों का विशेष रूप से विवरण दिया गया है और यथाशक्ति उनके असली ग्रन्थों की छानबीन युक्तियों के सहारे की गई है। इसके दूसरे परिच्छेद में शिष्यों का विस्तृत परिचय है। शङ्कर के प्रधान शिष्य

सुरेश्वराचार्य के विषय में विद्वानों में बड़ा मतभेद है। मण्डन और सुरेश्वर की एकता को लेकर आधुनिक विद्वानों ने बहुत कुछ शोध किया है। हमने यह सप्रमाण दिखलाया है कि दोनों भिन्न-भिन्न व्यक्ति थे। इसके तीसरे परिच्छेद में आचार्य द्वारा स्थापित मठों के विवरण के साथ वहाँ के विशिष्ट आचार्यों का भी आवश्यक परिचय छानबीन के साथ दिया गया है। मैंने मठाम्नाय के उस मूल अंश को भी अन्यत्र परिशिष्ट के रूप में दे दिया है जिसमें शङ्कर ने इन मठों के सञ्चालन के नियम निर्धारित किये हैं। दशनामी सम्प्रदाय की उत्पत्ति, विकास, उसके उद्देश्य तथा वर्तमान स्थिति का वर्णन भी इस परिच्छेद के अन्त में किया गया है।

अन्तिम खण्ड—दर्शन खण्ड—आचार्य के द्वारा प्रतिष्ठापित तथा उपबृंहित अद्वैत वेदान्त का ऐतिहासिक तथा दार्शनिक परिचय प्रस्तुत करता है। इसके पहले परिच्छेद में आर्य वेदान्त का विशिष्ट परिचय है। आचार्य के पहले भी जिन वेदान्ताचार्यों ने वेदान्त की भूयसी प्रतिष्ठा की थी और जिनके नाम भी हम भूलते जाते हैं, उनका विस्तृत ऊहापोह किया गया है। अनन्तर शङ्कर के पश्चाद्वर्ती वेदान्ताचार्यों का संक्षिप्त परिचय दिया गया है। इस प्रकार इस परिच्छेद में प्राचीन वेदान्त और अद्वैतवेदान्त का ऐतिहासिक विवरण विशेष खोज के अनन्तर प्रस्तुत किया गया है। इस खण्ड के दूसरे परिच्छेद में अद्वैत-वेदान्त के सिद्धान्तों का प्रतिपादन है, पाठकों के सौन्दर्य के लिये स्थान-स्थान पर मूल ग्रन्थों के उद्धरण दिये गये हैं। वर्णन संक्षिप्त ही है। केवल तत्वज्ञान और आचारमीमांसा का ही वर्णन हैं। प्रमाणमीमांसा का वर्णन स्थानाभाव के कारण छोड़ दिया गया है। अन्तिम परिच्छेद आचार्य के उदात्त-चरित्र का विशिष्ट समीक्षण है जिसमें उनकी बहुमुखी अलौकिक प्रतिभा तथा व्यापक व्यक्तित्व की विशेषताएँ समझायी गयी है। इस प्रकार इस ग्रन्थ में शङ्कर के समय, समकालीन व्यक्ति, जीवनचरित, ग्रन्थ, शिष्य, मठ तथा उनकी व्यवस्था, उनके विचार आदि समस्त आवश्यक विषयों का संक्षिप्त अथवा प्रामाणिक वर्णन किया गया है।

इस ग्रन्थ को प्रामाणिक बनाने के लिए मैंने यथाशक्ति खूब परिश्रम किया है। शङ्कर के जीवनचरित के ऊपर संस्कृत, अंग्रेजी, हिन्दी, बँगला, मराठी भाषाओं में लिखे गये उपलब्ध ग्रन्थों का यथाविधि तुलनात्मक अध्ययन करने के पश्चात् यह ग्रन्थ प्रस्तुत किया गया है। 'नामूलं लिख्यते किञ्चित् नानपेक्षितमुच्यते' इस मल्लिनाथी प्रतिज्ञा के निबाहने का मैंने भरसक प्रयत्न किया है। जो कुछ लिखा गया है, वह प्रमाण पुरःसर लिखा गया है। बहुत से प्रमाण यथास्थान दे दिये गये हैं। जहाँ नहीं दिये गये हैं, वहाँ भी प्रमाण विद्यमान है। इसकी

भाषा भी ऐसी रक्खी गयी है जिसे सर्वसाधारण समझ सकें। दार्शनिक विवेचन में भी भाषा-सम्बन्धी दुरूहता भरसक नहीं आने पायी है। इस प्रकार ग्रन्थ को सरल, सुबोध तथा उपयोगी बनाने के लिये मैंने यथासाध्य यत्न किया है। अन्त में उन सज्जनों को धन्यवाद देना चाहता हूँ जिनके सत्परामर्श तथा सहायता से यह कार्य सुचारु रूप से सम्पन्न हुआ है। सर्वप्रथम मैं पूज्यपाद महामहोपाध्याय पण्डित गोपीनाथ कविराज जी को धन्यवाद देना अपना कर्त्तव्य समझता हूँ जिन्होंने इस ग्रन्थ में आवश्यक परामर्श देकर हमें अनुगृहीत किया है। ग्रन्थ को लिपिबद्ध करने तथा शीघ्र तैयार करने में तीन व्यक्तियों ने मेरी पर्याप्त सहायता की है—एक तो हैं मेरे अनुज पं० कृष्णदेव उपाध्याय एम० ए०, साहित्यशास्त्री, साहित्यरत्न; दूसरे हैं मेरे सुयोग्य छात्र बंशदेव मिश्र एम० ए० तथा तीसरे हैं मेरे चिरञ्जीवी पुत्र गौरीशङ्कर उपाध्याय एम० ए०। इन तीनों सज्जनों ने यदि मेरे लिए लेखक बनना स्वीकार नहीं किया होता तो यह कार्य इतनी जल्दी सम्पन्न नहीं होता। इस लिये ये मेरे आशीर्वाद के भाजन हैं।

अन्त में, पाठकों को यह बता देना चाहता हूँ कि काशी में जिस स्थान पर निवास करते हुए आचार्य शङ्कर ने अपने अमर ग्रन्थों की तथा अपनी आध्यात्मिक साधना को फलवती बनाया, उस स्थान के पास ही शङ्कर के इस चरित की रचना की गयी है। जिनकी पावन नगरी में निवास कर इस ग्रन्थ का प्रणयन किया है, उन आशुतोष बाबा विश्वनाथ से मेरी करबद्ध प्रार्थना है कि शङ्कराचार्य का यह चरित-ग्रन्थ अपने उद्देशों में सफल हो और भारत के प्रत्येक घर में आचार्य का अमृतमय उपदेश पहुँचाता रहे।

आज लगभग पाँच वर्षों के अनन्तर आचार्य श्रीशङ्कर का यह चारु-चरित प्रकाशित हो रहा है। दो वर्षों तक तो कागज़ की कमी के कारण यह यों ही पड़ा रहा और उतने ही दिनों तक यह प्रेस के गर्भ में सोता था। सौभाग्यवश आज यह विद्वानों के सामने प्रस्तुत किया जा रहा है। छपाई की व्यवस्था के दूर पर होने के कारण इस शोभन ग्रन्थ में अनेक अशोभन अशुद्धियों की सत्ता बेतरह खटक रही है। विज्ञ-पाठकों से प्रार्थना है कि वे इन्हें शुद्ध कर लेने की कृपा करें।

एक बात। इस ग्रन्थ के सप्तम परिच्छेद में कुमारिल भट्ट के विषय में उपलब्ध सामग्री के आधार पर विशेष मीमांसा की गई है। उनकी जन्मभूमि का प्रश्न अब भी विवादास्पद ही है, परन्तु मुझे तो यह निश्चित रूप से प्रतीत हो रहा है कि वे बिहार-प्रान्त के ही निवासी थे। मिथिला की प्रसिद्धि उन्हें मिथिला-निवासी मण्डन मिश्र का बहनोई बतलाती है। आनन्दगिरि उन्हें उदक् देश (उत्तर देश) से आकर जैनों तथा बौद्धों के परास्त करने की बात कहते हैं, जिनसे उनका

उत्तरभारतीय होना तो नि:सन्देह सिद्ध होता है। उनकी शिक्षा मगध के प्रमुख विद्यापीठ नालन्दा में होती है। उनके पास धान के विशाल खेत होने का उल्लेख तिब्बती अनुश्रुतियों में स्पष्ट किया गया है। इन सब प्रमाणों का सामूहिक निष्कर्ष यही है कि वे मगध के ही निवासी थे जहाँ आज भी धान की विशेष खेती होती है। दरभंगा जिले का 'भटपुरा' गाँव आज भी मिथिला में कुमारिलभट्ट की जन्मभूमि के नाते प्रसिद्ध है। आज भी लोकप्रसिद्धि यही बतलाती हैं।

ग्रन्थ के अन्त में दो नवीन अनुक्रमणी जोड़ दी गई हैं। पहिली में अद्वैत-वेदान्त के ग्रन्थकारों का और दूसरी में अद्वैत वेदान्त के ग्रन्थों का निर्देश एकत्र कर दिया गया है। यह सूची पूर्ण होने का दावा नहीं करती, परन्तु विख्यात आचार्य तथा उनकी रचनाओं की सूचिका होने का गौरव उससे छीना भी नहीं जा सकता।

पौषी पूर्णिमा, सम्वत् २००६
३—१—५०
काशी

बलदेव उपाध्याय

विषय-सूची

१—प्रवेश खंड

२—चरित खंड

द्वादश परिच्छेद : दिग्विजय यात्रा १२५-१३६

त्रयोदश परिच्छेद : तिरोधान १३७-१४५

३—रचना खंड

चतुर्दश परिच्छेद : शङ्कराचार्य के ग्रन्थ १४६-१७२

पञ्चदश परिच्छेद : शिष्य-परिचय १७३-१६०

षोडश परिच्छेद : मठों का विवरण १६१-२५३

४—उपदेश खंड

सप्तदश परिच्छेद : अद्वैत वेदान्त का इतिहास २५७-२८६

अष्टादश परिच्छेद : अद्वैतवाद २८३-३२४

परिशिष्ट

प्रथम खण्ड

प्रवेश खण्ड

(१) विषय-प्रवेश
(२) चरित-सामग्री
(३) शंकर-पूर्वभारत
(४) आविर्भावकाल

प्रथम परिच्छेद

विषय-प्रवेश

ओमितिदिविषत्प्रवरा: शीर्षे कुर्वन्ति शासनं यस्य ।
ओंकारपद्मभृङ्गं तमहं प्रणमामि शङ्कराचार्यम् ।।

श्री परमहंस परिव्राजकाचार्य शङ्कराचार्य भारतवर्ष की एक दिव्य-विभूति हैं । उनकी प्रभा आज भी दिग्दिगन्त को आलोकित कर रही है । उनका आविर्भाव हुए एक सहस्र वर्ष से अधिक हुआ, फिर भी उनकी कीर्ति-कौमुदी उसी अक्षुण्ण रूप में आज भी भारत के नभोमंडल को उद्भासित कर रही है । वैदिक-धर्म के इतिहास में शंकर का आविर्भाव एक नवीन युग के अवतार का सूचक है । जिस समय यह पवित्र भारतवर्ष अवैदिकता के पंक में धँसा जा रहा था, जब अनाचार और कदाचार के काले-काले राक्षस इसे चारों ओर से घेरे हुए थे, जब एक छोर से दूसरे छोर तक यह सारा देश आलस्य और अकर्मण्यता के चंगुल में फँसा हुआ था, तब आचार्य शंकर का मंगलमय उदय इस देश में हुआ । धार्मिकता की जो ज्योति दम्भ की आँधी के सामने बुझने के किनारे आकर अंतिम घड़ियाँ गिन रही थी, उस ज्योति को इन्होंने बुझने से बचाया, जिससे देश भर में धर्म की स्निग्ध आभा फैल गयी । वैदिक धर्म का शंखनाद ऊँचे स्वर से सर्वत्र होने लगा । उपनिषदों की दिव्यवाणी देश भर में गूँजने लगी, गीता का ज्ञान अपने विशुद्ध रूप में जनता के सामने आया, लोगों को ज्ञान की गरिमा का परिचय मिला, धार्मिक आलस्य का युग बीता, धार्मिक उत्साह से देश का वायु-मंडल व्याप्त हो गया, धर्म के इतिहास में नवीन युग का आरम्भ हुआ । यह युगान्तर उपस्थित करने वाले धर्म-प्रतिष्ठापक श्री आचार्य शंकर किस भारतीय के वन्दनीय नहीं हैं ?

श्री शंकराचार्य का प्रामाणिक जीवनचरित लिखना हमारा उद्देश्य है । परन्तु इस चरित के लिखने में नाना प्रकार की कठिनाइयाँ मार्ग रोके खड़ी हैं । सबसे बड़ी

चरित लिखने में कठिनाई

कठिनाई समसामयिक ग्रन्थ का अभाव है । आचार्य के विषय में न तो कोई प्रामाणिक शिलालेख ही प्राप्त हुआ है न कोई ताम्र-पत्र ही, न कोई सच्चा चरितग्रन्थ ही, जिसमें शंकर का आँखों देखा वर्णन किया गया हो, जिससे कि उनके रहन-सहन, अध्ययन-अध्यापन, उपदेश तथा प्रचार की बातें ठीक तौर से हम जान सकें । 'शङ्करदिग्विजय' के नाम से

कतिपय ग्रन्थ अवश्य उपलब्ध हैं जिनमें आचार्य का जीवनवृत्त गद्य में वा पद्य में निबद्ध किया गया है, परन्तु ये सब शङ्कर के आविर्भाव के बहुत पीछे लिखे गये थे। कहा जाता है कि उनके साक्षात् शिष्य पद्मपादाचार्य ने अपने गुरु के दिग्विजय का वृत्तान्त लिपिबद्ध किया था। यदि यह ग्रन्थ कहीं उपलब्ध होता तो यह हमारे बड़े काम का होता। पद्मपाद आचार्य के केवल प्रथम शिष्य ही न थे, प्रत्युत उनके दिग्विजयों में सदा उनके सहचर भी थे। आदि से लेकर अन्त तक वे आचार्य के साथ में ही थे, वे उनके नितान्त अन्तरङ्ग थे। वे उनके उद्देश तथा प्रचार-कार्य से भली-भाँति परिचित थे। ऐसे व्यक्ति के द्वारा लिखा गया चरित अवश्य ही प्रामाणिक तथा उपादेय होता परन्तु हम उस कराल काल को क्या कहें जिसने इस मूल्यवान् ग्रन्थ को कवलित कर आचार्य के चरित को अन्धकारमय बनाने में विशेष योग दिया। अपरोक्ष सामग्री का अभाव चरित लिखने में बड़ा भारी बाधक होता है। इस बाधा को दूर करने के साधन-ग्रन्थ अवश्य विद्यमान हैं जिन्हें हम शङ्कर-दिग्विजय के नाम से अभिहित करते हैं, परतु इनमें से कोई भी ग्रन्थ आचार्य का समसामयिक नहीं है। ये अनेक शताब्दियों के अनन्तर निबद्ध हुए थे। इनके स्वरूप की समीक्षा हम आगे चल कर करेंगे। यहाँ इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि आजकल आचार्य के विषय में हमारी जो कुछ भी जानकारी है, वह इन्हीं ग्रन्थों पर अवलम्बित है।

आचार्य शङ्कर ने अपने धर्मोद्धारक कार्य को अक्षुण्ण बनाये रखने के लिए भारतवर्ष के चारों सुप्रसिद्ध धामों में अपने चार प्रधान पीठों की स्थापना की है।

मठाम्नाय

दक्षिण में मैसूर रियासत में शृंगेरीमठ है जिसे आचार्य के द्वारा स्थापित पीठों में प्रथम पीठ होने का गौरव प्राप्त है। अन्य धामों में स्थापित मठों के नाम ये हैं—गोवर्धनमठ (जगन्नाथ-पुरी), शारदामठ (द्वारिका), ज्योतिर्मठ (बदरिकाश्रम, जो आजकल 'जोशीमठ' नाम से प्रसिद्ध है)। मठों की स्थापना कर शङ्कराचार्य ने अपने पट्ट-शिष्यों को इनका अध्यक्ष बना दिया। ज्योतिर्मठ की आचार्य-परम्परा तो बीच में उच्छिन्न हो गयी थी पर अन्य तीनों मठों के अध्यक्षों की परम्परा आज भी अक्षुण्ण रूप से विद्यमान है। काञ्ची का कामकोटिपीठ अपने को आचार्य के द्वारा प्रतिष्ठापित होने की घोषणा करता है। इन मठों में शङ्कराचार्य का जीवन-चरित परम्परागत उपलब्ध होता है। जिसका अनुसरण विभिन्न दिग्विजयों में किया गया है, परन्तु यह कुछ कम आश्चर्य की बात नहीं है कि इन सब मठों में एक ही परम्परा अक्षुण्ण रूप से प्रचलित नहीं मिलती यदि मिलती, तो किसी प्रकार का सङ्कट ही नहीं होता। पार्थक्य यहाँ तक है कि आचार्य के माता-पिता, जन्मस्थान, तिरोधान

आदि महत्त्वपूर्ण विषयों में भी हम एकरूपता नहीं पाते। इसीलिए बाध्य होकर हमें कहना पड़ता है कि शङ्कर के विषय में भिन्न-भिन्न मठों में भिन्न-भिन्न परम्पराएँ प्रचलित थीं। दिग्विजयों में पार्थक्य का यही कारण है। आजकल माधवाचार्य के नाम से उपलब्ध शङ्करदिग्विजय शृंगेरीमठ की परम्परा का अनुसरण करता है, तो आनन्दगिरि-रचित दिग्विजय काञ्ची परम्परा का पक्षपाती प्रतीत होता है। कतिपय बातों में भिन्न होने पर भी ये दिग्विजय किन्हीं बातों में पर्याप्त समता रखते हैं, जिनका पता इन ग्रन्थों के तुलनात्मक अध्ययन से भलीभाँति लग सकता है। इस ग्रन्थ में मैंने उपलब्ध शङ्कर-दिग्विजयों का तुलनात्मक अध्ययन कर आचार्य-चरित के लिखने का यथाशक्ति प्रयत्न किया है।

इस विषय में एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न की ओर हम पाठकों का ध्यान आकृष्ट करना चाहते हैं। इन शङ्कर-दिग्विजयों में ऐसी अनेक घटनाएँ वर्णित हैं जो साधारणतया अलौकिक तथा अद्भुत कही जा सकती हैं।

अद्भुत घटनाएँ

उदाहरण के लिए एक-दो घटनाओं का उल्लेख करना पर्याप्त होगा। शङ्कर ने अपनी वृद्धा माता के लिए चूर्णी नदी के जलप्रवाह को बदल दिया, जिससे वह नदी उनके गाँव के पास ही आकर बहने लगी। कामशास्त्र के रहस्यों को जानने के लिए शङ्कर ने राजा अमरु के शव में प्रवेश किया। प्रश्न यह है कि ऐसी घटनाओं के सम्बन्ध में लेखक की कैसी धारणा होनी चाहिए? इसके उत्तर में दो पक्ष दो न्यारी-न्यारी बातें कहते हैं। एक पक्ष उन ऐतिहासिक आलोचकों का है जो ऐसी असम्भाव्य घटनाओं को निकाल कर बाहर कर देने का पक्षपाती है। उनका कहना है कि आचार्य का जो चरित-कीर्तन इन घटनाओं से विरहित होगा वही वास्तव मानवोचित जीवनवृत्त होगा। इन अविश्वसनीय घटनाओं के समावेश का यह विषम परिणाम होगा कि पूरे जीवन-चरित पर ही पाठकों की अनास्था हो जायगी—उस भाग को भी वे अनादर की दृष्टि से देखने लगेंगे जो यथार्थ कोटि के भीतर ही है। दूसरा पक्ष उन आलोचकों का है जो ग्रन्थों में आयी हुई सब प्रकार की घटनाओं के समावेश के पक्षपाती हैं। यह प्रश्न बड़ा व्यापक है। यह केवल आचार्य शङ्कर के जीवन-चरित से ही सम्बद्ध नहीं है प्रत्युत धार्मिक संसार की महनीय विभूतियों के जीवन-चरित के विषय में यही प्रश्न सदा जागरूक रहता है। कतिपय पाश्चात्य चरित-लेखक इन अद्भुत घटनाओं को एकदम निकाल देने के पक्ष में हैं। वे किसी भी धार्मिक नेता के चरित्र को काट-छाँट कर उसे जन-साधारण की जीवनी की सतह तक लाने के पक्षपाती हैं। वे किसी अलौकिक घटना का सन्निवेश कर अपने ग्रन्थ को इतिहास-विरुद्ध बनाना नहीं चाहते।

उधर भक्त लोगों का एक दल अलग है जो महात्माओं के चरित को ऊँचा

दिखलाने का पक्षपाती है। वे ऐसी घटनाओं का भी वर्णन किया करते हैं जो कभी सम्पन्न नहीं हुई, जिन्हें उनके चरित-नायक ने कभी नहीं किया।

अन्ध-श्रद्धा

समय के प्रवाह के साथ-साथ अनेक अद्भुत घटनाएँ धार्मिक नेता के जीवन से संश्लिष्ट होती चली आती हैं जिन्हें अन्धविश्वासी भक्तों की अतिशय भक्तिभावना कल्पित कर लेती है। ऐसी घटनाओं को निकाल बाहर करना प्रत्येक जीवन-चरित लेखक का पवित्र कर्तव्य है। परन्तु इन्हें यह कह कर हटा देना न्यायसंगत नहीं है कि ऐसी घटनाएँ कभी भौतिक जगत् में घटित नहीं हो सकतीं। शङ्कराचार्य के परकाय-प्रवेश की घटना को उनकी जीवनी से इस कारण निकाल देना कथमपि उचित नहीं है कि ऐसी घटना अप्राकृतिक है, अस्वाभाविक है, लोक में घटित होने वाली घटनाओं से नितान्त विलक्षण तथा विभिन्न है। ईसा मसीह के जीवन-चरित के लेखकों के सामने भी यही विषय-समस्या थी—बायबिल में उनके विषय में जो अद्भुत बातें वर्णित हैं, उन्हें ग्रहण करना या नहीं। हम उन लोगों की बात नहीं कहते जो ईसा के ऐतिहासिक व्यक्ति होने में ही सन्देह करते हैं। हम उन चरित-लेखकों की बात कहते हैं जो उनकी ऐतिहासिकता में विश्वास करते हैं और इतिहास की कसौटी पर उनके जीवन की घटनाओं को कसते हैं। उन लोगों ने इन अलौकिक घटनाओं का वर्णन करना ऐतिहासिक चरित की सीमा के भीतर माना है।

मूल कथा यह है कि अद्भुत घटना और अप्राकृतिक घटना एक ही वस्तु नहीं है। प्रकृति-विरुद्ध घटनाओं में हम विश्वास नहीं कर सकते। जो घटना प्रकृति के नियमों का तिरस्कार करती है वह हमारे विश्वास का भाजन नहीं बन सकती, परन्तु जिसे हम अद्भुत घटना कहने के अभ्यासी हैं, वह अप्राकृतिक घटना नहीं होती। दिन-प्रतिदिन होने वाली साधारण घटना से जहाँ कहीं थोड़ी भी भिन्नता दीख पड़ी, वहाँ हम 'अप्राकृतिक' कह कर चिल्ला उठते हैं, परन्तु बात कुछ दूसरी है। विज्ञान के सन्तत उद्योग और अनुशीलन से प्रकृति के जो नियम उद्घाटित हुए हैं या हो रहे हैं, वे तो साधारण अंशमात्र हैं। प्रकृति का साम्राज्य विशाल है। उसके नियमों की भी इयत्ता नहीं है। जिसे हम आज अप्राकृतिक कह कर तिरस्कार करते हैं, उसे ही कल विज्ञान प्रकृति के नियमों का वशीभूत बतलाता है। आज की अलौकिक घटना कल ही लोकानुगत बन जाती है। जिसका स्वप्न में भी ख्याल नहीं करते हमें वही घटना नये अनुशीलन, अध्ययन, खोज तथा नेत्रों की सहायता से आज साधारण अभ्यस्त बन जाती है। ऐसी विषम दशाओं में आधुनिक विज्ञान के द्वारा अभी तक अमान्य घटनाओं को अप्राकृतिक कह कर हम उनका अनादर नहीं कर सकते, क्योंकि इस नानारूपात्मक जगत् के जिन नियमों

अद्भुत घटना की समीक्षा

की अभिव्यक्ति अभी तक हो पाई है वह तो समुद्र में एक बूँद के समान है। उदाहरण के लिये हम मनुष्य के सद्य: पत्थर बन जाने को अप्राकृतिक कहते हैं। अहिल्या के पत्थर होने में हमारा इसी कारण विश्वास नहीं है। परन्तु हम लन्दन की प्रधान सड़क पर कुछ वर्ष पूर्व होने वाली उस घटना को भूल नहीं सकते, जिसमें अपने घर से कोट पैन्ट पहन कर आफिस में जाने वाला भला-चंगा अंग्रेज सड़क पर गिरा और गिरते ही प्रस्तरमय हो गया!! हम साधारणतः नींद लेने को जीवन के लिये आवश्यक समझते हैं, परन्तु ऐसे व्यक्ति विद्यमान हैं, जिन्हें न तो किसी ने भोजन करते देखा और न किसी ने सदा पास रहने पर भी पलक गिराते देखा। प्रकृति के विशाल नियमों के अज्ञान के कारण ही हम उन्हें अद्भुत, विचित्र और विश्वास के अयोग्य समझते हैं।

मैं अपने सिद्धान्त की पुष्टि में एक अंग्रेज विद्वान् के द्वारा अनुभूत अथ च विचित्र तथा साधारण रीति से अविश्वसनीय घटनाओं का उल्लेख करना यहाँ आवश्यक समझता हूँ। इन सज्जन का नाम बी० डी० अवरने है जो कलकत्ता के विक्टोरिया मेमोरियल के अध्यक्ष हैं। तिब्बत जाकर इन्होंने इन घटनाओं का स्वयं अनुभव किया। इनका वर्णन इन्होंने पटना की एक विद्वत्सभा के सामने किया था, जिसके अध्यक्ष स्वयं स्थानीय गवर्नर[1] थे। पाश्चात्य विज्ञान इन घटनाओं से अपरिचित है, उसे इसका अनुसन्धान करना आवश्यक है। उनके अनुभव की कुछ बातें ये हैं :—

तिब्बत के कुछ चमत्कार

(१) बड़े-बड़े भारी पत्थरों को, जिनका बिना यंत्र की सहायता से उठाना मुश्किल है, तिब्बत के लोग सहज में उठा लेते हैं। एक बीस सेर का पत्थर पड़ा हुआ था, एक लामा ने अपने कटोरी से कुछ गाढ़ा तेल उस पर ताम्बे की तार की बनी हुई एक कूची से छिड़का। पाँच मिनट बाद जब अंग्रेजी सज्जन ने उठाया तब उसका वजन एक सेर के लगभग रह गया। उन्हें आश्चर्य चकित देख कर लामा ने कहा कि दो घन्टे के बाद फिर उस पत्थर का वजन उतना ही हो जायगा। कारण पूछने पर उसने बतलाया कि कुछ काल के लिए इसमें पृथ्वी को सुला दिया गया था, अर्थात् पृथ्वी के गुरुत्वाकर्षण को निश्चेष्ट बना दिया गया था। जिस प्रकार गुरुत्वाकर्षण विज्ञान-सिद्ध है उसी प्रकार उसका कुछ काल के लिए नियंत्रण भी सत्य है। वह भी किसी मंत्र-शक्ति के बल पर नहीं किया गया था। यह तो कुछ द्रव्यों का रासायनिक प्रभावमात्र था। परन्तु हम साधारणतया गुरुत्वाकर्षण

---

[1] पूरे विवरण के लिए द्रष्टव्य—'बिहार-उड़ीसा रिसर्च सोसाइटी जर्नल', १९४०, में प्रकाशित लेख।

के सिद्धान्त को इतना अकाट्य मानते हैं कि इसके विरुद्ध होने वाली प्रत्येक घटना को अप्राकृतिक कहने से कभी संकोच नहीं करते।

(२) एक विचित्र लतानिर्मित सेतु की रचना वहाँ देखी गई। किसी वृक्ष की जड़ का गेंद के बराबर एक गोल कुछ रासायनिक पदार्थों में २४ घंटे तक भिगो दिया गया था। फिर वह गोला एक नाले के किनारे, जिसका पाट लगभग ३० फीट का था, गाड़ दिया गया। दो दिनों के भीतर ही उसमें से अंकुर फूट निकले—लम्बी-लम्बी लताएँ बढ़ने लगीं जो पहले रक्खी हुई रस्सियों के सहारे इस पार से उस पार तक फैल गईं, और खूब मोटी हो गईं। एक सप्ताह के भीतर ४ फीट चौड़ा झूले का एक मजबूत पुल तैयार हो गया। यह भी मालूम हुआ कि थोड़े दिनों में ये लतायें रस्सियों को खाकर केवल अपने ही सहारे स्थित रहती हैं, और तब तक नष्ट नहीं होतीं जब तक उनकी मूल सुरक्षित रहती है। यदि पुल को शीघ्र नष्ट करना हो, तो एक तार को एकोनाइट में भिगो कर जड़ में कोंच देने के १० मिनिट में ही सारी लताएँ सूख कर गिर पड़ेंगी। यह लता तिब्बत में 'साबा' कहलाती है।

वाल्मीकि रामायण में जिन लता-सेतुओं का वर्णन है, वे भी इसी प्रकार के होगें। रामायण में लिखा है कि सीता की खोज में गये हुये बन्दरों ने लता के बने सेतुओं से नदियों को पार किया। अब तक इस पर विश्वास जमाना कठिन था। पर तिब्बत के इस वर्णन से रामायण के वर्णन की विशद व्याख्या हो जाती है।

(३) एक स्थान पर गन्धक के चश्मों का वर्णन है। वहाँ बड़ी गहराई में एक झील थी, जहाँ लम्बी-लम्बी अँधेरी गुफाओं से होकर जाना था। इन गुफाओं के बीच १०० फ़ुट के हाल थे, जिनकी छतें काफ़ी ऊँची थीं पर प्रकाश का कहीं नाम न था। गुफा में घुसते ही उनके साथी ने ८ इंच की गोल एक घड़ियाल उठाई जिसके साथ लकड़ी की एक मुँगरी बँधी थी। घड़ियाल ताँबे की थी और चमक रही थी। उसके चारों ओर चाँदी के तार की एक बड़ी सुन्दर झालर लगी हुई थी। घड़ियाल को मुँगरी से मारते ही शब्द के साथ ही ६ स्थानों पर हल्के हरे रंग की रोशनी हो गई। मिनिट भर तक वह धीमी रही पर एक स्थान से ५०० मोमबत्तियों के बराबर प्रकाश हो गया। दीवाल में खूंटियों के सहारे यह प्रकाश हो रहा था। प्रकाश के धीमा होने पर उस घड़ियाल पर फिर आवाज़ किया जाता था। अन्ततः जब वे झील के पास पहुँचे तब घड़ियाल पर दो बार आवाज़ की गई तथा शब्द के साथ ही पचास स्थानों पर प्रकाश जगमगा उठा। देखने से पता लगा कि यह प्रकाश चार इंच के एक चमकीले पत्थर के टुकड़े से हो रहा था जो ताँबे-सो किसी भूरी रङ्ग की धातु की आध इंच मोटी और एक फुट गोल थाली में जड़ा हुआ था। यह ताँबे के

तार से लकड़ी के खम्भे पर टँगा हुआ था। पता चला कि घड़ियाल का शब्द थाली में प्रवेश करता है, जिससे वायु में स्पन्दन-शक्ति उत्पन्न होती है, और उससे चमकीले पत्थर में प्रकाश होता है।

शब्द से प्रकाश होने की बात इतनी विलक्षण है कि सहसा कोई इस पर विश्वास नहीं कर सकता। लेकिन घटना है बिलकुल सत्य। विज्ञान के उपासक एक पाश्चात्य विज्ञान के द्वारा अनुभूत होने से हम उसकी सचाई में सन्देह नहीं कर सकते। ये घटनायें वर्तमान विज्ञान के द्वारा भले न सिद्ध हों, किन्तु इन्हें 'अप्राकृतिक' कह कर हम टाल नहीं सकते। आचार्य के जीवन की घटनाएँ इसी कोटि की हैं।

शंकराचार्य एक महान् पुरुष थे। वे साधारण प्राणियों की कक्षा से बहुत ऊपर उठे हुये थे। ३२ साल के छोटे जीवन में उन्होंने ऐसे कार्य कर दिखलाये जो उनसे चौगुनी उम्र वाला भी व्यक्ति सम्पन्न नहीं कर सकता। वे अलौकिक शक्तियों से सम्पन्न अवश्य थे। उनकी महापुरुषता की अभिव्यक्ति इन्हीं घटनाओं में है। यदि इतिहास की भ्रान्त धारणा के अनुसार इन्हें काट-छाँट कर साधारण 'जायस्व म्रियस्व' की कोटि में ला दिया जाय तो क्या उनके साथ घोर अन्याय न होगा? इतिहास की सच्ची भावना हमसे यही चाहती है कि हम उन घटनाओं में विश्वास रक्खें तथा जीवन-वृत्त में अवश्य उल्लेखित करें, जिनकी सचाई के विषय में आधार-ग्रंथों का प्रबल प्रमाण उपस्थित हो। महापुरुषों की महनीयता इसी विषय में हैं। यदि वे भी पृथक्-जन जैसे उत्पन्न हों, किसी प्रकार अपना पेट पालें और इस संसार से अन्त में बिदाई ले लें तो चरित में महत्त्व ही क्या रहा? इसी दृष्टि को सामने रख कर मैंने शंकराचार्य के जीवन की उन घटनाओं को प्रामाणिक मान कर निविष्ट किया है, जिनके विषय में सब दिग्विजयों का प्रमाण एक-रूप से मिलता है। ऐसा न करना ऐतिहासिक पद्धति का निराकरण होता। ऐतिहासिक दृष्टि से यही मार्ग अनुकरणीय है, समस्त विचारशील विद्वानों का इस विषय में ऐकमत्य है।

शंकर का महान् व्यक्तित्व

द्वितीय परिच्छेद

चरित-सामग्री

किसी महापुरुष के प्रति जनता का आकर्षण साधारण-सी घटना है। किसी व्यक्ति की प्रसिद्धि होते ही जनसाधारण उसकी जीवन-घटनाओं से परिचय पाने का इच्छुक बन जाता है। इस इच्छा की पूर्ति समय-समय पर चरित-ग्रंथों के द्वारा होती रहती है। ऐसे चरित-ग्रंथों में सबसे उपादेय तथा प्रामाणिक वे ग्रंथ होते हैं, जिनकी रचना चरित-नायक के संगी-साथी अथवा शिष्यों के द्वारा की जाती है। समसामयिक ग्रंथ का मूल्य बहुत ही अधिक है। वे प्रामाणिक ही नहीं होते, प्रत्युत उनके वर्णनों में सरलता तथा अकृत्रिमता का पुट बड़ा ही रोचक हुआ करता है।

दुःख के साथ लिखना पड़ता है कि शङ्कराचार्य जैसे महान् पुरुष के जीवन-चरित के विषय में समसामयिक ग्रंथों का एकदम अभाव है। आचार्य के जीवन-चरित निबद्ध करने की ओर विद्वानों की दृष्टि बहुत पहले ही आकृष्ट हुई। सुनते हैं कि पद्मपाद—शंकर के साक्षात् पट्टशिष्य—ने आचार्य के दिग्विजय का वर्णन बड़े विस्तार के साथ अपने '**विजयडिण्डिम**' नामक ग्रन्थ में किया था परन्तु दैवदुर्विपाक से वह ग्रन्थ सदा के लिये नष्ट हो गया। आजकल आचार्य के अनेक चरित-ग्रन्थ उपलब्ध होते हैं, जिन्हें 'शंकरदिग्विजय' के नाम से पुकारते हैं। इस नामकरण का रहस्य यही है कि इनमें शङ्कर के दिग्विजय करने का विशेष वर्णन रहता है। इसी विशिष्टता के कारण इनका यह नामकरण हुआ था, परन्तु कोई 'दिग्विजय' समसामयिक नहीं है। सब ग्रंथ अवान्तर शताब्दियों की रचनाय हैं जिनमें शङ्कराचार्य के विषय में सुनी-सुनाई बातों का उल्लेख बहुत अधिक है।

पद्मपाद का ग्रन्थ

आचार्य की जीवनी के विषय में कुछ बातें तथा घटनाएँ प्राचीन काल से परम्परागत चली आती हैं, जिनका वर्णन प्रायः इन सभी ग्रंथों में है। भिन्न-भिन्न पीठों की अपनी महत्ता प्रदर्शित करने की लालसा भी अनेक दिग्विजयों की रचना के लिए उत्तरदायी है। शृंगेरी मठ तथा कामकोटि मठ का संघर्ष नया नहीं प्रतीत होता। किन्हीं ग्रंथों में शृंगेरी की प्रधानता स्वीकृत है, तो किन्हीं में कामकोटि की। माधवकृत 'शंकर-दिग्विजय' तथा लक्ष्मणाचार्य विरचित 'गुरुवंश-

शङ्कर दिग्विजय का स्वरूप

काव्य' में श्रृंगेरी मठानुसारिणी परम्परा का पालन है, वो अनन्तानन्द गिरि-रचित 'शङ्करविजय' में कामकोटि मठ की परम्परा का सम्यक् अनुसरण है। ऐसी परिस्थिति में चरित-लेखक अपने आप को बड़े संकट में पाता है। वह दोनों का समन्वय कर ही चरित लिखने में समर्थ हो सकता है। इसी नियम का पालन प्रस्तुत लेखक ने भी किया है। शङ्कराचार्य के जीवन-वृत्त के परिचायक जितने ग्रन्थ उपलब्ध हो सके हैं, उनका तुलनात्मक अध्ययन कर ही यह ग्रंथ प्रस्तुत किया गया है। पूर्वोक्त दो परम्पराओं में माधव के दिग्विजय में निर्दिष्ट परम्परा-विशेष प्रसिद्ध, विद्वज्जनमान्य तथा व्यापक है। अतः उसी का अनुकरण मूल-ग्रंथ में है। पाद-टिप्पणियों में दूसरी परम्पराओं की विशिष्ट बातें स्थान-स्थान पर दे दी गई हैं।

डाक्टर औफ्रेक्ट की बृहत् हस्तलिखित ग्रंथसूची (कैतेलोगोरुस कैते-लोगारुम्) शङ्करविजयों तथा अन्य सूची देखने से 'शंकरविजय' या 'शङ्करदिग्विजय' की सूची के नाम से निर्दिष्ट ग्रंथ निम्नलिखित हैं :—

ग्रंथ	लेखक
(१) शङ्कर दिग्विजय	माधवाचार्य
(२) शङ्करविजय	आनन्दगिरि
(३) ,,	चिद्विलास यति
(४) ,,	व्यासगिरि
(५) शङ्कर विजयसार	सदानन्द व्यास
(६) आचार्य चरित	गोविन्दानन्द यति
(७) शङ्कराभ्युदय	राजचूडामणिदीक्षित
(८) शंकरविजयविलासकाव्य	शङ्करदेशिकेन्द्र
(९) शङ्करविजयकथा	
(१०) शङ्कराचार्यचरित	
(११) शङ्कराचार्यावतारकथा	आनन्दतीर्थ
(१२) शङ्करविलास चम्पू	जगन्नाथ
(१३) शङ्कराभ्युदयकाव्य	रामकृष्ण
(१४) शङ्करदिग्विजयसार	ब्रजराज
(१५) प्राचीन शङ्करविजय	मूकशङ्कर
(१६) बृहत् शङ्करविजय	सर्वज्ञ चित्सुख
(१७) शङ्कराचार्योत्पत्ति	

(१९) शङ्कराचार्यचरित — गोविन्दनाथ[1]
(२०) शङ्करविलास — विद्यारण्य[2]
(२१) आचार्यदिग्विजय — वल्लीसहाय कवि[3]
(२२) शङ्करानन्द चम्पू — गुरु स्वयंभूनाथ[4]

उपर्युक्त सूची के अनेक ग्रंथ अभी तक हस्तलिखित रूप में ही उपलब्ध होते हैं, कतिपय ग्रंथ छप कर प्रकाशित भी हुए हैं। इन ग्रंथों के अनुशीलन करने पर भी इनके रचना-काल का ठीक-ठीक पता नहीं चलता, जिससे इनके पौर्वापर्य का निर्णय भलीभाँति किया जा सके। इसी से इदमित्थं रूप से इन दिग्विजयों के विषय में कुछ नहीं कहा जा सकता। हम जिस परिणाम पर पहुँचे हैं उनका उल्लेख कर देना ही पर्याप्त होगा।

(१) आनन्दज्ञान (आनन्दगिरि)—बृहत् शङ्करविजय—हमारी दृष्टि में यही 'शङ्करविजय' सब विजयों में सबसे अधिक प्राचीन है। इस ग्रंथ के

आनन्द-ज्ञान शङ्करविजय

अस्तित्व का पता हमें माधवकृत शङ्करदिग्विजय के टीकाकर्त्ता धनपति सूरि के इस कथन से लगता है—एतत् कथाजालं 'बृहच्छंकरविजय' एव श्रीमदानन्द ज्ञानाख्यानन्दगिरिणा रचिते द्रष्टव्यमिति दिक्[5]। अर्थात् ये कथासमूह आनंदज्ञान आनन्दगिरि रचित 'बृहत् शङ्करविजय' में उपलब्ध होते हैं। धनपति सूरि ने अपनी टीका में लगभग १३५० श्लोकों को दिग्विजय के वर्णन के समय किसी ग्रंथ से उद्धृत किया है जिसका नाम उन्होंने कहीं भी निर्दिष्ट नहीं किया। इसमें १५ सर्ग २ श्लोक की व्याख्या में ५८१ श्लोक, चौथे श्लोक की व्याख्या में ४०२ श्लोक तथा २८वें श्लोक की व्याख्या में ३५१ श्लोक उद्धृत किये गये हैं। हमारा दृढ़ अनुमान है कि ये श्लोक आनन्दज्ञान के 'बृहत्-शंकरविजय' से ही हैं जिसका उल्लेख १६वें सर्ग के १०३ श्लोक की टीका में उन्होंने किया है। 'आनन्दज्ञान' का ही प्रसिद्ध नाम आनन्दगिरि है, जिन्होंने शंकराचार्य के भाष्यों के ऊपर बड़ी ही सुबोध तथा लोकप्रिय टीकायें रची हैं। शारीरक भाष्य की टीका 'तात्पर्य-निर्णय' इनकी ही

---

[1] कैटलाग आफ़ संस्कृत मैन्युस्क्रप्ट्स इन दि इण्डिया आफ़िस लायब्रेरी, जिल्द २, भाग २, संख्या ५९६४

[2] वही, सं० ६९५७

[3] गवर्नमेंट ओरियंटल लायब्रेरी, मद्रास, सं० २०८७२

[4] वही, संख्या २०८७५

[5] माधव—शङ्करदिग्विजय, १६।१०३ की टीका (आनन्दाश्रम संस्कृत सीरीज, पृ० ६०१)।

अनमोल कृति है। इन्होंने शङ्कराचार्य की गद्दी सुशोभित की थी। ये किसी मठ के अध्यक्ष थे। कामकोटि पीठ वाले इन्हें अपने मठ का अध्यक्ष बतलाते हैं, द्वारिका-पीठ वाले अपने मठ का। जो कुछ भी हो, इनका समय निश्चितप्राय है कि विक्रम की १२वीं शताब्दी में ये अवश्य विद्यमान थे। यह ग्रन्थ आजकल कहीं भी उपलब्ध नहीं होता। कालक्रम के अनुसार यह ग्रन्थ सबसे प्राचीन तथा प्रामाणिक प्रतीत होता है।

आनन्दगिरि शङ्करविजय

(२) आनन्द गिरि—शंकर विजय - इस ग्रंथ को जीवानन्द विद्यासागर ने कलकत्ते से १८८१ ई० में प्रकाशित किया, जिसमें ग्रंथकर्त्ता का नाम 'आनन्दगिरि' मान लिया गया है, परन्तु ग्रन्थ की पुष्पिका में सर्वत्र ग्रंथकार का नाम 'अनन्तानन्द गिरि' दिया गया है। इसमें ७४ प्रकरण हैं। आचार्य का कामकोटि पीठ से विशेष सम्बन्ध दिखलाया गया है। अतः अनेक विद्वानों की सम्मति है कि शृंगेरी पीठ की बढ़ती हुई प्रतिष्ठा देखकर कामकोटि के अनुयायी किसी संन्यासी ने इस ग्रंथ का निर्माण अपने पीठ के गौरव तथा महत्त्व को प्रदर्शित करने के लिए किया। अतः प्रसिद्ध आनन्दगिरि को इसका कर्त्ता मानना नितान्त भ्रमपूर्ण है। यह ग्रन्थ आचार्य के जीवनवृत्त के सांगोपांग वर्णन करने के लिए उतना उपादेय नहीं है जितना विभिन्न धार्मिक सम्प्रदायों के सिद्धान्तों के विवरण प्रस्तुत करने में महत्त्वशाली है। इसके अनुशीलन से भारतीय विभिन्न धार्मिक विचारधाराओं के रहस्य और पारस्परिक पार्थक्य का परिचय भलीभाँति हो सकता है। आनन्दज्ञान के 'बृहत् शंकरविजय' का आशय लेकर यह ग्रन्थ प्रस्तुत किया गया है। धनपति सूरि के द्वारा उद्धृत श्लोकों से इस ग्रंथ के वर्णन की तुलना से स्पष्ट है कि जो कुछ वहाँ संक्षिप्त रूप है, वही यहाँ बड़े विस्तार के साथ दिया गया है। आनन्दज्ञान ने प्रमाण के तौर पर जिन वैदिक मन्त्रों को उद्धृत-मात्र किया है, उनका विस्तृत व्याख्यान तथा विशेष प्रपञ्चन इस ग्रन्थ में उपलब्ध है। ग्रन्थकार का भौगोलिक ज्ञान बहुत ही साधारण है, अन्यथा केदारनाथ के दर्शनानन्तर बदरीनारायण जाने के लिए कुरुक्षेत्र के मार्ग का उल्लेख नहीं होता। ग्रन्थ के अन्तिम प्रकरण में अनन्तानन्दगिरि ने आचार्य शंकर के द्वारा वैष्णवमत तथा कापालिकमत, सौरमत तथा गाणपत्यमत के स्थापन की बात लिखी है!!!

(३) चिद्विलास यति—शङ्करविजय-विलास—यह ग्रन्थ गुरु-शिष्य के संवादरूप में लिखा गया है। गुरु का नाम है—चिद्विलास यति और शिष्य का विज्ञानकन्द। शिष्य ने गुरु से शंकराचार्य के जीवनवृत्त के विषय में जिज्ञासा की। उसी की निवृत्ति के लिए इस ग्रन्थ का प्रणयन हुआ। अनन्तानन्द गिरि

ने अपने शंकरविजय में चिद्विलास तथा विज्ञानकन्द को आचार्य का साक्षात् शिष्य बतलाया है। इस ग्रन्थ तथा पूर्ण ग्रन्थ में अनेक बातों में साम्य है—घटनाओं में तथा भौगोलिक स्थानों के नाम में भी।

चिद्विलासयति : शंकरविजय विलास

इस ग्रन्थ में ३२ अध्याय हैं। इसके आरम्भ में नारद जी के भूमण्डल की दशा देखते-देखते केरल गमन का तथा धार्मिक दुरवस्था का विशेष वर्णन है। यह तैलङ्गाक्षरों में मद्रास से बहुत पहले ही प्रकाशित हुआ है। अब नागरी में काशी से प्रकाशित हो रहा है।

(४) राजचूडामणि दीक्षित—शङ्कराभ्युदय—दीक्षित जी दक्षिण भारत के प्रसिद्ध कवियों में अन्यतम थे। इनके पिता का नाम था रत्नखेट श्रीनिवास तथा माता का कामाक्षी। वह तञ्जोर के राजा 'रघुनाथ' के आश्रय में रहते थे, जिनकी प्रशंसा उन्होंने 'रघुनाथभूपविजय' काव्य में की है। ये दार्शनिक भी थे तथा साहित्यिक भी।

शंकराभ्युदय

जैमिनि सूत्रों की 'तन्त्र शिखामणि' नामक व्याख्या की रचना १६३६ ई० में हुई 'रुक्मिणी कल्याण' काव्य में रुक्मिणी के विवाह की कथा विस्तार के साथ लिखी गई है। इन्हीं का लिखा हुआ 'शंकराम्युदय' नामक काव्य भी है जिसके आदि के ६ सर्ग प्रकाशित हुए हैं।

(५) माधव—शङ्करदिग्विजय—आचार्य शंकर के विषय में यही ग्रन्थ सबसे अधिक लोकप्रिय और प्रसिद्ध है। हमारा आचार्य-विषयक विशेष ज्ञान इस ग्रन्थरत्न के ऊपर अवलम्बित है। ग्रन्थकार दर्शन के विशिष्ट विद्वान् प्रतीत होते हैं, क्योंकि इस ग्रथ पर उनकी विद्वत्ता की गहरी छाप पड़ी हुई है। मंडन मिश्र तथा भट्टभास्कर के साथ शंकराचार्य के शास्त्रार्थ के जो प्रसङ्ग नवम तथा पञ्चदश सर्ग में क्रमश: वर्णित हैं, वे माधव के दर्शनज्ञान के उत्कृष्ट उदाहरण हैं।[1]

माधव—शंकरविजय

प्रश्न यह है कि इसके रचयिता 'माधव' कौन हैं? परम्परा से विद्यारण्य स्वामी जिनके गृहस्थाश्रम का प्रसिद्ध नाम माधवाचार्य था, इसके कर्त्ता माने जाते हैं। परन्तु विशेष अनुशीलन करने पर यह मत उचित नहीं प्रतीत होता। इस निर्णय पर पहुँचने के अनेक कारण हैं :—

(क) विद्यारण्य स्वामी शृंगेरीमठ के अध्यक्ष थे, अत: उनके ग्रन्थ में उसी मठ की परम्परा तथा मान्यता का उल्लेख होना न्यायसंगत प्रतीत होता है, परन्तु

---

[1] इस शङ्करविजय का टिप्पणी तथा ऐतिहासिक भूमिका के साथ लेखक ने अनुवाद किया है जिसका प्रकाशन श्रवण नाथ ज्ञानमन्दिर (हरिद्वार) से हुआ है, सं० २०००।

बात ऐसी नहीं है। शृंगेरीमठ ने 'गुरुवंश-महाकाव्य' अपनी ओर से प्रकाशित किया है। इस काव्य में वर्णित शंकराचार्य का वृत्त माधव-वर्णित चरित से मूलतः पृथक् है।

(ख) शंकरदिग्विजय का रचयिता अपने आप को 'नवकालिदास' कहता है—

वागेषा नवकालिदासविदुषो दोषोज्झिता दुष्कवि-
व्रातैर्निष्करुणैः क्रियेत विकृता धेनुस्तुरुष्कैरिव। १।१०

माधवाचार्य के ग्रन्थ में इस उपाधि का कहीं भी उल्लेख नहीं है। अतः स्पष्टतः यह काव्य 'नवकालिदास' उपाधिधारी किसी माधव भट्ट की रचना होगी।

(ग) माधव (विद्यारण्य) के ग्रन्थों की सूची में इस ग्रन्थ का उल्लेख नहीं मिलता।

(घ) इस ग्रन्थ के पचीस श्लोक (सर्ग १२।१-२४ श्लोक) राजचूड़ामणि दीक्षित के शंकराभ्युदय (सर्ग ४, श्लोक २-६, ७।१४-२३) से ज्यों के त्यों उद्धृत किये गये हैं। अतः इसकी रचना १७ वीं शताब्दी के अनन्तर होनी चाहिए। माधव विद्यारण्य का समय १४ वीं शताब्दी है।

(ङ) माधव विद्यारण्य की प्रसन्न शैली से इस काव्य की शैली भिन्न पड़ती है। पदमैत्री उतनी अच्छी नहीं है। जान पड़ता है, कोई काव्यकला का अनभ्यासी व्यक्ति पद्य लिख रहा हो।

(च) इस काव्य में अनेक इतिहास-विरुद्ध बातें दीख पड़ती हैं जिनका उल्लेख विद्यारण्य जैसा माननीय आचार्य कभी नहीं करता। शैवसम्प्रदाय के आचार्य अभिनवगुप्ताचार्य का शास्त्रार्थ शंकर के साथ दिखलाना इतिहास तथा कालगणना दोनों के विरुद्ध है। अभिनव गुप्त[1] काश्मीर के निवासी थे, कामरूप के नहीं। वे शंकर से तीन सौ वर्ष बाद अवतीर्ण हुए थे। उसी प्रकार शंकर का शास्त्रार्थ बाण, दण्डी, मयूर,[2] खण्डनकार[3] (खण्डनखण्डखाद्य के रचयिता कविवर श्रीहर्ष), भट्ट भास्कर[4], उदयनाचार्य[3] (१० शतक) के साथ इस ग्रन्थ में

---

[1] तदनन्तरमेष कामरूपानधिगत्याभिनवोपशब्दगुप्तम्।
अजयत् किल शाक्तभाष्यकारं स च भग्नो मनसेदमालुलोचे ॥—१५।१५८

[2] स कथाभिरवन्तीषु प्रसिद्धान् विबुधान् बाणमयूरदण्डिमुख्यान्।
शिथिलीकृतदुर्मताभिमानान् निजभाष्यश्रवणोत्सुकांश्चकार ॥
—शं० दि० १५।१४१

[3] पटुयुक्ति-निकृत्त-सर्वशास्त्रं गुरुभट्टोदयनादिकैरजय्यम्।
स हि खण्डनकारमूढदर्पं बहुधा व्युह्य वशंवदं चकार ॥— शं०दि० १५।१५७

[4] द्रष्टव्य शं० दि० १५।९०—१४० तक भट्टभास्कर के साथ शास्त्रार्थ।

दिखलाया गया है। इनमें प्रथम तीन ग्रन्थकार शंकर से प्राचीन हैं तथा अन्तिम तीन आचार्य शंकर से पश्चात्वर्ती हैं। इन छहों की समसामयिकता प्रदर्शित करना नितान्त अनुपयुक्त है।

इन्हीं कारणों से बाध्य होकर हमें कहना पड़ता है कि माधव-विद्यारण्य इसके कर्त्ता नहीं हैं। 'नवकालिदास' की उपाधि वाले, 'भारतचम्पू' के रचयिता माधव भट्ट के नाम से प्रख्यात हैं। वे ही इस दिग्विजय के भी रचयिता हैं। ये दक्षिण के निवासी थे और राजचूडामणि दीक्षित (१६ शतक) से भी अर्वाचीन हैं। 'भारतचम्पू' तथा इस विजय की काव्यशैली में नितान्त साम्य है।

इस काव्य के ऊपर दो टीकायें उपलब्ध होती हैं—

टीकायें

(क) वेदान्त डिण्डिम—इसकी रचना काशी में सारस्वत पण्डित रामकुमार के पुत्र धनपति सूरि ने १८५५ विक्रमी में की। (ख) अद्वैतराज्यलक्ष्मी—इसके लेखक, अनेक ग्रन्थों के निर्माता अच्युतराय मोडक[1]।

सदानन्द—शङ्करदिग्विजय सार

(६) सदानन्द व्यास–शङ्करदिग्विजयसार–सदानन्द पंजाब के रावलपिंडी के पास रहनेवाले थे। बालकपन में ही अशेष विद्याओं में प्रौढ़ता प्राप्त कर वे पौराणिक वृत्ति से अपनी जीविका चलाते थे। वे नानकपन्थी साधु बाबा रामदयाल जी के साथ काशी आये और रामघाट के पास 'बालूजीका फर्श' नामक मुहल्ले में पुराणों की कथा कहा करते थे। किसी धनाढ्य व्यक्ति ने साधुजी को बड़ी सम्पत्ति दी। साधुजी थे विरक्त। उन्होंने उसमें से एक कौड़ी भी नहीं छुई और सम्पूर्ण धन व्यासजी को ही दे डाला। इसी रुपये से व्यासजी ने एक शिव-मन्दिर मणिकर्णिका घाट पर बनवाया जो आज भी इनकी विमल-कीर्ति की कहानी सुनाता हुआ खड़ा है। पण्डित रामकुमारजी नामक सारस्वत ब्राह्मण के पुत्र धनपति सूरि को इन्होंने विद्या ही का दान नहीं दिया, प्रत्युत अपनी गुणवती कन्या का भी विवाह उन्हीं के साथ कर दिया। ये धनपति सूरि वे ही हैं जिन्होंने माधवकृत शङ्करदिग्विजय की 'डिण्डिम' नामक टीका का प्रणयन किया है। सदानन्द व्यास ने ग्रन्थों के निर्माण-काल का भी उल्लेख किया है। शङ्करदिग्विजयसार का प्रणयन[2] १८३६ विक्रमी (= १७८० ई०) में तथा 'गीताभाव प्रकाश'

---

[1] पहली व्याख्या का समग्र भाग तथा दूसरे का सारांश मूलग्रन्थ के साथ आनन्दाश्रम ग्रन्थावलि में प्रकाशित हुआ है।

[2] रसगुणवसुचन्द्रे विक्रमादित्यराज्यात् समफलवति वर्षे चाश्विने मासि शुद्धे। श्रवणयुतदशम्यां भौमवारेऽभिलग्ने प्रथित इति निबन्धः सिद्ध ईशप्रसादात्॥

का निर्माण[1] १८३७ विक्रमी (= १७८१ ई०) में किया गया। मणिकर्णिका-घाट पर शिव मन्दिर का निर्माण १८५३ विक्रमी में इन्होंने किया। अतः लगभग डेढ़-सौ वर्ष हुए इसी काशीपुरी में इनका निवास था।

इनके ग्रन्थों की संख्या अधिक है। इनके ग्रन्थों में कतिपय प्रकाशित हुए हैं और कतिपय अभी तक हस्तलिखित रूप में ही उपलब्ध हैं :—(१) अद्वैत-सिद्धि-सिद्धान्त सार सटीक, (२) गीताभावप्रकाश (भगवद्-गीता की पद्यमयी टीका), (३) प्रत्यक्तत्वचिन्तामणि सटीक (छन्दोबद्ध वेदान्त का सिद्धान्तप्रतिपादक ग्रन्थ), (४) स्वरूप-निर्णय, (५) महाभारत-तात्पर्यप्रकाश, (६) रामायण-तात्पर्यप्रकाश, (७) महाभारत-सारोद्धार सटीक (८) दशोपनिषत्सार, (९) शङ्करदिग्विजयसार—यह ग्रन्थ माधव के दिग्विजय ग्रन्थ का सारांश है। कहीं-कहीं तो माधव के श्लोक ज्यों के त्यों रख लिए गये हैं। उदाहरणार्थ, पद्मपाद का आध्यात्मिक गायन (८।२१-३१) माधव के ग्रन्थ से ही अक्षरशः गृहीत हुआ है। इसे पढ़ कर माधव के बृहत् ग्रंथ का संक्षेप भलीभाँति जाना जा सकता है।

ग्रन्थ

(७) कामकोटि पीठ के सम्प्रदायानुसार आचार्य का चरित कई बातों में भिन्न है। यह पीठ माधव के दिग्विजय में श्रद्धा नहीं रखता, प्रत्युत निम्नलिखित कामकोटिपीठ के ग्रन्थों को ही प्रामाणिक मानता है जिनका निर्माण इस पीठ के अध्यक्षों के अनुसार ग्रन्थ में समय-समय पर किया[2] :—

(क) पुण्यश्लोक मञ्जरी—शङ्कर से ५४ वें पीठाध्यक्ष सर्वज्ञ सदाशिव-बोध (१५२३-१५२९ ई०) के द्वारा रचित यह ग्रन्थ गौरवशाली माना जाता है। इसमें १०९ श्लोक हैं, जिनमें पीठ के आचार्यों का जीवनवृत्त संक्षेप में दिया गया है।

(ख) गुरुरत्नमाला—काञ्ची के ५५ वें अध्यक्ष परम शिवेन्द्र सरस्वती के शिष्य सदाशिव ब्रह्मेन्द्र की यह कृति है जिसमें वहाँ के पीठाधीशों का वृत्त ८६ आर्याओं में निबद्ध किया गया है।

(ग) परिशिष्ट तथा सुषमा—काञ्ची के ६१ वें अध्यक्ष महादेवेन्द्र सरस्वती के शिष्य, आत्मबोध की ये दोनों रचनायें हैं। परिशिष्ट में केवल १३ श्लोक हैं जो मञ्जरी की रचना के अनन्तर होने वाले पीठाध्यक्षों (५४वें—६०वें) का

---

[1] मुनिगुणवसुचन्द्रे विक्रमादित्यराज्यात् शुभफलवति वर्षे माधमासे सितेंऽशे। पशुपतितिथिसन्धौ चन्द्रवारे सुलग्ने विवृत इति निबन्धः सिद्ध ईशप्रसादात् ॥

[2] इन ग्रन्थों के लिए द्रष्टव्य एन्० के० वेङ्कटेशनकृत: 'श्रीशङ्कराचार्य ऐंड हिज कामकोटि पीठ'।

वर्णन करते हैं। 'सुषमा' गुरुरत्नमाला की टीका है जिसका निर्माण १६४२ शके (= १७२० ई०) में किया गया।

(८) मालाबार प्रान्त में आचार्य के जीवनचरित के विषय में अनेक प्रवाद तथा किंवदन्तियाँ प्रचलित हैं जो अन्यत्र उपलब्ध वृत्त से अनेकांश में विभिन्न हैं। इन केरलीय प्रवादों से युक्त आचार्य का जीवन-चरित 'शंकराचार्य-चरित' में मिलता है। इसके रचयिता का नाम गोविन्दनाथ यति

मालाबार प्रान्त में आचार्य के ग्रन्थ

है जो संभवतः संन्यासी थे, परन्तु निश्चयतः केरलीय थे। यमक-काव्य 'गौरीकल्याण' के रचयिता, राम वारियर के शिष्य, करिकाटग्रामन के निवासी गोविन्दनाथ से ये यति महोदय भिन्न प्रतीत होते हैं। इस ग्रन्थ की विशिष्टता गम्भीर उदात्त-शैली है। न तो इस में कल्पना की ऊँची उड़ान है और न अतिशयोक्ति का अतिशय प्रदर्शन। स्वाभाविकता इसकी महती विशेषता है। इस ग्रन्थ के केवल ६ अध्याय हैं जिनमें आचार्य का संक्षिप्त चरित उपलब्ध है। ग्रन्थ अभी तक प्रकाशित नहीं हुआ है। इसके रचनाकाल का पता नहीं चलता परन्तु यह ग्रन्थ १७ वीं शताब्दी के पीछे का प्रतीत नहीं होता[१]।

(९) इधर शृंगेरीमठ के प्राचीन ग्रन्थागार से उपलब्ध ग्रन्थ प्रकाशित हुआ है जिसका नाम गुरुवंश काव्य है। इसका केवल प्रथम भाग (१ सर्ग—७ सर्ग) श्री वाणीविलास प्रेस से प्रकाशित हुआ है। इसकी रचना हुए

गुरुवंशकाव्य

सौ-वर्ष से कुछ ही अधिक बीता होगा। इसके रचयिता का नाम काशी लक्ष्मण शास्त्री है जो आजकल के शृंगेरी मठाध्यक्ष से पूर्व चतुर्थ अध्यक्ष श्री सच्चिदानन्द भारती स्वामी के सभा-पंडित थे। लक्ष्मण-शास्त्री नृसिंह स्वामी के शिष्य थे, जिनकी कृपा से वे विद्यापारगामी हुए थे। ग्रन्थकार के शृंगेरीमठ के पंडित होने से तथा हस्तलिखित प्रति के शृंगेरी में उपलब्ध होने के कारण यह अनुमान असंगत न होगा कि इस ग्रन्थ में प्रदत्त चरित शृंगेरी की परम्परा के अनुकूल है। ग्रन्थ की पुष्पिका में 'सच्चिदानन्दभारती मुनीन्द्र निर्मापिते' पद से इसकी पुष्टि भी होती है। इस ग्रन्थ के केवल प्रथम तीन सर्गों में ही आचार्य का जीवन-चरित संक्षेप में उपस्थित किया गया है। अन्य सर्गों में शृंगेरी गुरुपरम्परा का साधारण उल्लेख कर श्री विद्यारण्य स्वामी का चरित ही कुछ अधिकता से वर्णित है। इस 'शंकरचरित' में भी अनेक विलक्षण तथा नवीन बातें हैं।

---

[१] इस सम्प्रदाय की जीवनी के लिए द्रष्टव्य—ग्रन्थकारलिखित शङ्कर-दिग्विजय, परिशिष्ट ४, पृ० ५८३—५८६

इन ग्रन्थों के अतिरिक्त पुराणों में भी स्थान-स्थान पर शंकराचार्य के जीवन की ओर संकेत मिलते हैं। मार्कण्डेय पुराण, स्कन्दपुराण, कूर्मपुराण[1] तथा सौर-पुराण[2] में तीर्थों के वर्णन के अवसर पर आचार्य का चरित संकेतित है अथवा वर्णित है। 'शिवरहस्य' के नवम अंश के १६ वें अध्याय में शंकर की अवतारकथा का विशिष्ट वर्णन है जो यहाँ परिशिष्ट रूप में दिया जाता है। 'शिवरहस्य, अभी तक अमुद्रित ही है। यह एक प्रकाण्ड विपुलकाय ग्रन्थ है जिसका मुख्य विषय शिवोपासना है। इसके अनेक खंड है जिन्हें 'अंश' कहते हैं। यदि उपरि निर्दिष्ट ग्रन्थ प्रकाशित हो जाय तो बड़ा ही अच्छा हो। इस समीक्षण से स्पष्ट है कि आचार्य के जीवनवृत्त लिखने की ओर प्रवृत्ति प्राचीन काल से ही है। क्यों न हो, आचार्य शंकर दिव्य विभूति हैं जिनके चरित्र तथा उपदेश का चिन्तन और अनुशीलन प्रत्येक भारतीय का ही नहीं, प्रत्युत प्रत्येक शिक्षित व्यक्ति का प्रधान कर्तव्य है। महत्व के कारण ही तो वे शंकर के अवतार माने जाते हैं।

पुराण में शंकर-चरित

परिशिष्ट

शङ्कराचार्यावतारकथा।

स्कन्द उवाच

तदा गिरिजया पृष्टस्त्रिकालज्ञस्त्रिलोचनः।
भविष्यच्छिवभक्तानां भक्ति संवीक्ष्य विस्मयन् ॥ १ ॥
मौलिमान्दोलयन् देवो बभाषे वचनं मुने।
शृणुध्वमेभिगणपैर्मुनीशैश्च सुरैस्तथा ॥ २ ॥

---

[1] कलौ रुद्रो महादेवो लोकामामीश्वरः परः तदेव साधयेन्नृणां देवतानां च दैवतम् ॥
करिष्यत्यवतारं स्वं शङ्करो नीललोहितः श्रौतस्मार्तप्रतिष्ठार्थं भक्तानां हितकाम्यया ॥
उपदेक्ष्यति तज्ज्ञानं शिष्यानां ब्रह्मसम्मितम् सर्ववेदान्तसारं हि धर्मान् वेदान्तदर्शनात् ॥
ये तं प्रीत्या निसेवन्ते येन केनोपचारतः विजित्य कलिजान् दोषान् यान्ति ते परमं पदम् ॥
—कूर्मपुराण, ३० अ०, श्लोक ३२-३५

[2] चतुर्भिः सह शिष्यैश्च शङ्करोऽवतरिष्यति।
व्याकुर्वन् व्याससूत्राणि श्रुतेरर्थं यथोचितम्।
स एवार्थः श्रुतेर्ग्राह्यः शङ्करः सविताननः।—सौरपुराण

ईश्वर उवाच

प्रभावं शिवभक्तानां भविष्याणां कलावपि ।
शृणु देवी भविष्याणां भक्तानां चरितं कलौ ॥ ३ ॥
वदामि सङ्ग्रहेणाहं शृण्वतां भक्तिवर्धनम् ।
गोपनीयं प्रयत्नेन नाख्येयं यस्य कस्यचित् ॥ ४ ॥
पापघ्नं पुण्यमायुष्यं श्रोतॄणां मङ्गलावहम् ।
पापकर्मैकनिरतान् विरतान् सर्वकर्मसु ॥ ५ ॥
वर्णाश्रमपरिभ्रष्टानधर्मप्रवणान् जनान् ।
कल्यब्धौ मज्जमानांस्तान् दृष्ट्वाऽनुक्रोशतोऽम्बिके॥ ६ ॥
मदंशजातं देवेशि कलावपि तपोधनम् ।
केरलेषु तदा विप्रं जनयामि महेश्वरि ॥ ७ ॥
तस्यैव चरितं तेऽद्य वक्ष्यामि शृणु शैलजे ।
कल्यादिमे महादेवि सहस्रद्वितयात् परम् ॥ ८ ॥
सारस्वतास्तथा गौडा मिश्राः कर्णाजिना द्विजाः ।
आममीनाशना देवि ह्यार्यावर्तनिवासिनः ॥ ९ ॥
औत्तरा विन्ध्यनिलया भविष्यन्ति महीतले ।
शब्दार्थज्ञानकुशलास्तर्ककर्कशबुद्धयः ॥ १० ॥
जैना बौद्धा बुद्धियुक्ता मीमांसानिरताः कलौ ।
वेदबोधदवाक्यानामन्यथैव प्ररोचकाः ॥ ११ ॥
प्रत्यक्षवादकुशलाः शल्यभूताः कलौ शिवे ।
मिश्राः शास्त्रमहाशस्त्रैरद्वैतोच्छेदिनोऽम्बिके ॥ १२ ॥
कर्मैव परमं श्रेयो नैवेशः फलदायकः ।
इति युक्तिपरामृष्टवाक्यैरुद्बोधयन्ति च ॥ १३ ॥
तेन घोरकुलाचाराः कर्मसारा भवन्ति च ।
तेषामुत्पाटनार्थाय सृजामीशे मदंशतः[1] ॥ १४ ॥

---

[1] कालट्याख्ये ग्रामवर्ये केरलालङ्कृतीकृते ।
विद्याधिराजतनयः प्राज्ञश्शिवगुरुर्बभौ ॥
ततस्सदाशिवश्शम्भुर्लोकानुग्रहतत्परः ।
तपोमहिम्ना तत्पत्न्यां प्रविवेश स्वतेजसा ॥
सा दधार सती गर्भमादित्य समतेजसम् ।
व्यजायत शुभे काले पञ्चोच्चग्रहसंयुते ॥
आनन्दन् बान्धवास्सर्वे पुष्पवर्षैर्दिवश्च्युतैः ।
शम्भोर्वरमनुस्मृत्य पिता शिवगुरुः किल ॥

केरले शशलग्रामे विप्रपत्न्यां मदंशतः ।
भविष्यति महादेवि शङ्कराख्यो द्विजोत्तमः ॥ १५ ॥
उपनीततदा मात्रा वेदान् साङ्गान् ग्रहिष्यति ।
अब्दावधि ततः शब्दे विहृत्य स तु तर्कजाम् ॥ १६ ॥
मतिं मीमांसमानोऽसौ कृत्वा शास्त्रेषु निश्चयम् ।
वादिमत्तद्विपवरान् शङ्करोत्तमकेसरी ॥ १७ ॥
भिनत्त्येव तदा बुद्धान् सिद्धविद्यानपि द्रुतम् ।
जैनान् विजिग्ये तरसा तथाऽन्यान् कुमतानुगान् ॥ १८ ॥
तदा मातरमामन्त्र्य परिव्राट् स भविष्यति ।
परिव्राजकरूपेण मिश्रानाश्रमदूषकान् ॥ १९ ॥
दण्डहस्तस्तथा कुण्डी काषायवसनोज्ज्वलः ।
भस्मदिव्यत्रिपुण्ड्राङ्को रुद्राक्षाभरणोज्ज्वलः ॥ २० ॥
ताररुद्रार्थपारीणः शिवलिङ्गार्चनप्रियः ।
स्वशिष्यैस्तादृशैर्घुष्यन् भाष्यवाक्यानि सोऽम्बिके ॥ २१ ॥
मद्दत्तविद्यया भिक्षुर्विराजति शशाङ्कवत् ।
सोऽद्वैतोच्छेदकान् पापानुच्छिद्याक्षिप्य तर्कतः ॥ २२ ॥
स्वमतानुगतान् देवि करोत्येव निरर्गलम् ।
तथापि प्रत्ययस्तेषां नैवासीत् श्रुतिदर्शने ॥ २३ ॥
मिश्राः शास्त्रार्थकुशलास्तर्ककर्कशबुद्धयः ।
तेषामुद्बोधनार्थाय तिष्ये भाष्यं करिष्यति ॥ २४ ॥
भाष्यघुष्यमहावाक्यैस्तिष्यजातान् हनिष्यति ।
व्यासोपदिष्टसूत्राणां द्वैतवाक्यात्मनां शिवे ॥ २५ ॥
अद्वैतमेव सूत्रार्थं प्रामाण्येन करिष्यति ।
अविमुक्ते समासीनं व्यासं वाक्यैर्विजित्य च ॥
शङ्करं स्तौति हृष्टात्मा शङ्कराख्योऽथ मस्करी[1] ॥ २६ ॥

आयुषो ह्रस्वतां जानन्नपि नोवाच किञ्चन ।
सर्वज्ञत्वादिसुगुणान् शम्भूक्तांस्तस्य संस्मरन् ॥
तेजसा तस्य च शिशोस्सूतिगेहोदरस्थितेः ।
नैशं तमो निववृते तदद्भुतमिवाभवत् ॥—आनन्दगिरीये

[1] ॐव्यासदत्तायुरुत्कृष्टतेजः पूर्णकलेवरः ।
बभौ श्रीशङ्कराचार्यो ब्रह्मव्यासादयस्तथा ॥
विष्णुर्वाणीशसंयुक्तो महादेवस्तदद्भुतम् ।
स तु दत्वा मुनिश्रेष्ठं ब्राह्मणं वरमास्तिकः ॥

शंकर उवाच

सत्यं सत्यं नेह नानास्ति किञ्चिदीशावास्यं ब्रह्म सत्यं जगद्धि ।
ब्रह्मैवेदं ब्रह्म पश्चात्पुरस्तादेको रुद्रो न द्वितीयोऽवतस्थे ॥ २७ ॥
एको देवः सर्वभूतेषु गूढो नानाकारो भासि भावैस्त्वमात्मा ।
पूर्णापूर्णो नामरूपैर्विहीनो विश्वातीतो विश्वरूपो महेशः ॥ २८ ॥
भूतं भव्यं वर्तमानं त्वयीशे सामान्यं वै देश-कालादिहीनः ।
नो ते मूर्तिर्वेदवेद्यस्त्वसङ्गः सङ्गीव त्वं लिङ्गसंस्थो विभासि ॥ २९ ॥
त्वद्भासा वै सोम-सूर्यानलेन्द्रा भीषैवोदेत्येष सूर्यश्च देवः ।
त्वं वेदादौ स्वर एको महेशो वेदान्तानां सारवाक्यार्थवेद्यः ॥ ३० ॥
वेद्यो वैद्यः सर्ववेदात्मविद्यो भिद्येद् दृष्ट्या तव हृत्तमोऽद्य ।
ओङ्कारार्थः पुरुषस्त्वमृतं च सत्यज्ञानानन्दभूमासि सोम ॥ ३१ ॥
बद्धो मुक्तो नासी सङ्गी स्वसङ्गः प्राणप्राणो मनसस्त्वं मनश्च ।
त्वत्तो वाचो मनसा सन्निवृत्तास्तवानन्दज्ञानिनो बुद्धभावाः ॥ ३२ ॥
त्वत्तो जातं भूतजातं महेश त्वया जीवत्येवमेवं विचित्रम् ।
त्वय्येवान्ते संविशत्येव विश्वं त्वां वै को वा स्तौति तं स्तव्यमीशम् ।
किञ्चिज्ज्ञात्वा सर्वभास्येव बुद्ध्या त्वामात्मानं वेद्मि देवं महेशम् ॥ ३३ ॥

ईश्वर उवाच

इति शङ्करवाक्येन विश्वेशाख्यादहं तदा ।
प्रादुर्बभूव लिङ्गात् स्वाद् अलिङ्गोऽपि महेश्वरि ॥ ३४ ॥
त्रिपुण्ड्रविलसत्फालश्चन्द्रार्धकृतशेखरः ।
नागाजिनोत्तरासङ्गो नीलकण्ठस्त्रिलोचनः ॥ ३५ ॥
वरकाकोदरानद्धराजद्धारस्त्वयाऽम्बया ।
तमब्रुवं महादेवि प्रणतं यतिनां वरम् ॥ ३६ ॥
शिष्यैश्चतुर्भिः संयुक्तं भस्म-रुद्राक्षभूषणम् ।
मदंशतस्त्वं जातोऽसि भुवि चाद्वैतसिद्धये ॥ ३७ ॥
पापमिश्राश्रितैर्मार्गैर्जैनदुर्बुद्धिबोधनैः ।
भिन्ने वैदिकसंसिद्धे अद्वैते द्वैतवाक्यतः ॥ ३८ ॥

कृतार्थोऽस्मि भवत्पाददर्शनादित्यभाषत ।
शृणवाचार्य भिदा मिथ्याऽप्यद्वैतं पारमार्थिकम् ॥
उपदेशं नृणामेवं कुरु यत्नेन सर्वतः ।
इत्युक्त्वान्तर्दधे ब्रह्मा व्यासश्च भगवान्मुनिः ॥
—इति आनन्दगिरीयदिग्विजये चतुःपञ्चाशप्रकरणे

तद्भेदगिरिवज्रस्त्वं सञ्जातोऽसि मदंशतः ।
द्वात्रिंशत् परमायुस्ते शीघ्रं कैलासमावस ।। ३९ ।।
एतत् प्रतिगृह्णाण त्वं पञ्चलिङ्गं सुपूजय ।
भस्म-रुद्राक्षसम्पन्नः पञ्चाक्षरपरायणः[1] ।। ४० ।।
शतरुद्रावर्तनैश्च तारेण भसितेन च ।
विल्वपत्रैश्च कुसुमैर्नैवेद्यैर्विविधैरपि ।
त्रिवारं सावधानेन गच्छ सर्वजयाय च ।
त्वदर्थं कैलासाचलवरसुपालीगतमहा-
समुद्यच्चन्द्राभं स्फटिकधवलं लिङ्गकुलकम् ।
समानीतं सोमोद्यतविमलमौल्यर्चय परं
कलौ लिङ्गार्चायां भवति हि विमुक्तिः परतया ।। ४२ ।।
स शङ्करो मां प्रणनाम मस्करी मयस्करं तस्करवर्यमार्ये ।
सङ्गृह्य लिङ्गानि जगाम वेगाद् भूमौ स बुद्धार्हत-जैन-मिश्रान् ।। ४३ ।।
तद्योग-भोग-वर-मुक्ति-सुमोक्ष-योगलिङ्गार्चनात् प्राप्तजयः स्वकाश्रमे ।
तान् वै विजित्य तरसाऽक्षतशास्त्रवादैर्मिश्रान् स काञ्च्यामथ सिद्धिमाप ।। ४४ [1]।।

इति श्रीशिवरहस्ये सदाशिवाख्ये नवमांशे शङ्करप्रादुर्भावे षोडशोऽध्यायः ।।

।। ॐ तत्सद्ब्रह्मार्पणमस्तु ।।

---

[1] ॐतस्मादुदङ् मार्गमवलम्ब्य योगविद्याप्राप्तवियत्पथसञ्चारः कैलासमधिगम्य पार्वतीसमेतं परमेश्वरं प्राणमत् । स्वात्मत्तयाऽनुसन्धानशीलस्य च परमगुरोरग्रतः परमेश्वरः पञ्च स्फाटिकलिङ्गानि प्रकाशयामास । जगदनुग्रहायाम्बिकास्तवसारेण सह तान्यादाय पुनरवनीतलमासाद्य केदारक्षेत्र एकं मुक्तिलिङ्गाख्यं तत्र प्रतिष्ठाप्य तत्क्षेत्रपूजकान् पूजार्थं नियोजयामास । ततः कुरुक्षेत्रमार्गाद् बदरीनारायणदर्शनं कृत्वा तत्र शीतोदकस्नानस्यातिदुर्गमत्वाद् हिमवत्सान्निध्याच्च भगवन्तमिदमुवाच—भो नारायण ! स्वामिन् ! मह्यमुष्णोदकं स्नानार्थं देहीति । स तु नारायणः स्वपीठाधःप्रदेशादुष्णजलसरितमुत्पादयामास । सर्वे स्नात्वा श्रीशङ्कराचार्यं तुष्टुवुः । तस्माद् द्वारकादिदिव्यस्थलविलोकनवशात् प्रादक्षिण्येन नीलकण्ठेश्वरं नत्वा तत्र शिष्यैः पूज्यमानः परमगुरुः वरनामकं लिङ्गं प्रतिष्ठाप्य तत्रस्थान् पूजार्थं नियुज्य ततः क्रमादयोध्यामवाप—इति आनन्दगिरीये पञ्चपञ्चाशप्रकरणे ।

[1]ॐततः परं सरस्वाणीं मन्त्रबद्धां कृत्वा गगनमार्गादेव शृङ्गगिरिसमीपे तुङ्गभद्रातीरे चक्रं निर्माय तदग्रे परदेवतां सरस्वाणीं निधाय, "एवमाकल्पं स्थिरा भव मदाश्रये" इत्याज्ञाप्य निजमठं कृत्वा तत्र विद्यापीठनिर्माणं कृत्वा''''भारतीसम्प्रदायनिष्ठाः परमगुरोराचार्यस्वामिनः कटाक्षलब्धविद्या-

वैशद्या इति व्यवहारः। यस्त्वद्वैतमते स्थित्वा भारतीपीठनिन्दकः। स याति नरकं घोरं यावदाभूतसम्प्लवम्—इत्यादि ६२ प्रकरणे।

ॐतत्रैव श्रीपरमगुरुः द्वादशाब्दकालं विद्यापीठे स्थित्वा बहुशिष्येभ्यः शुद्धाद्वैतविद्यायाः सम्यगुपदेशं कृत्वा तदन्तरं पद्मपादाख्यं कञ्चिच्छिष्यं पीठाध्यक्षं कृत्वा भोगनामकं लिङ्गम् तस्मिन् पीठे निक्षिप्य स्वयं निश्चक्राम इत्यादि ६३ प्रकरणे।

अतः सर्वेषां मोक्षफलप्राप्तये दर्शनादेव श्रीचक्रं प्रभवतीति भगवद्भिराचार्यैः तत्र निर्मितम् तस्मात् मुक्तिका क्षिभि सर्वैः श्रीचक्रपूजा कर्तव्या, इति निश्चित्य ...... तत्रैव निजावासयोग्यं मठमपि परिकल्प्य तत्र निजसिद्धान्तमद्वैतं प्रकाशयितुमन्तेवासिनं सुरेश्वरमाहूय योगनामकं लिङ्गं पूजयेति तस्मै दत्वा, त्वमत्र कामकोटिपीठमधिवसेत्यवस्थाप्य शिष्यजनैः परिपूज्यमानः श्रीपरमगुरुः सुखमास—६५ प्रकरणे।

ॐतदनु सर्वलोकैकसाक्षिचैतन्यानुभवविदितभूत—भविष्यद्-वर्तमानकालः परमगुरुः स्वतंत्रपुरुषः शुद्धाद्वैतनिष्ठागरिष्ठान् सेतुहिमाचलमध्यदेशस्थानशेषान् ब्राह्मणादीन् कृत्वा, तदीयानेवाङ्गीकारसमर्थनिजशिष्यपरम्परामाकल्पं काञ्चीपीठादितत्तत्पट्टणस्थायिनीं कृत्वा तन्मूलादेव सकल शिष्येभ्यो मोक्षमार्गोपदेशं च कल्पयित्वा, ततः कलावस्मिन् युगे नानापायविध्वस्तज्ञानविद्याङ्कुरेषु मर्त्येषु शुद्धाद्वैतविद्यायामनधिकारिषु, तेषां वृत्तिः पुनरपि यथेच्छं विशृङ्खलं भवतीति सम्यग्विचार्य, लोकरक्षार्थं वर्णाश्रमपरिपालनार्थं च मत्कल्पनां जीवेशभेदास्पदां रचयितुमुपक्रम्य निजशिष्यं परमतकालानलं दृष्ट्वेदमाह—इत्यादि ६६ प्रकरणे।

ॐततः परं सर्वलोकगुरुराचार्यः स्वशिष्यान् परमतकालानलादियतीन् तदन्यांश्च तत्र-तत्र विषयेषु प्रेषयित्वा तदनन्तरं समीपस्थमिन्द्रसम्प्रदायानुवर्तिनं सुरेश्वराचार्यमाहूय "भो शिष्य इदं मोक्षलिङ्गं चिदम्बरस्थले प्रेषयेत्युक्त्वा" स्वयं स्वलोकं गन्तुमिच्छुः काञ्चीनगरे मुक्तिस्थले कदाचिदुपविश्य स्थूलशरीरं सूक्ष्मेऽन्तर्धाप्य तद्रूपो भूत्वा सूक्ष्मं कारणे विलीनं कृत्वा चिन्मात्रो भूत्वा, अङ्गुष्ठमात्रपुरुषस्तदुपरि पूर्णमखण्डाकारमानन्दं प्राप्य सर्वंजगद्व्यापकचैतन्यमभवत् सर्वव्यापकचैतन्यरूपेणाद्यापि तिष्ठति—१३० प्रकरणे इति। ओं तत् सत्।

———

तृतीय परिच्छेद

शंकरपूर्व-भारत

किसी धर्म का प्रवाह अविच्छिन्न गति से एक समान ही सदा प्रवाहित नहीं होता; उसकी गति को रोकने वाले अनेक प्रतिबन्ध समय-समय पर उत्पन्न होते रहते हैं, परन्तु शक्तिशाली धर्म कभी इन प्रतिबन्धों की परवाह नहीं करता। यदि उस धर्म में जीवनी शक्ति की कमी नहीं होती, तो वह इन विभिन्न रुकावटों के दूर करने में सर्वथा समर्थ होता है। इस कथन की सत्यता का प्रमाण वैदिकधर्म के विकास का इतिहास है। वैदिकधर्म की गति को अवरोध करने वाले अनेक विघ्न समय-समय पर आते रहे, परन्तु इस धर्म में इतनी जीवट है, इतनी शक्तिमत्ता है कि वह इन विघ्नों के प्रवाह को दूर हटाता हुआ आज भी सशक्त है—सभ्य संसार के धर्मों के सामने अपनी महनीयता के कारण अपना मस्तक ऊपर उठाये हुए है।

वैदिकधर्म का बौद्धधर्म से तथा जैनधर्म से संघर्ष सदा होता रहा। कालगणना के हिसाब से जैनधर्म का उदय बौद्धधर्म से पूर्व हुआ, परन्तु प्रभावशालिता तथा व्यापकता में वह उससे घट कर ही रहा। अतः वैदिकधर्म का संघर्ष बौद्धधर्म के साथ ही विशेष रूप से होता रहा। उत्पत्तिकाल में तो यह संघर्ष अत्यन्त साधारण कोटि का ही था। गौतमबुद्ध स्वयं वैदिकधर्म के अनुयायी थे। उन्होंने अपने आचारप्रधान धर्म का उपदेश उपनिषदों की भित्ति पर ही अवलम्बित रखा। बौद्धधर्म तथा दर्शन की मूल भित्ति उपनिषद् ही है। कर्मकाण्ड की अनुपादेयता, प्रपञ्च के मूल में अविद्या को कारण मानना, तृष्णा के उच्छेद से रागद्वेष आदि बन्धनों से मुक्ति पाना, कर्म सिद्धान्त की व्यापकता—आदि सामान्य सिद्धान्त दोनों में ही उपलब्ध होते हैं। असत् से सत् की उत्पत्ति का बौद्ध सिद्धान्त भी छान्दोग्य उपनिषद् में निर्दिष्ट है। परन्तु परिस्थिति को ध्यान में रख कर गौतमबुद्ध ने अपने धर्म में अनेक ऐसी नवीन बातें सन्निविष्ट कर दीं जिनके लिए वेद में आधार मिलता ही नहीं। श्रुति को अप्रमाण मान कर उन्होंने आत्मवाद की अवहेलना तथा यज्ञ का घोर तिरस्कार कर दिया। विक्रमपूर्व चतुर्थ शतक में मौर्यों के समय में बुद्धधर्म को राजाश्रय भी प्राप्त हो गया। बस, क्या था? इस धर्म को दिन दूनी रात चौगुनी उन्नति होने लगी। अशोक प्रियदर्शी ने इसके विपुल प्रचार के लिए सारी शक्तियाँ

मौर्य-काल

खर्च कर डालों। उसकी दृष्टि समन्वयात्मक थी, वह श्रमणों के समान ब्राह्मण के प्रति भी उदारभाव रखता था। परन्तु फिर भी बौद्धधर्म ने उसके उत्तराधिकारियों के समय में वैदिकधर्म को पैर तले कुचलने का उद्योग किया। इसका फल वही हुआ जो धार्मिक संघर्ष के युग में प्रायः हुआ करता है। क्रिया के बाद प्रतिक्रिया जनमती ही है। मौर्यों के पतन के पीछे ब्राह्मणवंशी पुष्यमित्र ने शुंगवंश की स्थापना की (द्वितीय शतक) और वैदिक के अतीत गौरव को जाग्रत करने के लिए उसमें अनेक महत्वपूर्ण कार्य किये। कालिदास के 'मालविकाग्निमित्र' का नायक इसी पुष्यमित्र का ज्येष्ठ तनय महाराज अग्निमित्र है। पुष्यमित्र के अयोध्या के शिलालेख से स्पष्ट है कि पुष्यमित्र ने दो बार अश्वमेध का विधान किया था (द्विरश्वमेधयाजिनः)। अश्वमेध वैदिकधर्म के पुनरुत्थान का प्रतीकमात्र था। मनु का वह ग्रन्थ जो दवा की भी दवा माना जाता हैं (मनुर्यंदवदत् तत् भेषजं भेषजतायाः)—अर्थात् मनुस्मृति इसी वैदिकधर्म के जागृतिकाल की महत्वपूर्ण रचना है।

शुंगकाल में वैदिकधर्म

शुंगों से कतिपय शताब्दियों के पीछे कुषाणों का काल आता है। इस काल में (विक्रम की प्रथम तथा द्वितीय शताब्दी) प्रतिक्रिया के रूप में बौद्धधर्म ने उन्नति करना आरम्भ किया। कनिष्क तो था जाति से शकवंशीय, भारत के बाहर से आया हुआ व्यक्ति, परन्तु धार्मिक भावना में वह बौद्ध धर्म का असाधारण पक्षपाती तथा उदार प्रचारक था। उसने अपने समय में आचार्य पार्श्व की अध्यक्षता में बौद्धों की चतुर्थ संगीति बुलाई और भिक्षुओं को भेज कर चीन-जापान में इस धर्म का विपुल प्रसार किया। इसकी प्रतिक्रिया गुप्तों के साम्राज्यकाल में लक्षित होती है। गुप्त नरपति परम वैष्णव थे। उनके विरुदों में 'परम भागवत' भी एक विशिष्ट विरुद था जिसका उल्लेख उन्होंने अपने शिलालेखों में बड़े गर्व के साथ किया है। पुराणों के नवीन संस्करण तथा अनेक स्मृतियों की रचना का समय यही गुप्तकाल माना जाता है। गुप्त-नरेशों ने वैदिकधर्म की जाग्रति के निमित्त अश्वमेध की प्राचीन परिपाटी का पुनः उद्धार किया। इस प्रकार देश के एक कोने से लेकर दूसरे कोने तक वैदिकता की लहर चारों ओर फैल गई, परन्तु इस समय में भी बौद्धधर्म चुपचाप बैठ कर सुख की नींद नहीं सो रहा था। उसमें काफी जीवट था; उसके प्रचारकों के रगों में धार्मिक उन्माद भरा था, बौद्ध विद्वानों के हृदय में अपने धर्म को फैलाने की पक्की लगन जाग रही थी। गुप्त लोगों की धार्मिक नीति सहिष्णुता से भरी हुई थी। वे एक धर्म को कुचल कर दूसरे धर्म के उत्थान के पक्षपाती न थे, परन्तु बौद्धधर्म के प्रचारकों के सामने न तो बीहड़ पहाड़ किसी प्रकार की रुकावट

कुषाण

डाल सकता था और न उछलता हुआ भीषण समुद्र। माधवाचार्य ने इस काल के बौद्धमत-प्रचारकों के विषय में एक बड़े पते की बात कही है कि वे निःसंकोच भाव से राजाओं के ऊपर अपना प्रभाव जमा लेते थे तथा उनके द्वारा प्रजावर्ग को भी आत्मसात् करने में समर्थ होते थे। माधव के शब्दों में[1]—

सशिष्यसंघाः प्रविशन्ति राज्ञां
गेहं तदादि स्ववशे विधातुम्।
राजा मदीयोऽजिरमस्मदीयं
तदाद्रियध्वं न तु वेदमार्गम्॥

[बौद्धों के समुदाय शिष्य तथा संघ के साथ राजाओं को अपने वश में करने के लिए उनके घर में प्रवेश करते थे और यह घोषित करते थे कि यह राजा मेरे पक्ष का है, उसका आंगन—देश—हम लोगों का ही है। अतः आप लोग वेदमार्ग में श्रद्धा मत रखिए।]

गुप्त तथा वर्धन-युग भारतीय धर्म तथा तत्त्वज्ञान के इतिहास में अपना विशेष महत्त्व रखते हैं। इस युग को वैदिक तथा बौद्ध-जैन तत्त्वज्ञानियों का 'संघर्ष-युग' कहना उचित होगा। बौद्ध-न्याय का उदय तथा अभ्युदय इसी काल की महती विशिष्टता है। इसी युग में नागार्जुन, वसुबन्धु, दिङ्नाग तथा धर्मकीर्ति जैसे प्रकाण्ड बौद्ध पण्डितों ने बौद्धन्याय को जन्म दिया तथा उसकी आश्चर्यजनक उन्नति की। इन लोगों ने ब्राह्मण नैयायिकों के सिद्धान्तों का खण्डन बड़ी सतर्कता के साथ किया। उधर ब्राह्मण नैयायिक भी हाथ पर हाथ रख कर अकर्मण्य न थे, प्रत्युत अपने ऊपर किये गये आक्षेपों का उत्तर उन्होंने बड़े कौशल तथा विद्वत्ता के साथ देकर ब्राह्मण-न्याय की उन्नति की। वात्स्यायन, उद्योतकर तथा प्रशस्तपाद—ऐसे ही तार्किकत्रय थे जिन्होंने बौद्ध तार्किकों के मतों का खण्डन कर अपने सिद्धान्तों की रक्षा की। इतना होने पर भी, एक विशेष दिशा में ब्राह्मणों की ओर से वेदार्थ की रक्षा का उद्योग नहीं हो रहा था। वह था वैदिक कर्मकाण्ड तथा ज्ञानकाण्ड का सयुक्तिक मण्डन। इन दोनों विषयों के प्रति बौद्धों ने जो निन्दा और अवहेलना प्रदर्शित की थी, उसे ध्वस्त करने के निमित्त ऐसे विज्ञ वैदिक की आवश्यकता थी जो वैदिक क्रिया-कलापों का औचित्य प्रदर्शित करता तथा वैदिक अध्यात्मशास्त्र की विशुद्धि उद्घोषित करता।

गुप्त-युग

उधर जैनमतावलम्बियों की ओर से भी विरोध की कमी न थी। उसके अनुयायी भी अपने सिद्धान्तों के प्रतिपादन में तथा पर-मत के खण्डन में विशेषरूप

[1] शंकरदिग्विजय, सर्ग ७, श्लोक ८१

से जागरूक थे। समन्तभद्र तथा सिद्धसेन दिवाकर की महत्त्वपूर्ण रचनाओं ने जैन-न्याय को प्रतिष्ठित शास्त्र बना दिया था। वैदिक आचार के अनेकांश में ऋणी होने पर भी जैनलोग श्रुति की प्रामाणिकता नहीं मानते। श्रुति के क्रियाकलापों पर दोहरा आक्रमण हो रहा था—एक तो बौद्धों की ओर से और दूसरा जैनियों की ओर से। अतः वैदिक-धर्म की पुनःप्रतिष्ठा के लिए यह बहुत आवश्यक था कि श्रुति के सिद्धान्तों की यथार्थता जनता को भलीभाँति समझाई जाय। श्रुति के कर्मकाण्ड में जो विरोध आपाततः दृष्टिगोचर होता था, उसका उचित परिहार किया जाय तथा यज्ञ-याग की उपयोगिता तर्क की कसौटी पर कस कर विद्वानों के सामने प्रदर्शित की जाय। इस आवश्यकता की पूर्ति दो बड़े ब्राह्मण आचार्यों ने की। इस कार्य को समुचित रीति से सम्पादन करने का श्रेय आचार्य कुमारिल तथा आचार्य शङ्कर को है। भट्टाचार्य कुमारिल ने वेद का प्रामाण्य अकाट्य युक्तियों के बल पर सिद्ध किया तथा वैदिक कर्मकाण्ड को उपादेय, आदरणीय तथा नितान्त आवश्यक प्रमाणित किया। जो कार्य कुमारिल ने कर्मकाण्ड की विशुद्धि के लिए किया था, वही कार्य शंकर ने ज्ञानकाण्ड की गरिमा के निमित्त किया। शंकर ने अवैदिक दर्शन तथा द्वैतवादियों के मतों का भलीभाँति खण्डन कर उपनिषदों के आध्यात्मिक अद्वैत-तत्त्व का प्रतिपादन बड़ी ही प्रबल युक्तियों के सहारे किया। इस प्रकार गुप्तकाल से जिस वैदिकधर्म की जाग्रति के जो लक्षण दीख पड़ते थे, उसका पूर्ण रूप इस कुमारिल-शंकर युग में सर्वत्र अभिव्यक्त हुआ।

वैदिक और बौद्धधर्म का संघर्ष

इस प्रसङ्ग में एक सुन्दर तथ्य है जिसे कथमपि भुलाना नहीं चाहिए। वैदिक तथा बौद्ध धर्म की यह लड़ाई तलवार की लड़ाई न थी, प्रत्युत लेखनी की लड़ाई थी। दोनों पक्षों के तर्ककुशल पण्डित लोग अपनी लेखनी का संचालन कर प्रतिपक्षियों के सिद्धान्तों की असारता दिखलाते थे। वात्स्यायन ने न्यायभाष्य में बौद्धाचार्य वसुबन्धु के सिद्धान्तों का जो खण्डन किया, उसका उत्तर 'वादिवृषभ' दिङ्नाग ने 'प्रमाणसमुच्चय' में उनके न्यायमतों का खण्डन करके दिया। उद्योतकर ने न्यायवार्तिक में दिङ्नाग के मत की निःसारता खूब ही विद्वत्ता के सहारे दिखलाई; उधर धर्मकीर्ति ने 'प्रमाणवार्तिक' में नैयायिक उद्योतकर तथा मीमांसक कुमारिल के वेदानुमोदित तथ्यों की धज्जियाँ उड़ा कर अपने बौद्धमत की पर्याप्त प्रतिष्ठा की। तात्पर्य यह है कि यह था शास्त्रीय युक्तियों का संग्राम, खण्डन में निपुण लेखनी का युद्ध। उभय-मतावलम्बियों ने किसी विशिष्ट स्वमतानुरागी नरपति को उत्तेजित कर उसके द्वारा विरुद्ध मत वालों को मार डालने का अनुचित उपयोग कभी नहीं किया। हमारे इस सिद्धान्त के विरोध में यदि एक-दो दृष्टान्त मिलते भी हों, तो वे इतने कमज़ोर हैं कि उनसे विपरीत

मत की पुष्टि नहीं होती। इस समय कुमारिल और शंकर के अश्रान्त परिश्रम से वैदिक मार्ग की जो प्रतिष्ठा की गई, वह बड़ी ही दृढ़ नींव पर थी। इन आचार्यों के आक्षेपों को बौद्धधर्म अधिक न सह सका। वह भारत भूमि से धीरे-धीरे हट कर तिब्बत, चीन, जापान, श्याम आदि दूरस्थ देशों में चला गया। शंकरपूर्व-भारत में बौद्ध तथा जैन धर्मों के साथ-साथ अन्य अनेक अवैदिक मतों का भी भारत में प्रचुर प्रचार था। सप्तम शताब्दी में जो धर्म-सम्प्रदाय प्रचलित थे उनका उल्लेख महाकवि बाणभट्ट ने हर्षचरित में किया है। वे हैं—भागवत, कपिल, जैन, लोकायतिक (चार्वाक), काणाद, पौराणिक, ऐश्वर, कारणिक, कारन्धमिन् (धातुवादी), सप्ततान्तव (मीमांसक ?) शाब्दिक (वैयाकरण), बौद्ध पाञ्चरात्रिक (पाञ्चरात्र के अनुयायी) और औपनिषद। इनमें औपनिषद मतको छोड़कर शेष सब एक प्रकार से अवैदिक ही थे। औपनिषद लोगोंकी व्याख्या संसारकी असारता कहने वाले (ब्रह्मवादी) शब्द से की गई है (संसारासारत्व-कथनकुशलाः ब्रह्मवादिनः)। इस प्रकार आचार्य शङ्कर के आविर्भाव से पहिले यह पवित्र भारतभूमि नाना मतों की क्रीड़ास्थली बनी हुई थी जो मतस्वातन्त्र्य के प्रपञ्च में पड़कर वेदप्रतिपादित धर्म से इतर मार्ग का निर्देश करते थे।

तान्त्रिकता का भी यही युग था। तन्त्रपूजा की बहुलता इस युग की अपनी विशिष्ट वस्तु थी। तन्त्रों के यथार्थ रूप से अपरिचित होने से उपासकों ने नई कल्पनाओं को उत्पन्न किया था। तन्त्र में पाँच मकारवाले पदार्थों का उपयोग बतलाते है, जिनके नाम हैं[1]—मद्य, मांस, मीन, मुद्रा तथा मैथुन। इनके यथार्थ रूप न समझने से अनेक अनर्थ होते आये हैं। कुछ उपासकों की धारणा है कि स्थूल तथा लौकिक मद्य मांस का ही प्रयोग न्यायसंगत है और इसीलिए वे अपनी पूजा में इसका प्रयोग भी करते हैं। आचार्य ने अपनी शक्तिभर इस तामसपूजा का निषेध किया है तथा इन तामस तान्त्रिकों का युक्ति तथा शास्त्र से खण्डन किया है। वस्तुतः पञ्च मकार का आध्यात्मिक अर्थ है। इनका सम्बन्ध अन्तर्याग से है, बहिःपूजा से नहीं। पञ्च मकार इस शरीर के ही भीतर विद्यमान तत्त्वों का साक्षात् प्रतीक है। इन्हीं का अभ्यास तान्त्रिक पूजा का मुख्य उद्देश्य है। इनका अज्ञान अनेक भ्रान्त धारणाओं का उत्पादक सिद्ध हुआ है। शंकरपूर्व-भारत में शैव, शाक्त, वैष्णव तथा गाणपत्य—सब प्रकार के तान्त्रिकों का प्रभुत्व था। इनमें कतिपय मुख्य सम्प्रदाय तथा उनके सिद्धान्तों का वर्णन तुलनात्मक अध्ययन के लिए किया जा रहा है।

तन्त्रों का युग

---

[1] मद्यं मांसं च मीनं च मुद्रा मैथुनमेव च।
मकारपञ्चकं प्राहुर्योगिनां मुक्तिदायकम्॥

१—पाञ्चरात्र

वैष्णव-आगमों को 'पाञ्चरात्र' कहते हैं। इस शब्द का अर्थ भिन्न-भिन्न प्रकार से किया जाता है। नारद पाञ्चरात्र के अनुसार 'रात्र' शब्द का अर्थ ज्ञान होता है—रात्रं च ज्ञान-वचनं ज्ञानं पञ्चविधं स्मृतम्

पाञ्चरात्र

(नारद पाञ्चरात्र १।४४)—परमतत्त्व, मुक्ति, भुक्ति, योग तथा संसार—इन पाँच विषयों के निरूपण करने से यह तन्त्र 'पाञ्चरात्र' कहलाता है। पाञ्चरात्र का दूसरा नाम 'भागवत' या 'सात्वत' है। महाभारत के नारायणीय आख्यान में इस तन्त्र का सिद्धान्त प्रतिपादित है। इसकी अपनी १०८ संहितायें भी हैं, जिनमें कतिपय संहिताओं का ही प्रकाशन अब तक हो पाया है। अहिर्बुध्न्यसंहिता, जयाख्यसंहिता, ईश्वरसंहिता, विष्णु-संहिता—आदि मुख्य संहितायें इस तन्त्र से सम्बद्ध हैं। इन संहिताओं के विषय चार होते हैं—(१) ज्ञान—ब्रह्म, जीव तथा जगत् के आध्यात्मिक रहस्यों का उद्‌घाटन तथा सृष्टितत्त्व का निरूपण, (२) योग—मुक्ति के साधनभूत योग तथा उसकी प्रक्रियाओं का वर्णन, (३) क्रिया—देवताओं का निर्माण, मूर्ति की स्थापना आदि, (४) चर्या—दैनिक क्रिया, मूर्तियों और यन्त्रों का पूजन आदि। वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध – ये चतुर्व्यूह कहे जाते है। वासुदेव तो जगत् के कर्त्ता-धर्ता ईश्वर हैं। उससे उत्पन्न होने वाला संकर्षण जीव रूप है और उससे अनिरुद्ध अर्थात् अहंकार का उदय होता है। भगवान् के उभय भाव—सगुण तथा निर्गुण—इन्हें स्वीकृत हैं। नारायण निर्गुण होकर भी सगुण हैं। ज्ञान, शक्ति, बल, ऐश्वर्य, वीर्य तथा तेज—ये छः गुण भगवान् के विग्रह हैं। भगवान् की शक्ति का सामान्य नाम 'लक्ष्मी' है। जगत् के मंगल के लिए भगवान् अपनी स्वातन्त्र्य-शक्ति से चार रूपों की सृष्टि करते हैं—व्यूह, विभव, अर्चावतार तथा अन्तर्यामी। जीव स्वभावतः सर्वशक्तिशाली, व्यापक तथा सर्वज्ञ है परन्तु सृष्टिकाल में भगवान् की तिरोधान शक्ति (माया या अविद्या) जीव के सच्चे रूप को छिपा देती है, जिससे जीव अणु, किञ्चित्कर तथा किञ्चिज्ज्ञाता बन जाता है! इन्हीं अणुत्वादिकों को 'मल' कहते हैं। भगवान् की कृपा से ही जीव का उद्धार होता है और उस कृपा के पाने का प्रधान उपाय शरणागति है। पाञ्चरात्रमत जीव और ब्रह्म की एकता का अवश्य प्रतिपादन करता है, परन्तु वह विवर्तवाद नहीं मानता, उसकी दृष्टि में परिणामवाद ही सत्य है। रामानुज का विशिष्टाद्वैत-मत इसी आगम पर अवलम्बित है। पाञ्चरात्र को श्रुतिसम्मत सिद्ध करने के लिए यामुनाचार्य ने 'आगमप्रामाण्य' तथा वेदान्तदेशिक ने 'पाञ्चरात्र रक्षा' की रचना की है।

शङ्कराचार्य को इनके साधनमार्ग में विशेष विप्रतिपत्ति नहीं दीख पड़ती, परन्तु चतुर्व्यूह का सिद्धान्त इनकी दृष्टि में नितान्त उपनिषद्-विरुद्ध है।[1]

२—पाशुपत

उस समय भारतवर्ष में पाशुपतों का बोलबाला था—इस मत के ऐतिहासिक संस्थापक का नाम नकुलीश या लकुलीश है। इनका जन्म भड़ोंच (गुजरात) के पास कारबन नामक स्थान में बतलाया जाता है। राजपूताना, गुजरात आदि देशों में नकुलीश की मूर्तियाँ प्रचुरता से मिलती हैं, जिनका मस्तक केशों से ढका रहता है, दाहिने हाथ में बीजपूर के फल और बायें हाथ में लगुड या दण्ड रहता हैं। लगुड धारण करने के कारण ही इन आचार्य का नाम लगुडेश या लकुलीश भी है। ये शंकर के अठारह अवतारों में आद्य-अवतार माने जाते हैं। गुप्तनरेश विक्रमादित्य द्वितीय के राज्यकाल में ६१ गुप्त सम्वत् (३८० ई०) का एक महत्त्वपूर्ण शिलालेख मथुरा में मिला है जिसमें उदिताचार्य नामक पाशुपत आचार्य के द्वारा गुरुमन्दिर में उपमितेश्वर और कपिलेश्वर नामक शिवलिंगों की स्थापना वर्णित है। उदिताचार्य ने अपने को भगवान् कुशिक से दशम बतलाया है। लकुलीश कुशिक के गुरु थे। इस प्रकार एक पीढ़ी के लिए २५ वर्ष मानकर लकुलीश का समय १०५ ई० के आसपास सिद्ध होती है—और यह वही समय है जब कुषाण नरेश हुविष्क के सिक्कों पर लगुडधारी शिव की मूर्तियाँ मिलती हैं।

पाशुपत

पाशुपत मत के अनुसार पाँच पदार्थ हैं—(१) कार्य, (२) कारण, (३) योग, (४) विधि, (५) दुःखान्त। 'कार्य' उसे कहते हैं जिसमें स्वातन्त्र्य शक्ति न हो। इसके अन्तर्गत जीव तथा जड़ दोनों का समावेश है। जगत् की सृष्टि, संहार तथा अनुग्रह करने वाले महेश्वर को 'कारण' कहते हैं। ज्ञानशक्ति तथा प्रभुशक्ति से युक्त होने के कारण उसकी पारिभाषिक संज्ञा 'पति' है। वह इस सृष्टि का केवल निमित्त कारण-मात्र है। अर्थात् वह उपादान कारण नहीं है। चित्त के द्वारा आत्मा और ईश्वर के सम्बन्ध को 'योग' कहते हैं। महेश्वर की प्राप्ति कराने वाला व्यापार 'विधि' कहलाता है। प्रत्येक जीव मिथ्याज्ञान, अधर्म, शक्ति हेतु, च्युति तथा पशुत्व नामक

पाशुपत—अनुसार पदार्थ

---

[1] द्रष्टव्य—ब्रह्मसूत्र २।२ १४२-४६ पर शङ्करभाष्य। पाञ्चरात्रों के विशेष मत के लिए द्रष्टव्य 'भारतीय दर्शन' (बलदेव उपाध्याय द्वारा रचित, नवीन संस्करण) पृष्ठ ४५८-४७२

मलों से युक्त रहता है। ये 'मल' जब सदा के लिए निवृत्त हो जाते हैं तब उन्हें 'दुःखान्त' या मोक्ष कहते है। पाशुपतों के ये पाँच तत्त्व नितान्त प्राचीन हैं। सौभाग्यवश पाशुपतों का मूल सूत्रग्रन्थ महेश्वर रचित 'पाशुपत-सूत्र' अनन्त शयन ग्रन्थमाला में (नं० १४३) कौण्डिन्य कृत 'पञ्चार्थी-भाष्य' के साथ अभी प्रकाशित हुआ है।[1]

३—कापालिक मत

यह एक उग्रशैव तान्त्रिक सम्प्रदाय था। इस सम्प्रदाय के लोग माला, अलङ्कार, कुण्डल, चूड़ामणि, भस्म और यज्ञोपवीत ये छः मुद्रिकाएँ धारण करते थे। भवभूति ने मालतीमाधव में श्रीशैल पर्वत को कापालिकों का मुख्य स्थान बतलाया है। 'प्रबोधचन्द्रोदय' के तृतीय अङ्क में इस मत का परिचय दिया गया है। 'कर्पूरमञ्जरी' में राजशेखर ने भैरवानन्द नामक कापालिक की अलौकिक शक्ति का परिचय दिया है। ये लोग मनुष्यों की हड्डियों की माला पहनते थे, श्मशान में रहते थे, आदमी की खोपड़ी में खाते थे, परन्तु योगाभ्यास के कारण विलक्षण सिद्धियाँ इन्हें प्राप्त थीं। इनकी पूजा बड़े उग्र रूप की थी, जिसमें मद्य और मांस का प्रचुर प्रयोग होता था। 'शिवपुराण' में इन्हें 'महाव्रतधर' कहा गया है। मद्य पीकर लाल-लाल आँखें किए हुए मस्ती में झूमने वाले भैरवानन्द की यह उक्ति कापालिकों के वास्तविक स्वरूप को प्रकट करती है[2]—

कापालिक

मंतो ण तंतो ण अ किंपि जाणं
झाणं च णो किंपि गुरुप्पसादा।
मज्जं पिआमो महिलं रमामो
मोक्खं च जामो कुलमग्ग लग्गा॥

[मैं मन्त्र नहीं जानता, तन्त्र नहीं जानता। न तो हमारे जैसा कोई दूसरा ज्ञान है। मुझे तो केवल एक वस्तु इष्ट है, वह है गुरु का प्रसाद। ध्यान से भी हमें कुछ लेना देना नहीं। हम मद्य पीते हैं और रमणियों के साथ रमण करते हैं और कुलमार्ग में अनुरक्त होकर इसी सरल उपाय से हम मोक्ष प्राप्त कर लेते हैं]

शङ्कर के समय इस मत का खूब प्रचार था। माधव ने 'श्री पर्वत' पर रहने वाले उग्र भैरव कापालिक के विशेष प्रभाव का वर्णन किया है। कर्णाटक देश में भी इनकी प्रभुता बहुत अधिक थी। यहाँ के कापालिकों के सरदार का नाम था क्रकच। उसके यहाँ हथियारबन्द कापालिकों की सेना रहती थी जिसकी सहायता से वह जिसे चाहता था उसे अपने मत में दीक्षित किया करता था। शिलालेखों से

---

[1] विशेष द्रष्टव्य, 'भारतीय दर्शन', पृष्ठ ५५४-५५; ५६६-५७०

[2] 'कर्पूरमञ्जरी'-प्रथम यवनिकान्तर, श्लोक २२

भी कापालिकों के प्रभुत्व का परिचय मिलता है। ६३६ ई० का एक शिलालेख है जिसमें महाराज पुलकेशी द्वितीय के पुत्र नागवर्धन के कापालेश्वर की पूजा के लिए कुछ भूमिदान करने का उल्लेख है।

४—शाक्तमत

शक्ति की उपासना भारतवर्ष में वैदिक काल से ही चली आती है। वेद में भी शक्ति के यथार्थ स्वरूप का वर्णन उपलब्ध होता है। धीरे-धीरे शक्ति की उपासना का प्रचार देश के कोने-कोने में फैल गया। अपनी रुचि के अनुसार भिन्न-भिन्न प्रान्त वालों ने इस पूजा में हेर-फेर कर दिया। इस मत के प्रतिपादक ग्रन्थ आगम या तन्त्र कहलाते हैं। सात्विक आगमों को 'तन्त्र', राजस को 'यामल' तथा तामस को 'डामर' कहते हैं। भगवान शङ्कर के मुख पञ्चक से उत्पन्न होने के कारण आगमों के पाँच आम्नाय होते हैं—पूर्व, दक्षिण, पश्चिम, उत्तर तथा ऊर्ध्व। इन आम्नायों के अनुसार पूजनपद्धति में भी पार्थक्य है। प्रान्तों की विभिन्नता के कारण तो है ही। तांत्रिक पूजा के तीन प्रधान केन्द्र प्राचीन भारत में थे, जिनमें शक्तिपूजा का विधान भिन्न-भिन्न द्रव्यों से किया जाता था। इन केन्द्रों के नाम हैं—केरल, काश्मीर तथा कामाख्या। मद्य, मांस आदि पञ्चमकारों का निवेश तान्त्रिक पूजा में आवश्यक बताया जाता है, पर केरल में इनके स्थान पर दुग्ध आदि अनुकल्पों का प्रयोग किया जाता था। काश्मीर में केवल इन तत्त्वों की भावना की जाती थी। केवल गौड़ देश की पूजा में इन द्रव्यों का प्रत्यक्ष उपयोग होता था। आरम्भ में शक्ति-पूजा सात्विक रूप में ही होती थी। परन्तु पीछे लोलुप-उपासकों ने उसे नितान्त तामस बना दिया था। यह बड़ी भ्रान्त धारणा है कि शङ्कर तन्त्र के विरोधी थे। वे तो तान्त्रिक उपासना के बड़े भारी उन्नायक थे। परन्तु उनकी उपासना सात्विक मार्ग की थी, जिसमें वेद-विहित अनुष्ठान से तथा उपनिषद्-प्रतिपादित तथ्यों से किसी प्रकार का विरोध नहीं था।

५—गाणपत्य मत

गणपति[1] के उपासक को 'गाणपत्य' कहते हैं। यह उपासना भी वैदिक-कालीन ही है और प्राचीन है, परन्तु कालान्तर में तामसिक तन्त्रों का प्रयोग इनमें भी होने लगा। विशेष कर 'उच्छिष्ट' गणपति की उपासना मद्यमांस के उपहार से आप्लुत होती थी। शङ्कर के समय में भी इस उपासना के अड्डे थे। दक्षिण की वक्रतुण्डपुरी को चिद्विलास यति ने गाणपत्य उपासना का केन्द्र

[1] गणपति के स्वरूप तथा इतिहास के लिए देखिए, बलदेव उपाध्याय—धर्म और दर्शन (नवीन सं०, काशी, १९६१)

बतलाया है। अनन्तानन्द गिरि ने गणवरपुर नामक नगर में इस उपासना की प्रधानता स्वीकृत की है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि षष्ठ-सप्तम शतक में भारतवर्ष नाना मतों, सम्प्रदायों तथा पन्थों की प्रचारभूमि बन चुका था जो उसे मूल वैदिक धर्म से खींच कर एक ओर शून्यवाद की ओर ले जा रहे थे, दूसरी ओर अनेकान्तवाद की ओर ढकेल रहे थे और तीसरी ओर मद्यमांस-बहुल तान्त्रिक उपासना के गड्ढे में गिरा रहे थे। बेचारे विशुद्ध वैदिक धर्म के लिए यह महान् सङ्कट का युग था। वैदिक धर्म किसी उद्धारक की ओर टकटकी लगाए हुए था। ऐसे वातावरण में आचार्य शङ्कर का आविर्भाव हुआ। वे भगवान् की दिव्य विभूति थे, जिसकी प्रभा आज भी भारतवर्ष को उद्भासित कर रही है।

———

चतुर्थ परिच्छेद

आविर्भावकाल

शंकराचार्य के आविर्भाव समय का निर्णय सब से बड़ी समस्या है जिसके हल करने का प्रयत्न अनेक विद्वानों ने किया है, परन्तु अभी तक हम किसी असंभ्रान्त निर्णय पर नहीं पहुँच सके हैं। आचार्य ने अपने किसी भी ग्रन्थ में रचनाकाल का कहीं भी निर्देश नहीं किया है। ऐसा यदि होता, तो हम उनके समय के निरूपण करने में सर्वथा समर्थ होते। इनके समय के विषय में आधुनिक विद्वानों—पाश्चात्य तथा भारतीय—ने बड़ी छानबीन की है।[1] प्राचीन काल के विद्वानों में इस विषय की काफी चर्चा रही है। विक्रम-पूर्व षष्ठ शतक से लेकर नवम शतक विक्रमी तक के सुदीर्घ-काल में उनका आविर्भाव भिन्न-भिन्न मतों के अनुसार माना जाता है। इन दोनों प्रकार के प्रमाणों को एकत्र कर शंकर के समय-निरूपण करने का प्रयत्न यहाँ किया जा रहा है।

आचार्य शङ्कर के साक्षात् शिष्यों के द्वारा रचित ग्रन्थों में भी समय का निर्देश नहीं मिलता। शांकरभाष्य (शारीरक भाष्य) के सब से प्राचीन टीकाकार, जिनके समय का पता हमें दृढ़ प्रमाणों के आधार पर चलता है, वाचस्पति मिश्र हैं। इन्होंने भामती नामक पाण्डित्यपूर्ण टीका ब्रह्मसूत्र के ऊपर शांकरभाष्य पर लिखी है। इसके अतिरिक्त इन्होंने अन्य दर्शनों के उपर भी प्रामाणिक ग्रन्थों का निर्माण किया है। इन्होंने 'न्यायसूची निबन्ध' नामक अपने ग्रन्थ में रचनाकाल ८९८ संवत् (वस्वङ्क वसु वत्सरे) लिखा है[2]। यद्यपि यहाँ पर किसी विशेष सम्वत्

---

[1] विद्वानों के कतिपय मत इस प्रकार हैं—१—कोलब्रूक के अनुसार ८०० ई० से लेकर ६०० ई० तक; २—टेलर ८०० ई०; ३—हागसन ८०० ई०; ४—विलसन ८००-६०० तक; ५—मेकेनजी ५०० ई०; ६—मैक्समूलर, ७—कृष्णस्वामी तथा ८—पाठक ७८८ ई०; ९—रामावतार शर्मा ७०१ शक से लेकर ७६५ शक तक; १०—तेलङ्ग तथा—११ तिलक ६८८ ई०; १२—राजेन्द्र नाथ घोष ६८६ ई० (६०८ शक)। इन नाना-मतों का प्रतिपादन भिन्न-भिन्न ग्रन्थों में है जिनका उल्लेख अनावश्यक समझ कर यहाँ नहीं किया जा रहा है।

[2] न्यायसूची निबन्धोऽयमकारि विदुषां मुदे।
श्रीवाचस्पतिमिश्रेण वस्वङ्क वसु वत्सरे॥

का उल्लेख नहीं मिलता, तथापि यह निश्चय ही विक्रम संवत् है। ऐतिहासिक आलोचना से ही यही बात सिद्ध होती है। वाचस्पति के अनन्तर मिथिला में उदयनाचार्य हुए जिन्होंने वाचस्पति की 'वार्तिक न्यायतात्पर्यटीका' पर 'परिशुद्धि' नामक व्याख्या लिख कर न्याय के ऊपर किये गये बौद्ध आक्षेपों का यथावत् खण्डन किया। उदयन ने 'लक्षणावली' की रचना ६०६ शाकाब्द में की[1]। यदि 'न्यायसूचीनिबन्ध' में उल्लिखित संवत् शकसंवत् ही होता, तो इन दोनों ग्रन्थों में केवल आठ वर्ष का अन्तर होता। पर ऐतिहासिक दृष्टि से दोनों ग्रंथकारों की समसामयिकता सिद्ध नहीं होती। अतः स्पष्ट है कि वाचस्पति ने विक्रम-संवत् का ही निर्देश किया है। इसलिये भामतीकार का समय ईस्वी के नवम शतक का मध्य भाग (८४१ ई०) है। आचार्य शंकर के समय की यही अन्तिम अवधि है, जिससे पूर्व उनका होना निर्विवाद है। शंकर का आविर्भावकाल नवम शतक के मध्यकाल से पूर्व में ही होना चाहिए, इसमें किसी भी विद्वान् का मतभेद नहीं है।

(१) मठों की परम्परा

पूर्वतम अवधि

आचार्य शंकर के समय की पूर्वतम अवधि कौन है? इसके भी उत्तर अनेक हैं। काञ्ची के कामकोटि पीठ के अनुसार आचार्य का जन्म २५९३ कलि या युधिष्ठिर सम्वत् (५०९ ईस्वी पूर्व) में हुआ था, तथा उनका देहावसान २६२५ कलि सम्वत् (४७६ ई० पूर्व) में ३२ वर्ष की अवस्था में माना जाता है।

काम कोटि की परम्परा

भारतीय परम्परा के अनुसार शंकर की आयु तिरोधान के समय ३२ वर्ष की थी। इससे विरुद्ध मत भी कहीं-कहीं मिलते अवश्य हैं, परन्तु मान्य परम्परा से विरुद्ध होने के कारण हम उसमें आस्था नहीं रखते।[2] कामकोटि के मठाम्नाय के अनुसार उस पीठ पर आसीन होने वाले आचार्यों में ५ आचार्य शंकर नामधारी थे जिनका तिरोधान भिन्न-भिन्न समय में हुआ। आद्य शंकराचार्य का तिरोधान हुआ २६२५ कलि संवत् में। कृपाशंकर का ६९ ईस्वी में, उज्ज्वलशंकर का ३६७

[1] तर्काम्बराङ्क (६ ० ९) प्रमितेष्वतीतेषु शकान्ततः।
वर्षेषूदयनश्चक्रे सुबोधां लक्षणावलीम्॥

[2] इससे नितान्त विरुद्ध होने के कारण वेंकटेश्वर का यह मत मान्य नहीं हो सकता कि शंकर कि आयु ८५ वर्ष की थी। 'देव्यपराधक्षमापनस्तोत्र' शङ्कर-रचित प्रसिद्ध है। उससे पता चलता है कि उसके लेखक की उम्र ८५ वर्ष की थी—

ईस्वी में, मूकशंकर का ४३७ ई० में, और अभिनवशङ्कर का ८४० ईस्वी में। ये चारों आचार्य कामकोटि के पीठाधीश थे और प्रथम पीठाधीश सर्वज्ञात्मा से क्रमश: सप्तम, चतुर्दश, अष्टादश तथा षड्त्रिंश (छत्तीसवें) स्थानापन्न अधीश्वर थे।[1] इन चारों आचार्य के नाम-साम्य से आद्यशङ्कर के समय निरूपण में बड़ी गड़बड़ी हो गई है। आजकल अधिकांश विद्वान् आद्यशङ्कर का जन्म ७८८ ईस्वी मानते हैं, यह समय वस्तुत: ऊपर निर्दिष्ट पञ्चम आचार्य—अभिनवशङ्कर — के जन्म ग्रहण करने का है। इस आचार्य का जन्म चिदम्बर में हुआ था। ये काश्मीर नरेश जयापीड़ विनयादित्य के समकालीन थे, जिनके सभापण्डित वाक्पति भट्ट ने इनका जीवनचरित 'शङ्करेन्दुविलास' में लिखा है। इस आचार्य का[2] जीवन चरित आद्यशङ्कर के साथ इतना अधिक मिलता-जुलता है कि इनसे सम्बद्ध घटनायें आदिशङ्कर के ऊपर आरोपित की गई हैं। ७८८ ई० में इन्हीं अभिनव शङ्कर का जन्म हुआ था, परन्तु आधुनिक विद्वानों ने भ्रमवशात् इस समय को आद्यशङ्कर का जन्म संवत् मान लिया है। अत: कामकोटि की परम्परा के अनुसार आद्यशङ्कर का समय ईस्वी-पूर्व ५०८ से लेकर ई० पू० ४७६ है।

द्वारिका मठ के अनुसार शंकर का आविर्भाव २६३१ कलि सम्वत् में हुआ था। इस प्रकार काञ्ची और द्वारिका दोनों मठों के अनुसार आचार्य का जन्म ईस्वी-पूर्व पञ्चम शतक प्रतीत होता हैं। दोनों में अन्तर इतना ही है कि काञ्ची के अनुसार आचार्य का तिरोधान जिस सम्वत् में (२६२५ कलि सं०) में माना जाता है, उससे ६ वर्ष ही पूर्व द्वारिका के शारदा मठ आचार्य का जन्म माना जाता

द्वारिकामठ की परम्परा

---

[1] परित्यक्त्वा देवान् विविध-विधि-सेवा-कुलतया
मया पञ्चाशीतेरधिकमपनीते तु वयसि।
इदानीं चेन्मातस्तव यदि कृपा नापि भविता
निरालम्बो लम्बोदरजननि कं यामि शरणम्॥

इस पद्य के आधार पर श्री वेंकटेश्वर ने आचार्य को ८५ से अधिक जीने वाला (समय ८०५—८९७ ई० तक) माना है। इसकी बड़ी बुराई यह है कि इसके अनुसार शङ्कर और वाचस्पति समकालीन हो जाते हैं। यह स्तोत्र आद्यशङ्कर की रचना है, इसमें कोई प्रबल प्रमाण नहीं मिलता। अत: शङ्कर को इतना दीर्घजीवी (८५ वर्ष) मानना कथमपि सिद्ध नहीं होता। श्री वेंकटेश्वर के मत के लिए द्रष्टव्य I. R. A. S. (1916) pp. 151—162.

[2] द्रष्टव्य N. Venkat Raman : Sankacharya the Great and His Succesrossin Kanchi, pp. 18-19. (Madras)

है। इस अन्तर के सिवाय दोनों मत में आचार्य के समय को पूर्वतम अवधि ईस्वी-पूर्व पञ्चम शतक है।

'केरलोत्पत्ति' नामक ग्रंथ के अनुसार शंकर का समय ३५०१ कलि वर्ष (४०० ई०) अर्थात् ईस्वी का चतुर्थ शतक है।[१] इस मत में एक और भी विशिष्टता है।

केरल परम्परा साधारणतः आचार्य का देहावसान ३२ वर्ष की आयु में मानने के पक्ष में परम्परा उपलब्ध है, परन्तु इस ग्रंथ में उनका अवसान ३८ वें वर्ष में माना गया है।

मत की समीक्षा

शंकर के ग्रंथों की अन्तरङ्ग परीक्षा करने से पूर्वोक्त तीनों मतों की अयथार्थता सिद्ध की जा सकती है। आचार्य ने ब्रह्मसूत्र के द्वितीय अध्याय के द्वितीय पाद (तर्कपाद) में अपने भाष्य में बौद्ध आचार्यों के मतों का उल्लेख ही नहीं किया है, प्रत्युत उनके प्रसिद्ध ग्रन्थों से तत्तत् वाक्यों को भी उद्धृत किया है। ये उद्धरण बड़े महत्त्व के हैं क्योंकि इनसे सिद्ध होता है कि शंकर का समय उन बौद्ध पण्डितों से पीछे ही होना चाहिये जिनका उद्धरण उन्होंने स्वयं किया है। अब इन उद्धरणों ही छान-बीन संक्षेप में की जा रही है :—

(क) शंकर और दिङ्नाग

(१) ब्रह्मसूत्र (२।२।२८) मे भाष्य में आचार्य का कथन है—

नहि कश्चिदुपलब्धिमेव स्तम्भः कुड्यं चेत्युपलभन्ते उपलब्धिविषयत्वेनैव तु स्तम्भकुड्यादीन् सर्वे लौकिका उपलभन्ते। अतश्चैवमेव सर्वे लौकिका उपलभन्ते यत् प्रत्याचक्षाणा अपि बाह्यार्थमेव व्याचक्षते 'यदन्तर्ज्ञेयरूपं तद् बहिर्वदवभासत' इति।

इस उद्धरण का तात्पर्य यह है कि बौद्ध लोग इस विश्व को विज्ञान का ही रूप मानते हैं। जगत् के पदार्थ सत्य नहीं हैं, प्रत्युत वे विज्ञान के आकार-मात्र हैं। इस पर आचार्य की समीक्षा है कि कोई भी पुरुष खम्भे या दीवाल को ज्ञान रूप नहीं समझता, बल्कि इन्हें ज्ञान का विषय मानता है। विज्ञानवादी बाह्य अर्थ का प्रत्याख्यान (निषेध) करते हुए कहते हैं कि जो अन्तःज्ञेयरूप है वही बाहरी अर्थ के समान प्रतिभासित होता है। आचार्य इस उक्ति को युक्तियुक्त नहीं मानते। दो वस्तुओं की समानता तभी की जाती है जब वे दोनों परस्पर भिन्न हों। हम लोक में कहते हैं—यज्ञदत्त देवदत्त के समान है। 'देवदत्त वन्ध्यापुत्र के समान है'—यह तो कभी नहीं कहते, क्योंकि वन्ध्यापुत्र की सत्यता है ही नहीं। इसी प्रकार यदि बाह्य अर्थ झूठा है, काल्पनिक है, तो

---

[१] Indian Antiquary, vol. VII, p. 282

मानस वस्तु को बाह्य वस्तु के समान बतलाना नितान्त असत्य है। अतः विज्ञानवादियों का यह कथन कथमपि प्रामाणिक नहीं माना जा सकता।[1]

पूर्वोक्त उद्धरण में 'यदन्तर्ज्ञेयरूपं' वाला पद्यांश बौद्ध नैयायिक दिङ्नाग की 'आलम्बनपरीक्षा' नामक ग्रन्थ से उद्धृत किया गया है। दिङ्नाग की पूरी कारिका यह है—यदन्तर्ज्ञेयरूपं तद् बहिर्वदवभासते सोऽर्थो विज्ञानरूपत्वात् तत् प्रत्ययतयापि च।

'आलम्बन परीक्षा' दिङ्नाग का नितान्त स्वल्पकाय ग्रन्थ है। इसमें केवल आठ कारिकायें हैं। पूर्वोक्त कारिका छठी कारिका है। यह बहुत ही प्रसिद्ध तथा लोकप्रिय है। आचार्य कमलशील ने तत्त्वसंग्रह की टीका (पृष्ठ ५८२) में इस पूरी कारिका को इस सन्दर्भ के साथ उपस्थित किया है—आचार्य दिङ्नागपदैः आलम्बनप्रत्ययव्यवस्थार्थमुक्तम् (अर्थात् आचार्य दिङ्नाग ने आलम्बन के ज्ञान की व्यवस्था के लिये यह कारिका लिखी है)। यह कारिका शंकर के समय में इतनी प्रसिद्ध थी कि इसके लेखक का निर्देश उन्होंने नहीं किया। आचार्य दिङ्नाग वसुबन्धु के प्रधान शिष्यों में अन्यतम थे। अतः उनका समय ईस्वी की पाँचवी शताब्दी हैं। शङ्कर का समय इससे पूर्व कथमपि नहीं हो सकता।

(ख)—शंकर और धर्मकीर्ति

शङ्कराचार्य धर्मकीर्ति के मत तथा ग्रंथ से परिचित जान पड़ते हैं। धर्मकीर्ति (६३५-६५० ई०) के समान प्रकाण्ड विद्वान् बौद्ध दर्शन के इतिहास में शायद ही दूसरा हुआ। उनका 'प्रमाण-वार्तिक' दार्शनिक ज्ञान की कसोटी है। इनके सिद्धान्त से सुरेश्वराचार्य (जो शंकराचार्य के साक्षात् शिष्य थे) खूब परिचित थे. इसका पता निम्नलिखित पद्य से चलता है जिसमें धर्मकीर्ति के नाम का स्पष्ट उल्लेख है—

---

[1] आचार्य के द्वारा विज्ञानवाद के खण्डन के लिए देखिए—बलदेव उपाध्याय रचित 'भारतीय दर्शन', पृ० २२६-२२७

[2] 'आलम्बन परीक्षा' तथा इसकी वृत्तियों के अनुवाद तिब्बती तथा चीनी भाषाओ में मिलते हैं। ग्रन्थ छोटा होने पर भी नितान्त महत्त्वपूर्ण है। इसके ऊपर दिङ्नाग की अपनी वृत्ति है, जिसके दो अनुवाद चीनी भाषा में हैं—परमार्थ का तथा दूसरा ह्वेन च्वांग का। धर्मपाल (६२५ ई०) तथा विनीतदेव (७०० ई०) के द्वारा रचित मूल अर्थ को विशदरूप से प्रकट करने वाली वृत्तियाँ भी हैं जिनमें विनीतदेव की तिब्बती में तथा धर्मपाल की 'इचिङ्' के द्वारा चीनी भाषा में सुरक्षित हैं। इन सब का संस्कृत में पुनः अनुवाद अय्या स्वामी शास्त्री ने किया है जिसे अड्यार लाइब्रेरी, मद्रास ने १९४२ में प्रकाशित किया है।

त्रिष्वेव त्वविनाभावादिति यद् धर्मकीर्तिना ।
प्रत्यज्ञायि प्रतिज्ञेयं हीयेतासौ न संशयः ।।

—बृहदारण्यक भाष्य वार्तिक (४।३)

इतना ही नहीं, आनन्द गिरि की सम्मान्य सम्मति में यह पद्य धर्मकीर्ति का ही है :—

अभिन्नोऽपि हि बुद्धयात्मा विपर्यासितदर्शनैः ।
ग्राह्य-ग्राहक-संवित्ति-भेदवानिव लक्ष्यते ।।

[आशय है कि विज्ञान (बुद्धि) एकाकार ही सर्वत्र रहता है परन्तु जिन लोगों की दृष्टि भ्रान्त है वे उस में ग्राह्य (पदार्थ), ग्राहक (पुरुष) तथा संवित्ति (ज्ञान) ऐसा तीन भेद करते हैं । यह भेद कल्पित है, मिथ्या दृष्टि से विजृम्भित है । विज्ञान एक अद्वैत अभिन्न पदार्थ है, परन्तु भ्रान्ति से वह त्रिविध के समान दीख पड़ता है]

यह महत्वपूर्ण श्लोक ब्राह्मणों के दार्शनिक ग्रन्थों में अनेकत्र उल्लिखित किया गया है । माधवाचार्य ने 'सर्वदर्शन-संग्रह' के बौद्ध दर्शन के परिच्छेद में इसे उद्धृत किया है । सुरेश्वराचार्य के विशालकाय विद्वत्तामण्डित ग्रंथ—बृहदारण्यक भाष्य वार्तिक (४।३। ४७६)—में यह उद्धृत किया गया है । इतना ही नहीं, शङ्कराचार्य के 'उपदेशसाहस्री' नामक ग्रन्थ के १८वें अध्याय (१४२वाँ श्लोक) में भी यह पद्य मिलता है । 'उपदेशसाहस्री' आचार्य शङ्कर की निःसन्दिग्ध रचना है, क्योंकि उनके साक्षात् शिष्य सुरेश्वर ने 'नैष्कर्म्यसिद्धि' में इससे अनेक पद्यों का उद्धरण दिया है । इस उद्धरण से इतना स्पष्ट है कि धर्मकीर्ति के ग्रन्थ तथा श्लोक से आचार्य परिचित थे ।

ब्रह्मसूत्र २।२।२८ के भाष्य में शङ्कराचार्य ने धर्मकीर्ति के प्रसिद्ध श्लोक की सूचना दी है । प्रसङ्ग विज्ञानवाद के खंडन का है । आचार्य का कथन उनके ही सुन्दर शब्दों में इस प्रकार है—

इह तु यथास्वं सर्वैरेव प्रमाणैर्बाह्योऽर्थ उपलभ्यमानः कथं व्यतिरेकाव्यतिरेकादि विकल्पैर्न संभवतीत्युच्येत उपलब्धेरेव । न च ज्ञानस्य विषयसारूप्याद् विषयनाशो भवति, असति विषये विषयसारूप्यनुपपत्तेः बहिरुपलब्धेश्च विषयस्य । अतएव सहोपलम्भनियमोऽपिप्रत्ययविषययोरुपायोपेयभावहेतुकः, नाभेदहेतुकः इत्यभ्यु-पगन्तव्यम् ।

[इस अंश का यह तात्पर्य है कि सब प्रमाण अलग-अलग अपनी शक्ति से बाह्य अर्थ की सत्ता को बतलाते हैं । जब बाहरी अर्थ से लोक-व्यवहार में कार्य होता है, अनुभव किया जाता है, तब तो उसकी सत्यता की अवहेलना कथमपि नहीं की जा सकेगी । यदि आक्षेप किया जाय कि ज्ञान और विषय का तो सारूप्य

हो जाता है (अर्थात् वे दोनों एक ही रूप में हो जाते हैं) तब विषय का नाश हो जायगा, तो यह कथन युक्तियुक्त नहीं है। विषय के न होने पर विषय का सारूप्य ही नहीं हो सकता—ज्ञान बाह्य विषय के आकार को तभी प्राप्त कर सकता है जब बाह्य वस्तु सचमुच विद्यमान हो। उसके अभाव में विषय-सारूप्य उत्पन्न ही नहीं हो सकता। विषय की उपलब्धि प्रत्यक्षादि प्रमाणों से होती है। यदि कहा जाय कि विषय और ज्ञान की उपलब्धि एक साथ ही होती है (सहोपलम्भ) अतः दोनों में एकता है। आचार्य इस पर कहते हैं—नहीं, यह नियम उपाय और उपेयभाव के कारण होता है, अभेद के कारण नहीं]

इस उद्धरण में जिस सहोपलम्भनियम का निर्देश, है वह धर्मकीर्ति के इस प्रसिद्ध श्लोक की ओर संकेत कर रहा है। यह प्रसिद्ध कारिका इस रूप में मिलती है—

सहोपलम्भ-नियमादभेदो नील-तद्धियोः ।
भेदश्च भ्रान्त-विज्ञानैर्दृश्येतेन्दाविवाद्वये ॥

इस कारिका का पूर्वार्ध धर्मकीर्ति के 'प्रमाणविनिश्चय' में तथा उत्तरार्ध 'प्रमाणवार्तिक' में उपलब्ध होता है। इन प्रमाणों से सिद्ध होता है कि शङ्कराचार्य धर्मकीर्ति के ग्रंथों से परिचित थे।[1] अतः उनका समय सप्तम शतक के मध्यभाग से पहिले कभी भी नहीं हो सकता।

(३) शङ्कराचार्य ने ब्रह्मसूत्र २।२।२२, तथा २।२। २४ में दो बौद्धाचार्यो के वचनों को उद्धृत किया है। इनमें पहला वचन गुणमति रचित अभिधर्म कोश

---

[1] धर्मकीर्ति का समय प्रायः ६३५ से ६५० तक माना जा सकता है। ये धर्मकीर्ति नालन्दा बिहार के अध्यक्ष आचार्य धर्मपाल के शिष्य थे और धर्मपाल के परवर्ती नालन्दा के अध्यक्ष आचार्य शीलभद्र के सहाध्यायी थे। ये धर्मकीर्ति दिङ्नाग के शिष्य ईश्वरसेन के शिष्य बतलाये जाते हैं।

इन्होंने प्रमाणशास्त्र (न्याय) के ऊपर ही अपने सातों ग्रंथ लिखे हैं। इन ग्रन्थों के नाम हैं—(१) प्रमाणवार्तिक (१४५४, १/२ कारिकायें—नितान्त प्रौढ़ नैयायिक ग्रन्थ), (२) न्यायबिन्दु (१७७ श्लोक), (३) हेतुबिन्दु (४४४ श्लोक), (४) प्रमाणविनिश्चय (१३४० श्लोक), (५) वादन्याय (वाद विषयक ग्रन्थ), (६) सम्बन्धपरीक्षा (२९ कारिकाओं में क्षणिकवाद के अनुसार कार्य-कारण भाव का निरूपण), (७) सन्तानान्तरसिद्धि (७२ सूत्र)। इन ग्रन्थों में तीन (१,२,५) मूल संस्कृत में छपे हैं। हेतुबिन्दु मिला है पर प्रकाशित नहीं हुआ है। शेष के तिब्बती अनुवाद ही मिलते हैं। कुमारिल के ग्रंथों में भी धर्म-कीर्ति के मत का खण्डन है। द्रष्टव्य मेरी प्रस्तावना—शंकर दिग्विजय का भाषानुवाद, पृ० २८-३२

व्याख्या में उपलब्ध होता है। इन गुणमति का समय सप्तमशतक का मध्यम भाग (६३० ई० ६४० ई०) है।

इन बौद्ध उद्धरणों के देने से यह स्पष्ट है कि आचार्य शंकर का समय सप्तम शताब्दी के मध्यभाग से कथमपि पूर्व नहीं हो सकता। ऐसी दशा में काञ्ची तथा द्वारका मठों के सम्प्रदायानुसार उन्हें ईस्वी पूर्व पञ्चम शताब्दी में और केरलोत्पत्ति के अनुसार ईस्वी चतुर्थ शताब्दी में मानना कथमपि युक्तिसंगत नहीं प्रतीत होता। अतः इस मत में हम आस्था नहीं रख सकते।

२----प्रचलित मत

आधुनिक विद्वानों की यह दृढ़ धारणा बन गई है कि शंकराचार्य का समय ८४५ विक्रमी से ८६७ विक्रमी तक (७८८ ई०—८२० ई०) है। इस मत की उद्भावना तथा पुष्टि करने का समस्त श्रेय स्वर्गवासी डा० के० बी० पाठक को मिलना चाहिए, जिन्होंने विभिन्न प्रमाणों के द्वारा इस मत को सिद्ध तथा प्रचलित करने का साभिनिवेश प्रयत्न किया[1]। कृष्ण ब्रह्मानन्द रचित 'शंकरविजय' में शंकर का जन्मकाल इस प्रकार से दिया गया है—

निधिनागेभ वह्न्यब्दे विभवे शंकरोदयः।
कलौ तु शालिवाहस्य सखेन्दु शतसप्तके॥
कल्यब्दे भूदृङ्ङ्ग्निसम्मिते शंकरो गुरुः।
शालिवाह शके त्वक्षिसिन्धुसप्तमितेऽयगात्॥

अर्थात् शंकर का जन्म कल्यब्द ३८८९ अथवा शकाब्द ७१० (= ७८८ ईस्वी) तथा तिरोधान ३९२१ अथवा शकाब्द ७४२ में हुआ।

डा० पाठक को बेलगांव में तीन पत्रों की एक छोटी पुस्तक मिली थी जिसके अन्त में कतिपय पद्य में शंकर के जन्म-मरण के संवत् का उल्लेख मिलता है। वे श्लोक ये हैं—

दुष्टाचारविनाशाय प्रादुर्भूतो महीतले।
स एव शंकराचार्यः साक्षात् कैवल्यनायकः॥
अष्टवर्षे चतुर्वेदान् द्वादशे सर्वशास्त्रकृत्।
षोडशे कृतवान् भाष्यं द्वात्रिंशे मुनिरभ्यगात्॥

---

[1]डा० पाठक के लेखों में विशेष द्रष्टव्य—(i) Dharma Kirti and Sankaracharya (B B R A S, XVIII pp. 88-96). (2) Bhartrhari and Kumarila (B B R A S, XVIII pp. 217-238). (3) Position of Kumarila in Digambara Jain Literature (Transactions of the Ninth International Congress of Orientalists. pp. 186-214.

शंकर के जन्मवर्ष का निर्देश इस प्रकार है—निधिनागेभवह्न्यब्दे विभवे शंकरोदय:—अर्थात् ३८८६ कलि ७१० शक में शंकर का जन्म हुआ और ३९३१ कलिवर्ष (७४२ शके = ८२० ईस्वी) में वैशाखपूर्णिमा को ३२ वर्ष की अवस्था में उनका गुहप्रवेश (देहावसान) हुआ[१]—

कल्यब्दे चन्द्रनेत्रांकं—वह्न्यब्दे गुहाप्रवेश: ।
वैशाखे पूर्णिमायां तु शंकर: शिवतामियात् ॥

इस मत की पुष्टि कतिपय अन्य ग्रन्थों से भी होती है। नीलकंठ भट्ट ने अपने 'शंकरमन्दारसौरभ' में इसी मत को स्वीकृत किया है—

प्रासूत तिष्यशारदामतियातवत्या—
मेकादशाधिकशतोनचतु: सहस्त्र्याम् ।
संवत्सरे विभवनाम्नि शुभे मुहूर्ते
राधे सिते शिवगुरोर्गृहिणी दशम्याम् ॥

अर्थात् कलिवर्ष ४०००—१११ = ३८८९ क० व० के वैशाख शुक्ल दशमी तिथि को शिव गुरु की पत्नी से आचार्य का जन्म हुआ। बालकृष्ण ब्रह्मानन्द कृत 'शंकरविजय' में, शंकराभ्युदय में तथा शंकरगिरि के आचार्यस्तोत्र (जगद्गुरु-परम्परास्तोत्र) में शंकर के आविर्भाव तथा तिरोभाव के विषय में पूर्वोक्त मत अङ्गीकृत किया गया है। आजकल के अधिकांश पुरातत्वज्ञ पंडित लोग इसी मत में आस्था रखते हैं। 'हिन्दचीन' (कम्बोडिया) के एक शिलालेख से भी इस मत को कुछ पुष्टि मिल रही है।[२] चम्पा के अधिपति राजा इन्द्रवर्मन् (राज्यकाल ८७७ ई०—८८९ ई०) के गुरु शिवसोम का कथन है कि उन्होंने समस्त विद्वानों के द्वारा सत्कृत भगवत् शंकर से समस्त विद्यायें पढ़ी थीं[3]। ये शिवसोम कम्बोज के राजा जयवर्मन् द्वितीय (८०२ ई०--८६९ ई०) के मातुल के पौत्र थे। अत: इनका समय नवम शतक सिद्ध होता है। शंकर के प्रथम 'भगवत्' शब्द का प्रयोग यही सूचित करता है कि यहाँ आद्यशंकर से ही अभिप्राय

---

[१] द्रष्टव्य Indian Antiquary, 1882 pp. 173-75.

[२] द्रष्टव्य Nilakantha Sastri--A Note on the Date of Sankara, J. O. R. Vol XI. 1937 p. 285.

[3] येनाधीतानि शास्त्राणि भगवच्छंकराह्वयात् ।
नि:शेष सूरि मूर्धालिमालालीढाङ्घ्रिपङ्कजात् ॥ ३९ ॥
सर्वविद्यैकनिलयो वेदवित् विप्रसम्भव: ।
शासको यस्य भगवान् रुद्रो रुद्र इवापर: ॥ ४० ॥

Inscription du Combodge, edited by G. Coedes, Vol. 1 pp. 36-46

है। यदि इस शब्द की सूचना यथार्थ हो तो मानना पड़ेगा कि आचार्य की कीर्ति उनके जीवनकाल में ही 'भारत सागर' को पार कर कम्बोज तक पहुँच गई थी और उनके शिष्यों में समुद्रपार के एक विद्वान् भी अन्तर्भुक्त था। शिवसोम के साक्षात् गुरु होने से आचार्य शंकर का समय नवम शतक का प्रारम्भ होना चाहिए।

इस प्रचलित मत के अंगीकार करने के अनेक विप्रतिपत्तियों का सामना करना पड़ेगा। ऊपर हमने सप्रमाण दिखलाया है कि वाचस्पति मिश्र ने अपना 'न्याय-सूचीनिवन्ध' ८४१ ईसवी में लिखा था। उनकी लिखी 'भामती' ही शारीरभाष्य के ऊपर सर्वप्रथम सम्पूर्ण भाष्य की पांडित्यपूर्ण व्याख्या है। आचार्य के जीवन-काल में हो पद्मपादाचार्य ने पञ्चपादिका नामक व्याख्या भाष्य के आरम्भिक भाग पर लिखी थी। 'भामती' में अमलानन्द के 'कल्पतरु' के अनुसार पञ्चपादिका की व्याख्या में अनेक स्थलों पर दोष दिखलाया गया है।

'शब्दादिभ्योऽन्तः प्रतिष्ठानाच्च' (ब्र० सू० १।२।२६) सूत्र के कल्पतरु की सम्मति है – पञ्चपादीकृतस्तु वाजसनेयिवाक्यस्याप्यात्मोपक्रमत्वलाभे किं शाखान्त-रालोचनयेति पश्यन्तः पुरुषमनूद्य वैश्वानरत्वं विधेयमिति व्याचक्षते; तद्दूषयति अतएवेति। अर्थात् यहाँ भामती पञ्चपदिका की व्याख्या में दोष दिखला रही है। प्रसिद्धेश्च (ब्र० सू० १।३।१७) सूत्र 'दहरोऽस्मिन्नन्तराकाशः' के आकाश शब्द का ब्रह्मपरक अर्थ बतलाता है। इसकी भामती में है—ये त्वाकाशशब्दो ब्रह्मण्यपि मुख्य एव नभोवदित्याचक्षते; तैः 'अन्यायश्चानेकर्थत्वमिति च अनन्य लभ्यः शब्दार्थ' इति च मीमांसकानां मुद्राभेदः कृतः। भामती का यह पूर्वपक्ष किसका है ? अमलानन्द का कहना है कि 'पञ्चपादिका' का—पञ्चपाद्यांतु रूढि-रुक्ता तां दूषयति ये त्विति। इन दृष्टान्तों से अमलानन्द (१२ वाँ शतक) की सम्मति में भामती पञ्चपादिका की व्याख्या में दोष दिखलाती है। इतना ही नहीं अद्वैत सम्प्रदाय में वाचस्पति पद्मपाद के अवतार माने जाते हैं। ऐतिहासिकों की दृष्टि में इस कथन का मूल्य विशेष भले न हो तथापि इतना तो उन्हें मानना पड़ेगा कि सम्प्रदायानुसार वाचस्पति का समय पद्मपाद के समय से पीछे का है। वाचस्पति ने भास्कराचार्य की उन व्याख्याओं में दूषण दिखलाया है जिनमें उन्होंने शंकरभाष्य के व्याख्यानों में दोष दिखलाने का प्रयत्न किया है। शांकर-भाष्य की टीका हुई पञ्चपादिका और पञ्चपादिका का खण्डन है भामती में। ऐसी दशा में प्रचलित मतानुसार बीस वर्ष का अन्तर इतना कम है कि वह इतने खण्डन-मण्डन के लिए पर्याप्त नहीं माना जा सकता। जैन दार्शनिक साहित्य की पर्यालोचना से भी यह मत आस्थाजनक नहीं प्रतीत होता। जिनसेन ने अपने 'हरिवंश' की रचना ७०५ शाकाब्द (७८३ ईस्वी) में की है। इन्होंने

अपने ग्रंथों में विद्यानन्द का निर्देश किया है और विद्यानन्द ने अपनी 'अष्टसाहस्री' में सुरेश्वराचार्य के वचनों को बृहदारण्यक भाष्य वार्तिक से उद्धृत किया है।[1] अतः जिनसेन से सुरेश्वर से दो पीढ़ी नहीं तो एक पीढ़ी अवश्य पहले के सिद्ध होते हैं। अर्थात् सुरेश्वर का समय ७५० ई० के आस-पास होना चाहिये और इनके गुरु शंकर का काल इससे भी कुछ पहले मानना ही पड़ेगा। ऐसी अवस्था में जब सुरेश्वराचार्य के गुरु होने से शंकर का समय अष्टम शताब्दी के मध्य भाग से भी प्राचीन ठहरता है, तब उनके अष्टम शताब्दी के अन्त में (७८८ ई०) जन्म ग्रहण करने की बात इतिहास-विरुद्ध ही सिद्ध हो रही है।

३—शङ्कर और कुमारिल

ऐसी विषम स्थिति में शंकर का आविर्भाव कब हुआ? शंकर कुमारिल के समसामयिक माने जा सकते हैं। आचार्य के ग्रन्थों में कुमारिल के नाम का कहीं भी उल्लेख नहीं है, तथापि भारतीय सम्प्रदाय इन दोनों को समकालीन मानने के पक्ष में हैं। माधव ने शंकरदिग्विजय के सातवें सर्ग में प्रयाग में शंकर तथा कुमारिल के परस्पर भेंट होने की घटना का विस्तृत उल्लेख किया है। कुमारिल के मत के समान ही कर्मविषयक मत का उल्लेख शंकर ने उपदेश साहस्री[2] (प्रकरण १८, श्लोक १३९-४१) में और तैत्तिरीय भाष्य के उपोद्घात में किया है। अतः शंकर का कुमारिल के विशिष्ट मत से परिचित होना सिद्ध ही है। बहुत

[1] विद्यानन्द अकलङ्क के शिष्य थे। पट्टावली के अनुसार ये ७५१ ई० में आचार्य पद पर प्रतिष्ठित हुए तथा ३२ वर्ष ४ दिनों तक (७८३ ई०) उस पर अवस्थित थे। अतः इनका स्थितिकाल अष्टम शताब्दी का उत्तरार्ध माना जा सकता है।

[2] स्पष्टत्वं कर्मकर्त्रादेः सिद्धिता यदि कल्प्यते।
स्पष्टताऽस्पष्टते स्यातामन्यस्यैव न चात्मनः ॥१३९॥
अद्रष्टुर्नैव चान्धस्य स्पष्टीभावो घटस्य तु।
कर्मादेः स्पष्टतेष्टा चेद् द्रष्टताऽध्यक्षकर्तृका ॥१४०॥
अनुभूतेः किमस्मिन् स्यात्तवापेक्षया वद।
अनुभवितरीष्टा स्यात्साऽप्यनुभूतिरेव नः ॥१४१॥

सुरेश्वर ने तैत्तिरीयभाष्य वार्तिक (आनन्दाश्रम, पृ० ५, श्लोक ८) में जिस मत को किसी 'मीमांसकम्मन्य' का बतलाया है, वह श्लोकवार्तिक में (पृ० ६७१, श्लोक ११०) उपलब्ध होता है। अतः यह मत निःसन्देह कुमारिल भट्ट का ही है।

सम्भव है कि इन दोनों महापुरुषों को व्यक्तिगत परिचय प्राप्त होने का सुयोग प्राप्त हुआ था। त्रिवेणी के तट पर मीमांसकमूर्धन्य कुमारिल प्रायश्चित्त के निमित्त तुषानल में जब अपने शरीर को जला रहे थे, तब आचार्य से उनकी भेंट हुई। शंकर ने उनसे अपने ब्रह्मभाष्य के ऊपर वार्तिक लिखने के लिए अनुरोध किया तथा जल छिड़क कर उन्हें नीरोग कर देने की बात भी कही, परन्तु कुमारिल ने इस प्रस्ताव को स्वीकृत नहीं किया बल्कि शंकर को अपने शिष्य मण्डन मिश्र के पास भेजा तथा उनके द्वारा वार्तिक बनाने की उन्हें सलाह दी। आचार्य शंकर की अवस्था उस समय केवल १६ वर्ष की थी और कुमारिल नितान्त वृद्ध थे।

कुमारिल का समय अनेक प्रमाणों के आधार पर सप्तम शताब्दी का उत्तरार्द्ध माना जाता है। तिब्बती इतिहास-लेखक तारानाथ ने इन्हें स्राङ्ग-सान गाम्पो राजा का समकालीन बतलाया है जिन्होंने तिब्बत में

कुमारिल

६२७ ई० से लेकर ६५० ई० तक राज्य किया। तिब्बती जनश्रुति के आधार पर कुमारिल तथा धर्मकीर्ति समकालीन थे। धर्मकीर्ति ने ब्राह्मणधर्म का ज्ञान प्राप्त करने के लिए कुमारिल के पास वेश बदल कर सेवक का काम किया था, ऐसी जनश्रुति है। इनका समय प्राय: ६३५ से लेकर ६५० ई० तक माना जा सकता है। ये धर्मकीर्ति नालन्दा विद्यापीठ के अध्यक्ष आचार्य धर्मपाल के शिष्य थे और धर्मपाल के परवर्ती नालन्दा के अध्यक्ष आचार्य शीलभद्र के सहाध्यायी थे। ये दिङ्नाग के शिष्य ईश्वर सेन के भी शिष्य माने जाते हैं। धर्मकीर्ति के प्रत्यक्ष लक्षण 'कल्पनापोढमभ्रान्तम्' का खण्डन श्लोक-वार्तिक में किया गया है। इस प्रकार धर्मकीर्ति के किञ्चित् परवर्ती होने से कुमारिल का समय ६५० ई० के पीछे अर्थात् सप्तम शताब्दी का उत्तरार्ध है। प्रसिद्ध नाटककार भवभूति नि:सन्देह कुमारिल के शिष्य थे। ये

भवभूति

भवभूति कान्यकुब्ज के अधीश्वर यशोवर्मा (लगभग ७२५ से ७५२) तक के सभापण्डित थे जो अष्टम शतक के प्रथमार्ध में कन्नोज में राज्य करते थे। ७३३ ई० में कश्मीर के राजा ललितादित्य मुक्तापीड़ के हाथों इन्हें पराजित होना पड़ा था जिसका उल्लेख कल्हण ने राजतरङ्गिणी[1] में किया है। अत: यशोवर्मा के सभापण्डित होने के कारण भवभूति का समय अष्टम शताब्दी का प्रथमार्ध (७०० ई०-७४० ई०) में होना न्याय-संगत है। इनके गुरु होने से कुमारिल का समय सप्तम शताब्दी का अन्तिम काल होना चाहिये। तब आचार्य शंकर का समय सप्तम शताब्दी का अन्त तथा अष्टम

---

[1] कविर्वाक्पति राज श्रीभवभूत्यादिसेवित:।
जितो ययौ यशोवर्मा तद्गुणस्तुतिवन्दिताम्॥—राजतरंगिणी

का प्रारम्भ माना जा सकता है, क्योंकि ये कुमारिल के युवक समसामयिक थे ।

कुमारिल की समसामयिकता के आधार पर जो सिद्धान्त निश्चित किया गया है उसकी पुष्टि प्राचीन ग्रंथों से भी होती है । महानुभाव सम्प्रदाय के 'दर्शन-प्रकाश' में (जो १५६० शकाब्द = १६३८ ई० में लिखा 'शंकरपद्धति' नामक किसी प्राचीन ग्रंथ का एक उद्धरण है) शंकर के तिरोहित होने का समय ६४२ शकाब्द (= ७२० ई०) प्रतीत होता है ।

शङ्करपद्धति

२ ४ ६
युग्म पयोधि रसामित शाके
रौद्रकवत्सर ऊर्जकमासे
वासर ईज्य उताचल माने
कृष्णतिथौ दिवसे शुभयोगे ।
शंकर लोकमगान्निजदेहं
हेमगिरौ प्रविहाय हठेन ।।

'युग्म पयोधि रसामित शाके' में 'रसा' दो संख्याओं को सूचित कर सकता है—एक (रसा = पृथ्वी) तथा छः (रसा = रसातल) । श्रीयुत राजेन्द्रनाथ घोष का कहना है कि छः मानना ही युक्तिसंगत है । एक मानने में असम्भव दोष आता है । अतः शंकर का मृत्युकाल ६४२ शाके (+ ७८ = ७२० ई०) में सिद्ध होता है और ३२ साल में उनका तिरोधान मानने से उनका जन्म ६१० शाके (= ६८८ ई०) में होना उचित है ।[1]

इस मत की पुष्टि अन्य स्वतन्त्र प्रमाणों से भी की जा सकती है । शृंगेरी मठ की गुरुपरम्परा के अनुसार आचार्य शंकर का जन्म १४ विक्रमाब्द में तथा तिरोधान ४६ विक्रमाब्द में हुआ । इस विषय की छानबीन आवश्यक है—

---

[1] श्री राजेन्द्रनाथ घोष ने इस विषय का बड़ा ही सुन्दर विवेचन अपने बङ्गला ग्रन्थ 'आचार्य शङ्कर ओ रामानुज' में किया है । शङ्कर विजय के कथनानुसार उन्होंने शङ्कर की जन्मकुण्डली तैयार की है, और उस कुण्डली के आधार पर ग्रहयोग के निदर्शक वर्ष का पता लगाने का उद्योग किया है । उनके मत में ६०८ शक के वैशाख शुक्ल तृतीया को ही आचार्य का जन्म हुआ था । उनके कथनानुसार आचार्य का स्थितिकाल ३४ वर्षों का था, न कि ३२ वर्षों का । कुण्डली का फलाफल भी बड़ी सूक्ष्मता तथा पंडिताई से तैयार किया गया है । इन मतों की जानकारी के लिए द्रष्टव्य—'आचार्य शङ्कर ओ रामानुज' पृ० ८०२—८०७

द्वितीय खण्ड

चरित खण्ड

*

पञ्चम परिच्छेद

जन्म और बाल्य-काल

भारतवर्ष के सुदूर दक्षिण में केरल देश है। आजकल यह त्रिवाङ्कुर, कोचीन तथा मालावार नामक देशों में विभक्त है। यह प्रदेश अपनी विचित्र सामाजिक व्यवस्था के लिए उतना ही प्रसिद्ध है जितना अपनी प्राकृतिक शोभा के लिए। प्रायः पूरा प्रान्त समुद्र के किनारे पर बसा हुआ है। यहाँ की प्राकृतिक छटा इतनी मनोरम है कि उसे देखकर दर्शक का चित्त बरबस मुग्ध हो जाता है, मन में विचित्र शान्ति का उदय हो जाता है। इस देश में हरियाली इतनी अधिक है कि दर्शकों के नेत्रों के लिए अनुपम सुख का साधन उपस्थित हो जाता है। इस प्रान्त के कालटो ग्राम में आचार्य शङ्कर का जन्म हुआ। यह स्थान आज भी अपनी पवित्रता के लिए केरल ही में नहीं प्रत्युत समग्र भारत में विख्यात है। कोचीन शोरानूर रेलवे लाईन पर "आलवाई" नामक एक छोटा स्टेशन है। यहीं से यह गाँव पाँच-छः मील की दूरी पर अवस्थित है। पास ही आलवाई नदी बहती है और इस ग्राम की मनोरमता और भी बढ़ाती है। यह गाँव आजकल कोचीन राज्य के अन्तर्गत है और राज्य की ओर से पाठशाला तथा अंग्रेजी स्कूल की स्थापना छात्रों के विद्याभ्यास के लिए की गई है। इस स्थान की पवित्रता को अक्षुण्ण रखने के लिए शृङ्गेरी मठ ने अनेक उपाय किए हैं। आचार्य ने अपनी माता का दाह-संस्कार जिस स्थान पर किया था, वह स्थान आज भी दिखलाया जाता है। स्थान-स्थान पर शिव मन्दिर भी बने हैं। पर्वत की श्रेणियाँ पास ही हैं। कालटी की प्राकृतिक स्थिति दर्शक के हृदय में सामञ्जस्य तथा शान्ति का उदय करती है। यह आश्चर्य की बात नहीं कि इस स्थान के एक निवासी ने दुःख से संतप्त प्राणियों के सामने शान्ति तथा आत्यन्तिक सुख पाने का अनुपम उपदेश दिया था। शङ्कर के माता पिता "पच्चियूर" ग्राम के निवासी थे जिसका उल्लेख "शशल" ग्राम के नाम से भी मिलता है। पीछे वे लोग कालटी में आकर बस गये थे।

केरल देश

शङ्कर के जन्मस्थान के विषय में एक अन्य भी मत है। आनन्दगिरि के कथना-

नुसार इनका जन्म तामिल प्रान्त के सुप्रसिद्ध तीर्थक्षेत्र चिदम्बरम् में हुआ था[1], परन्तु अनेक कारणों से यह मत मुझे मान्य नहीं है। समग्र

जन्मस्थान का निर्णय

केरल प्रान्त की यह मान्यता है कि शङ्कर की माता "पजुर-पन्ने इल्लम्" नामक नम्बूदरी ब्राह्मण कुटुम्ब की थी और यह कुल सदा से "त्रिचूर" के पास निवास कर रहा है। यह कुटुम्ब केरल प्रान्त का ही निवासी है। अतः शङ्कराचार्य को भी केरलीय मानना ही न्यायसंगत होगा। वह स्थान जहाँ शङ्कर ने अपनी माता का दाह-संस्कार किया था, आज भी कालटी के पास वर्तमान है। एक अन्य प्रमाण से भी चिदम्बरम् के जन्मस्थान होने का पर्याप्त खण्डन हो जाता है। माध्व मत के आचार्यों के जीवनचरित के विषय में एक माननीय पुस्तक है जिसका नाम है 'मणिमञ्जरी'। इसके रचयिता त्रिविक्रमभट्ट ने भी शङ्कर का जन्मस्थान कालटी ही बताया है। मणिमंजरी के निर्माता अद्वैतवादी न थे, प्रत्युत द्वैत मत के मानने वाले थे। उनके ऊपर किसी प्रकार के पक्षपात का दोष आरोपित नहीं किया जा सकता। यह तो प्रसिद्ध ही है कि बदरीनाथ पशुपति-नाथ के प्रधान पुजारी नम्बूदरी ब्राह्मण ही होते आये हैं। ये ही पुजारी आजकल 'रावल' जी के नाम से विख्यात हैं। वर्तमान मन्दिर की प्रतिष्ठा आचार्य शङ्कर ने की थी तथा इसकी पूजा वैदिक विधि से संपन्न करने के लिए उन्होंने अपने ही देश के वैदिक ब्राह्मण को इस कार्य के लिए नियुक्त किया था। तब से लेकर आजतक इन मन्दिरों के पुजारी केरल देश के नम्बूदरी ब्राह्मण ही होते हैं। इन सब कारणों से यही प्रतीत होता है कि आचार्य शङ्कर केरल देश के निवासी थे, तथा नम्बूदरी ब्राह्मण थे। शङ्कर दिग्विजयों के पोषक इन निस्संदिग्ध प्रमाणों के रहते कोई भी व्यक्ति कालटी को छोड़ कर चिदम्बरम् को आचार्य के जन्मस्थान होने का गौरव कथमपि प्रदान नहीं कर सकता।

कालटी ग्राम में नम्बूदरी ब्राह्मणों के कुल में आचार्य का आविर्भाव हुआ।

जाति परिचय

ये नम्बूदरी ब्राह्मण लोग निष्ठावान्, सदाचार-संपन्न और वैदिक कर्मकाण्ड के विशेष अनुरागी होते हैं। भारतवर्ष में केवल यही ऐसा प्रान्त है जहाँ आज भी उन प्राचीन रीतियों और रूढ़ियों का अनुसरण किया जाता है। पञ्चम वर्ष से लेकर अष्टम वर्ष तक ब्राह्मण बालक का उपनयन दान, गुरु-गृह में प्रवेश तथा वेद का अभ्यास आज भी देखा जाता

---

[1] ततः सर्वात्मको देवः चिदम्बरपुराश्रितः।
आकाशलिङ्गनाम्ना तु विख्यातोऽभून्महीतले ॥
तत्र विद्वन्महेन्द्रस्यकुले द्विजगणाश्रिते।
जातः सर्वज्ञनाम्नातु कश्चिद् द्विजकुलेश्वरः ॥—शङ्कर विजय, पृ० ८

है। इन ब्राह्मणों के सामाजिक आचार और व्यवहार में अनेक विचित्रता दिखलाई पड़ती है। सब आचारों में सब से विचित्र होता है इनका विवाह। इनका ज्येष्ठ पुत्र ही नम्बूदरी ब्राह्मण कन्या से विवाह करता है और पैतृक-सम्पत्ति का उत्तराधिकारी होता है। दूसरे पुत्र लोग 'नायर' स्त्रियों से विवाह करते हैं, तथा उनके पुत्र नायर जाति के अन्तर्भुक्त होते हैं। नायर जाति न तो ब्राह्मण ही है, और न ठीक शूद्र ही, किन्तु ब्राह्मण और शूद्र जाति का संमिश्रण है। इनकी एक कन्या बहु-विवाह कर सकती हैं। एक ही कन्या के नायर और नम्बूदरी पति होने में किसी प्रकार की बाधा नहीं होती। यहाँ की कन्या ही पृथ्वी और सम्पत्ति की उत्तराधिकारिणी होती हैं। इसी प्रकार की अनेक विचित्र सामाजिक प्रथाएँ आज भी यहाँ प्रचलित हैं। आचार्य शंकर ऐसे ही नम्बूदरी ब्राह्मण की सन्तान थे।

शंकर के पिता का नाम था शिवगुरु[1]। ये अपने पिता विद्याधिप या विद्याधिराज की एकमात्र सन्तान थे। शिवगुरु, गुरु के घर में शास्त्राध्ययन करते-करते वैराग्य-युक्त हो गए थे। घर में लौटने का समय बीत गया था। पिता ने देखा कि पुत्र गृहस्थी से मुँह मोड़ कर वैराग्य का सेवन करना चाहता है। उन्होंने पुत्र की इच्छा न रहने पर भी उसका समावर्तन संस्कार करवाया और उसे घर लाए। अपने गाँव के पास ही किसी छोटे गाँव के रहने वाले 'मघ' पंडित की कन्या से उन्होंने शिवगुरु का विवाह कर दिया। इस कन्या का नाम भिन्न-भिन्न बतलाया जाता है। माधव ने इनका नाम 'सती' तथा आनन्दगिरि ने 'विशिष्टा' बतलाया है[2]। आचार्य शंकर के ये ही माता-पिता हैं।

माता पिता का परिचय

शिवगुरु एक अच्छे तपोनिष्ठ वैदिक थे। बड़े आनन्द से अपनी गृहस्थी चलाते थे। क्रमशः वृद्धावस्था उपस्थित होने लगी परन्तु पुत्र के मुखदर्शन का सौभाग्य उन्हें प्राप्त नहीं हुआ। उनके चित्त में पुत्र का मनोरम मुख देखने की इच्छा और मनोहर तोतली बोली सुनने की लालसा लगी रही। अनेक ऋतुयें आईं और चली गईं, परन्तु शिवगुरु के हृदय में पुत्र-पाने की लालसा आई पर गई नहीं। अन्तोगत्वा द्विज दम्पती ने तपस्या को कल्याण का परम साधन मान कर उसी की साधना में चित्त लगाया।

आचार्य शंकर के जन्म के विषय में अनेक विचित्र बातें लिखी मिलती हैं। शंकर के माहात्म्य प्रतिपादन करने की लालसा का इस विषय में जितना दोष है

---

[1] माधव-दिग्विजय, सर्ग २। ५

[2] सा कुमारी सदाध्यान-सक्ताऽभूत् ज्ञानतत्परा।
विशिष्टेति च नाम्ना तु प्रसिद्धाभूत् महीतले ॥—आनन्दगिरि, पृ० ८

उतना ही दोष उनके गुणों की अवहेलना कर निर्मूल बातें गढ़ने की अभिलाषा का। इस विषय में आचार्य के निन्दकों के समान आचार्य के अन्धभक्तों का भी दोष कम नहीं है। आनन्दगिरि का कहना है कि आचार्य शंकर का जन्म चिदम्बरम् के क्षेत्र देवता भगवान् महादेव के परमानुग्रह का सुखद परिणाम था। पुत्र के न होने से उदास हो कर जब शिवगुरु ने घर-गृहस्थी से नाता तोड़ कर जंगल का रास्ता पकड़ा, तब विशिष्टा देवी ने महादेव की उपासना को एकमात्र लक्ष्य बनाया। वह रात-दिन शिव की अर्चा में व्यस्त रहती। वहीं पर महादेव की महती कृपा से शंकर का शुभ जन्म हुआ। इस विषय में द्वैतवादियों ने साम्प्रदायिकता के मोहजाल में पड़कर जिस मनोवृत्ति का परिचय दिया है, वह नितान्त हेय तथा जघन्य है। मणिमञ्जरी के अनुसार शंकर एक दरिद्र ब्राह्मणी विधवा के पुत्र थे। इस बात का पर्याप्त खण्डन शंकर के उत्तरकालीन चरित्र से ही हो जाता है। यह तो प्रसिद्ध बात है कि शंकर के हृदय में अपनी महनीया माता के लिए प्रगाढ़ ममता थी, विशुद्ध भक्ति थी—इतनी भक्ति कि उन्होंने संन्यास धर्म की अवहेलना स्वीकार की, परन्तु अपनी माता के दाहसंस्कार करने से वे कथमपि विरत नहीं हुए। यदि मणिमञ्जरी में उल्लिखित घटना में सत्य की एक कणिका भी होती, तो बहुत सम्भव था कि शंकर-दिग्विजय के रचयिता भक्त-लेखक इसे अलौकिकता के रङ्ग में रंग कर छिपाने का उद्योग करते। अतः इस घटना की असत्यता स्पष्ट प्रतीत हो रही है, इसे विशेष प्रमाण से पुष्ट करने की अब अधिक आवश्यकता नहीं है।

शिवगुरु तथा सती देवी भगवान् शंकर के बड़े भारी भक्त थे। कालटी के पास ही वृष नामक पर्वत अपना सिर ऊपर उठाये खड़ा था। उस पर केरल के नरेश राजशेखर ने भगवान् चन्द्रमौलीश्वर महादेव का सुन्दर मन्दिर बनवाकर तन्नामक शिवलिङ्ग की स्थापना की थी। शिवगुरु ने नदी में यथावत् स्नान कर चन्द्रमौलीश्वर की एकाग्र मन से उपासना करना प्रारम्भ किया। भगवान् आशुतोष प्रसन्न हो गए। एक रात को उन्होंने भक्त के सामने ब्राह्मण के रूप में उपस्थित होकर पूछा—क्या चाहते हो? भक्त का पुत्र के लिए लालायित हृदय झट बोल उठा—संसार की सारी सम्पत्ति मुझे न चाहिए। मुझे चाहिये केवल पुत्र जो मेरे कुल की मर्यादा तथा परम्परा की रक्षा करने में समर्थ हो। तब महादेव ने कहा—सर्वगुण-सम्पन्न सर्वज्ञ पुत्र चाहते हो तो वह दीर्घायु नहीं होगा। यदि दीर्घायु पुत्र चाहते हो, तो वह सर्वज्ञ नहीं होगा। ऐसी विषम-दशा में तुम क्या चाहते हो? सर्वज्ञ पुत्र या दीर्घायु पुत्र? शिवगुरु ने कहा—मुझे सर्वज्ञ पुत्र ही दीजिये भगवन्! दीर्घायु परन्तु मूर्ख पुत्र लेकर क्या करूँगा? भगवान् ने भक्त की प्रार्थना सुन ली।

शिवगुरु की तपस्या

वर्षों की तपस्या सफल हुई। वैशाख शुक्ल पञ्चमी तिथि को सती देवी के गर्भ से आचार्य शंकर का जन्म हुआ।

शंकर एक प्रतिभा-सम्पन्न शिशु थे। शैशव काल से ही उनकी विलक्षण प्रतिभा का परिचय सब लोगों को होने लगा। तीन वर्ष के भीतर ही उन्होंने अपनी मातृ भाषा मलयालम् भलीभाँति सीख ली। पिता की बड़ी अभिलाषा थी कि शंकर का शीघ्र उपनयन कर दिया जाय जिससे संस्कृत भाषा के अध्ययन का शुभ अवसर उन्हें तुरन्त प्राप्त हो जाय। परन्तु दैवदुर्विपाक से उनकी मृत्यु असमय में हो गई। तब इनकी माता ने अपने दिवंगत पति की इच्छा को कार्य-रूप में परिणत करने का उद्योग किया। पाँचवे साल में शंकर का उपनयन विधिवत् किया गया तथा वेद-शास्त्र के अध्ययन के लिए वे गुरु के पास गए। अपनी अलौकिक प्रतिभा और सूक्ष्म अर्थ को ग्रहण करने वाली बुद्धि, गाढ़ अनुशीलन तथा विशुद्ध चरित्र से उन्होंने अपने गुरु को चमत्कृत कर दिया। गुरुकुल में रहते समय ही शंकर के कोमल हृदय का परिचय सब लोगों को मिल गया था। एक दिन वे दरिद्र ब्राह्मणी विधवा के घर भिक्षा माँगने के लिए गए। परन्तु उसके पास अन्न का नितरां अभाव था। ब्रह्मचारी के हाथ में एक आँवले का फल रख कर ब्राह्मणी ने अपनी दरिद्रता की करुण कहानी कह सुनाई। इससे बालक शंकर का हृदय सहानुभूति से भर गया और उन्होंने भगवती लक्ष्मी की प्रशस्त-स्तुति की जिससे वह घर सोने के आँवलों से दूसरे दिन भर गया। उस ब्राह्मणी का दुःख-दारिद्रय तुरन्त दूर हो गया। दो साल के भीतर ही सकल शास्त्रों का अध्ययन कर बालक अपने घर लौट आया और घर पर ही विद्यार्थियों को पढ़ाना शुरू-किया। शंकर की विद्वत्ता तथा अध्यापन कुशलता की चर्चा केरल-नरेश राजशेखर के कानों तक पहुँची और उन्होंने शंकर को आदर-पूर्वक अपने महल में बुलाने के लिए मंत्री को भेजा। परन्तु जिस व्यक्ति का हृदय त्याग तथा वैराग्य के रस में पगा हुआ है उसे भला क्या राज-सम्मान का क्षणिक सुख तनिक भी विचलित कर सकता हैं? अध्यापक शंकर ने मंत्री महोदय के द्वारा दी गई स्वर्ण-मुद्राओं को न तो स्पर्श किया और न तो राजमहल में जाने का निमंत्रण ही स्वीकार किया। अन्ततोगत्वा गुणग्राही राजा दर्शन के लिए स्वयं कालटी में आए। वे स्वयं कवि तथा नाटककार थे। उन्होंने अपने तीनों नाटक शंकर को सुनाए तथा उनकी आलोचना सुनकर विशेष प्रसन्न हुए।

शंकर बड़े भारी मातृभक्त थे। माता के लिए भी इस संसार में कोई स्नेह का आधार था तो वह थे स्वयं शंकर। एक दिन माता स्नान करने के लिए नदी-तीर पर गई। नदी का घाट था घर से दूर। वार्धक्य के कारण दुर्बलता, दोपहर की कड़ी धूप, गर्मी के मारे रास्ते में बेचारी बेहोश होकर गिर पड़ी। शङ्कर उसे

उठाकर घर लाए। उनका हृदय माता के इस क्लेश से विदीर्ण होने लगा। उन्होंने अपने कुलदेवता भगवान् श्रीकृष्ण से रात भर प्रार्थना की। प्रातःकाल लोगों ने आश्चर्य भरे नेत्रों से देखा। पूर्णा नदी अपना किनारा

मातृ-भक्ति

काटकर कालटी के बिलकुल पास चली आई थी। श्रीकृष्ण ने मातृभक्त बालक की प्रार्थना सुन ली। आलवाई नदी की धारा परिवर्तित हो गई। पुत्रवत्सला जननी ने अपने एकमात्र पुत्र की कुण्डली दधीचि, त्रितल आदि अनेक दैवज्ञों से दिखाई और उसके कोमल हृदय को गहरी ठेस लगी जब इन दैवज्ञों ने उनसे कहा कि शंकर अल्पायु होगा और आँठवें तथा सोलहवें वर्ष उसकी मृत्यु का विषम योग है। माता की बड़ी अभिलाषा थी कि पुत्र का विवाह शीघ्र कर दिया जाय तथा पुत्रवधू का मुँह देखकर वह अपने जीवन को सफल बनावे। परन्तु पुत्र की भावना बिलकुल दूसरी ओर थी। माता उन्हें प्रवृत्ति मार्ग में लाकर गृहस्थ बनाने के लिए व्यग्र थी। उधर शंकर निवृत्ति मार्ग का अवलम्बन कर संन्यास लेने की चिन्ता में थे। अल्पायु होने की दैवज्ञ वाणी ने उनके चित्त को संसार से और विरक्त कर दिया। उन्होंने संन्यास लेने का दृढ़ संकल्प किया।

शङ्कर ने संकल्प तो कर लिया परन्तु माता के सामने उसे तुरन्त प्रकट करने से कुछ विरत हुए। उनके हृदय में एक महान् द्वन्द्व-युद्ध मच रहा था।

संन्यास

एक ओर था माता का स्नेह—उस विधवा माता का, जिसके जीवन का आधार शङ्कर को छोड़ कर दूसरा कोई न था। और दूसरी ओर थी परमार्थ प्राप्त कर लेने की दृढ़ अभिलाषा जिससे यह मानव-जीवन सफलता प्राप्त कर लेता। कुछ दिनों तक तो उन्होंने इस मानसयुद्ध की उपेक्षा की परन्तु आगे चल कर उन्होंने देखा कि परमार्थ की भावना उन्हें संसार से दूसरी ओर खींच रही थी। तब उन्होंने अपना अभिप्राय माता से कह सुनाया। उस विधवा के हृदय पर गहरी चोट पड़ी। एक तो तापस पति से अकाल में वियोग, दूसरे एकमात्र यशस्वी पुत्र के वियोग की आशंका। उसका हृदय टूक-टूक हो गया। शङ्कर के हजार समझाने पर भी उसने इस प्रस्ताव पर अपनी सम्मति नहीं दी परन्तु 'मेरे मन कुछ और कर्ता के कुछ और।' एक विचित्र घटना ने शङ्कर के प्रस्ताव को सफल बना

विचित्र-घटना

दिया। एक दिन माता और पुत्र दोनों स्नान करने के लिए आलवाई नदी में गए थे। माता स्नान कर घाट पर खड़ी कपड़े बदल रही थी। इतने में उसके पुत्र के करुण चीत्कार ने उसका ध्यान बलात् खींच लिया। और उसने दृष्टि फेर कर देखा तो क्या देखती है कि उसके प्यारे शङ्कर को भीमकाय मगर पकड़े हुए है और उसे निगल जाने के लिए

तैयार है । असहाय बालक आत्मरक्षा करने में तत्पर है परन्तु कहाँ वह कोमल छोटा बालक और कहाँ वह भयानक खूँखार घड़ियाल !! शङ्कर के सब प्रयत्न विफल हुए । माता के सब उद्योग व्यर्थ सिद्ध हुए । बड़ा करुणाजनक दृश्य था । असहाय माता घाट पर खड़ी फूट फूट कर विलख रही थी और उधर उसका एकमात्र पुत्र अपनी प्राणरक्षा के लिए भयङ्कर मगर के पास छटपटा रहा था । शङ्कर ने अपना अन्तकाल आया जान कर माता से संन्यास लेने की अनुमति माँगी—मैं तो अब मर ही रहा हूँ । आप संन्यास ग्रहण करने के लिए मुझे आज्ञा दीजिये जिससे संन्यासी बन कर मैं मोक्ष का अधिकारी बन सकूं । वृद्धा जननी ने पुत्र की बातें सुनी और अगत्या संन्यास लेने की अनुमति दे दी । उधर आस-पास के मछुवे तथा मल्लाह दौड़ कर आए । बड़ा हो हल्ला मचाया । संयोगवश मगर ने शंकर को छोड़ दिया । बालक के जीवन का यह अष्टम वर्ष था । भगवत्कृपा से वह काल के कराल गाल से किसी प्रकार बच गया । माता के हर्ष की सीमा न थी । उस आनन्दातिरेक में उसे इस बात की सुध न रही कि उसका ब्रह्मचारी शङ्कर अब संन्यासी बन कर घर लौट रहा है ।

शङ्कर ने उस समय आठवें वर्ष में ही आपत्-संन्यास अवश्य ले लिया था परन्तु उन्हें विधिवत् संन्यास की बलवती इच्छा थी । अतः किसी योग्य गुरु की खोज में वे अपना घर छोड़ कर बाहर जाने के लिए उद्यत हुए । उन्होंने अपनी सम्पत्ति अपने कुटुम्बियों में बाँट दी और माता के पालन-पोषण का भार उन्हें सुपुर्द कर दिया । परन्तु बिदाई के समय स्नेहमयी माता अपने पुत्र को किसी प्रकार जाने देने के लिए तैयार न थी । अन्त में शंकर ने माता की इच्छा के अनुसार यह दृढ़ प्रतिज्ञा की कि मैं तुम्हारे अन्तकाल में अवश्य उपस्थित हूँगा और अपने हाथों तुम्हारा दाह-संस्कार करूँगा । माता की इच्छा रखने के लिए पुत्र ने संन्यास धर्म की अवहेलना स्वीकार कर ली, परन्तु माता के चित्त को क्लेश नहीं पहुँचाया । शङ्कर के गृहत्याग के समय कुल-देवता श्रीकृष्ण ने स्वप्न दिया कि तुम्हारे चले जाने पर यह नदी हमारे मन्दिर को गिरा देगी । अतः मुझे किसी निरापद स्थान पर पहुँचा दो । तदनुसार शङ्कर ने भगवान की मूर्ति को तीरस्थित मन्दिर से हटाकर एक ऊँचे टीले पर रख दिया और दूसरे ही दिन प्रस्थान किया ।

षष्ठ परिच्छेद

साधना

शङ्कर ब्रह्मवेत्ता गुरु की खोज में उत्तर भारत की ओर चले। पातञ्जल महाभाष्य के अध्ययन के समय में उन्होंने अपने विद्यागुरु के मुख से सुन रक्खा था कि योगसूत्र के प्रणेता महाभाष्यकार पतञ्जलि इस भूतल पर गोविन्द भगवत्पाद के नाम से अवतीर्ण हुए हैं[1] तथा नर्मदा के तीर पर किसी अज्ञात गुफा में अखण्ड समाधि में बैठे हुए हैं[2]। उन्होंने शुकदेव के शिष्य गौड़पादाचार्य से अद्वैत-वेदान्त का यथार्थ अनुशीलन किया है। इन्हीं गोविन्दाचार्य से वेदान्त की शिक्षा लेने के लिए शङ्कर ने दूसरे ही दिन प्रातःकाल प्रस्थान किया। कई दिन के अनंतर शङ्कर कदम्ब या वनवासी राज्य से होकर उत्तर की ओर बढ़ते जा रहे थे।

शृंगेरी की विचित्र घटना

एक दिन की बात है कि दोपहर का सूर्य आकाश में प्रचण्ड रूप से चमक रहा था। भयंकर गर्मी के कारण जीव-जन्तु विह्वल हो उठे थे। शङ्कर भी एक वृक्ष की शीतल छाया में बैठ कर मार्ग की थकावट दूर कर रहे थे। सामने जल से भरा एक सुन्दर तालाब था। उसमें से निकल कर मेंढक के छोटे-छोटे बच्चे धूप में खेल रहे थे पर गरमी से व्याकुल होकर फिर पानी में डुबकीं लगाते थे। एक बार जब वे खेलते-खेलते बेचैन हो गए तब कहीं से आकर एक कृष्ण सर्प उनके सिर पर फण पसार कर धूप से उनकी रक्षा करने लगा। शङ्कर

---

[1] दृष्ट्वा पुरा निजसहस्रमुखीमभैषुरन्ते वसन्त इति तामपहाय शान्तः।
एकाननेन भुवि यस्त्ववतीर्य शिष्यान् अन्वग्रहीन्ननु स एव पतञ्जलिस्त्वम् ॥
—शं० दि० ५।९५

[2] गोविन्द के निवास स्थान में मतभेद है। माधव का कथन है (५।९०) कि गोविन्द का आश्रम नर्मदा नदी के तीर पर था—गोविन्दनाथ वनमिन्दुभवातटस्थम्। चिद्विलास के अनुसार यह स्थान बदरीनाथ के पास था :—

क्रमेण बदरीं प्राप यत्र विष्णुस्तपस्यति—॥ ३८ ॥
निस्तमस्कमिवादित्यं भास्वन्तमिव पावकम्।
गोविन्द-भगवत्-पाद-देशिकेन्द्रमलक्षयत ॥ ४६ ॥

—शङ्कर विजयविलास, अध्याय ८

इस दृश्य को देखकर विस्मय से चकित हो गए। स्वाभाविक वैर का त्याग जन्तु-जगत् की एक विचित्र घटना है। इसने उनके चित्त पर विचित्र प्रभाव डाला। उनके हृदय में स्थान की पवित्रता जम गई। सामने एक पहाड़ का टीला दीख पड़ा जिस पर चढ़ने के लिए सीढ़ियाँ बनी थीं। उन्हीं सीढ़ियों से वे ऊपर चढ़ गए और ऊपर शिखर पर निर्जन कुटी में बैठकर तपस्या करनेवाले एक तापस को देखा और उनसे इस विचित्र घटना का रहस्य पूछा। तपस्वी जी ने बतलाया कि यह शृङ्गी ऋषि का पावन आश्रम है। इसी कारण यहाँ नैसर्गिक शान्ति का अखण्ड राज्य है। जीव जन्तु अपने स्वाभाविक बैरभाव को भुला कर यहाँ सुखपूर्वक विचरण करते हैं। इन बचनों का प्रभाव शंकर के ऊपर खासा पड़ा और उन्होंने दृढ़ संकल्प किया कि मैं अपना पहला मठ इसी पावन तीर्थ में बनाऊँगा। आगे चल कर शंकराचार्य ने इसी स्थान पर अपने संकल्प को जीवित रूप दिया। 'शृंगेरी मठ' की स्थापना का यही सूत्रपात है।

गोविन्द मुनि

यहाँ से चल कर शंकर अनेक पर्वतों तथा नदियों को पार करते हुए नर्मदा के किनारे ओंकारनाथ के पास पहुँचे। यह वही स्थान था जहाँ पर गोविन्द मुनि किसी गुफा में अखण्ड समाधि की साधना कर रहे थे। समाधि भङ्ग होने के बाद शंकर से उनकी भेंट हुई। शंकर की इतनी छोटी उम्र में इतनी विलक्षण प्रतिभा देख कर गोविन्दाचार्य चमत्कृत हो उठे और उन्होंने अद्वैत वेदान्त के सिद्धान्त को बड़ी सुगमता के साथ शंकर को बतलाया। शंकर यहाँ लगभग तीन वर्ष तक अद्वैत तत्व की साधना में लगे रहे। उपनिषद् तथा ब्रह्मसूत्रों का विशेष रूप से अध्ययन किया। गोविन्दाचार्य ने अपने गुरु गोड़पादाचार्य से ब्रह्मसूत्र की जो साम्प्रदायिक अद्वैत-परक व्याख्या सुन रक्खी थी उसे ही उन्होंने अपने इस विचक्षण शिष्य को कह सुनाया। आचार्य अद्वैत तत्व में पारंगत हो गए। एक दिन की बात है कि वर्षा के दिनों में नर्मदा नदी में बड़ी भारी बाढ़ आई—इतनी बड़ी भारी बाढ़ कि उसके सामने बड़े-बड़े वृक्ष तृण के समान भी ठहरने में समर्थ नहीं हुए। उसी समय गोविन्दपाद गुफा के भीतर बैठ कर समाधि में निमग्न थे। शिष्यों में खलबली मच गई कि यदि किसी प्रकार यह जल गुफा के भीतर प्रवेश कर जाय तो गुरुदेव की रक्षा कथमपि नहीं हो सकती। शंकर ने अपने सहपाठियों की व्यग्रता देखी और उन्हें शान्त्वना देते हुए उन्होंने एक घड़े को अभिमन्त्रित कर गुफा के द्वार पर रख दिया। पानी ज्यों-ज्यों बढ़ता जाता था वह उसी घड़े के भीतर प्रवेश करता चला जाता था। गुफा के भीतर जाने का उसे अवसर ही नहीं मिला। इस भीषण बाढ़ से शंकर ने गुरु की रक्षा कर दी। उपस्थित जनता ने अचरज से देखा कि जिस बात की कल्पना वे स्वप्न में भी नहीं करते थे

वही घटना अक्षरशः ठीक हुई। शंकर के इस अलौकिक कार्य को देखकर सब लोग विस्मित हो गए।

जब गुरु जी समाधि से उठे तब इस आश्चर्य भरी घटना का हाल सुन कर वे चमत्कृत हुए और उन्होंने शंकर से काशी में जाकर विश्वनाथ के दर्शन को कहा। साथ ही साथ उन्होंने पुरानी कथा भी कह सुनाई जो उन्होंने हिमालय में देवयज्ञ में पधारने वाले व्यास जी से सुन रखी थी। व्यास जी ने उस समय कहा था कि जो पुरुष एक घड़े के भीतर नदी की विशाल जलराशि को भर देगा, वही मेरे ब्रह्मसूत्रों की यथावत् व्याख्या कर देने में समर्थ होगा। यह घटना तुम्हारे विषय में चरितार्थ हो रही है। गोविन्द ने शङ्कराचार्य को प्रसन्नता पूर्वक विदा किया।

गुरु की आज्ञा शिरोधार्य कर शंकर ने काशी के लिए प्रस्थान किया।

काशी में शंकर

काशी आकर उन्होंने मणिकर्णिका घाट के समीप एक स्थान पर निवास करना आरम्भ किया[१]। इस स्थान पर यथाविधि नित्य-कर्म करके शंकर विश्वनाथ और अन्नपूर्णा के दर्शन में निरत हुए। विद्यार्थियों को अद्वैत वेदान्त की शिक्षा देना भी आरम्भ किया। आचार्य की अवस्था अभी बारह वर्ष की थी। उनका असाधारण पांडित्य देखकर काशी की विद्वन्-मण्डली चकित हो गई। ब्रह्मसूत्र का जो अर्थ शङ्कर ने गोबिन्दपाद से सुना था उसी की व्याख्या नित्य छात्रों के सामने आचार्य करते रहे। आचार्य की विद्वत्ता से अनेक छात्र आकृष्ट हो कर उनसे विद्याभ्यास करने लगे। ऐसे शिष्यों में उनके प्रथम शिष्य हुए सनन्दन जो चोल देश के रहने वाले थे। एक बार यहाँ एक विचित्र घटना घटी। दोपहर का समय था। शङ्कर अपने विद्यार्थियों के साथ मध्याह्न-कृत्य के निमित्त गंगातट पर जा रहे थे। उन्होंने रास्ते में चार भयानक कुत्तों से घिरे हुए भयंकर चाण्डाल को देखा। वह रास्ता रोक कर खड़ा था। शङ्कर ने उसे दूर हट जाने के लिए कई बार कहा। इस पर वह चाण्डाल बोल उठा कि आप संन्यासी हैं, विद्यार्थियों को अद्वैत-तत्त्व की शिक्षा देते हैं। परन्तु आप के ये वचन सूचित कर रहे हैं कि आपने अद्वैत का तत्त्व कुछ भी नहीं समझा है। जब इस जगत् का कोना-कोना उसी सच्चिदानन्द परम ब्रह्म से व्याप्त हो रहा है तब कौन किसे छोड़ कर कहाँ जाय? आप पवित्र ब्राह्मण हैं और मैं नीच श्वपच हूँ। इस बात को मानना भी यह आप का दुराग्रह

---

[१] स्नात्वैव तोये मणिकर्णिकाया विश्वेश्वरं प्रत्यहमर्चतिस्म।
वासं चकारानिशमेव शिष्यैः साकं स घट्टे मणिकर्णिकायाः ।।२।।
—चिद्विलास शं० वि०, १२ वाँ सर्ग

है। इन वचनों को सुनकर आचार्य के अचरज का ठिकाना न रहा। और उन्होंने अपने हृदय की भावना को स्पष्ट करते हुए कहा कि जो चैतन्य विष्णु, शिव आदि देवताओं में स्फुरित होता है वही कीड़े-मकोड़े जैसे क्षुद्र जानवरों में भी स्फुरित हो रहा है . उसी चैतन्य को जो अपना स्वरूप समझता हो ऐसा दृढ़ बुद्धि वाला पुरुष चाण्डाल भले ही हो, वह मेरा गुरु है—

ब्रह्मैवाहमिदं जगच्च सकलं चिन्मात्र–विस्तारितं।
सर्वं चैतदविद्यया त्रिगुणयाशेषं मया कल्पितम्॥
इत्थं यस्य दृढा मतिः सुखतरे नित्ये परे निर्मले।
चाण्डालोऽस्तु स तु द्विजोऽस्तु गुरुरित्येषा मनीषा मम॥

भगवान् विश्वनाथ की परीक्षा समाप्त हुई। शङ्कर में जो त्रुटि थी वह दूर हो गई। उस समय चाण्डाल का रूप छोड़ कर विश्वनाथ ने अपना दिव्य शरीर प्रकट करते हुए कहा—वत्स शंकर! मैं तुमसे प्रसन्न हूँ। मेरी इच्छा है कि तुम्हारे द्वारा वैदिक धर्म का प्रचार इस जगत् में सम्पन्न करूँ। तुम्हारे में किसी प्रकार की न्यूनता होना उचित नहीं है। जावो तुम व्यास-कृत ब्रह्मसूत्र के ऊपर भाष्य की रचना करो। वेदान्त का मुख्य तात्पर्य अद्वैत-ब्रह्म का प्रतिपादन है, इसका सर्वत्र प्रचार करो। तम्हारे इस शरीर से जो कार्य सम्पन्न होगा, उसे मेरा ही कार्य जानना। इतना कह कर चाण्डाल वेशधारी शंकर अन्तर्धान हो गए। इस घटना से आचार्य के शिष्यगण बड़े ही विस्मित हुए। उनके नेत्रों के सामने न तो कहीं चाण्डाल था और न कहीं कुत्ते। आचार्य शान्त भाव से मणिकर्णिका घाट पर स्नान करने के लिए चले गए। स्नान कर उन्होंने विश्वनाथ का दर्शन किया और अपने स्थान पर लौट आए। अब शङ्कर के हृदय में ब्रह्मसूत्रों पर भाष्य लिखने की इच्छा बलवती हो उठी। उन्होंने यह स्थिर किया कि बदरीनाथ जाकर ही सूत्रभाष्य की रचना करूंगा। बदरिकाश्रम के पास ही 'व्यास-गुहा' है जहाँ रह कर व्यास जी ने इन वेदान्तसूत्रों का प्रणयन किया था। जिस पवित्र वायुमण्डल में सूत्रों की रचना की गई थी उसी वायुमण्डल को शंकर ने भाष्य की रचना के लिए भी उपयुक्त समझा। इसलिये उन्होंने अपनी शिष्य-मण्डली के साथ गंगा के किनारे होकर बदरिकाश्रम जाने का विचार किया।

सनन्दन तथा अन्य शिष्यों के साथ यह बालक-संन्यासी हिमालय के सुदूर तीर्थ में जाने के लिए निकल पड़ा। रास्ते में तीर्थों के दर्शन करते हुए ये आगे बढ़े चले जाते थे। उन्हें जो देखता वही आश्चर्य से चकित हो जाता। द्वादश-वर्षीय संन्यासी-बालक गुरु, साथ में युवक, वृद्ध, नाना अवस्था के संन्यासी और ब्रह्मचारी शिष्य—यह दृश्य सब दर्शकों के हृदय मे एक साथ ही विस्मय और श्रद्धा उत्पन्न कर रहा था। आचार्य धीरे-धीरे हरद्वार पहुँचे। हरद्वार में कुछ

दिन तक उन्होंने निवास किया । वहाँ से वे ऋषिकेश में आए । इस स्थान पर पहले ऋषियों ने यज्ञेश्वर विष्णु की मूर्ति स्थापित की थी । उसी की पूजा-अर्चा यहाँ होती थी । आचार्य ने विष्णुमन्दिर को देखा, परन्तु मूर्ति को न देखकर उन्हें बड़ा क्षोभ हुआ । लोगों के मुख से सुना कि कुछ दिन पहले चीन देश के डाकुओं का उपद्रव इस देश में इतना अधिक था कि उसके डर के मारे विष्णु की मूर्ति गङ्गा के गर्भ में छिपा दी गई थी । पीछे बहुत खोजने पर भी वह मूर्ति नहीं मिली । गङ्गा की धारा में वह किधर बह गई ? यह पता नहीं चला । इस पर आचार्य ने शिष्यों के साथ गंगातीर पर आकर एक स्थान दिखलाया । वहाँ थोड़ी चेष्टा से ही भगवान् विष्णु की वही प्राचीन प्रतिमा मिल गई । लोगों ने बड़े समारोह के साथ उस यज्ञ-मूर्ति विष्णु की प्रतिमा की प्रतिष्ठा उस मन्दिर में की । अनन्तर शङ्कर अपने शिष्यों के साथ बदरिकाश्रम की यात्रा के लिए चल पड़े ।

बदरीनाथ का उद्धार

रास्ते में इन्होने अनेक तीर्थों का दर्शन किया । इधर नरबलि देने की प्रथा बहुत अधिक थी । तांत्रिक पूजा का उग्ररूप इधर अधिक प्रचलित था । शङ्कर ने लोगों को समझा-बुझा कर इस प्रथा को दूर किया । दुर्गम घाटी से होकर बदरी की यात्रा आज भी कठिन है । उस समय इसकी क्या दशा थी ? यह कितना बीहड़ था ? इसका अनुमान सहज में ही किया जा सकता है । इतना होने पर भी अलौकिक शक्ति से सम्पन्न शङ्कर शिष्यों के साथ मार्ग के कष्टों की अवहेलना करते हुए बदरिकाश्रम में जा ही पहुँचे । यह वही स्थान है जहाँ नर-नारायण ऋषियों ने घोर तपस्या की थी । सामने है गगनभेदी चिरतुषारमण्डित अपरिमेय श्वेतकाय हिमालय—जान पड़ता है मानों भगवान् विष्णु अति विशाल विराट् मूर्ति धारण कर बैठे हुए हों । बायीं ओर दाहनी ओर नर और नारायण पर्वत खड़े हुए हैं । जान पड़ता है कि भगवान् अपनी दोनों बाहुओं को पसार कर भक्त गणों को अपनी गोदी में लेने के लिए मानों आह्वान कर रहे हों । यह स्थान वस्तुतः भूतल पर स्वर्ग है । ऐसा कोई भी व्यक्ति न होगा जिसका चित्त इस आश्रम के सौन्दर्य को देख कर मुग्ध न हो गया हो ! आचार्य ने यहाँ रह कर अनेक तीर्थों का दर्शन किया परन्तु प्रधान मन्दिर में भगवान् नारायण की मूर्ति न देखकर उन्हें बड़ा क्षोभ हुआ । उन्होंने लोगों से इसका कारण पूछा । पुजारियों ने कह सुनाया कि चीन देश के राजा का समय-समय पर इधर भयानक आक्रमण होता आया है । इसी डर से भगवान् की मूर्ति को हम लोगों ने इसी नारदकुण्ड में फेंक दिया है । परन्तु पीछे बड़ी खोज करने पर

मूर्ति को खोज निकालने का प्रस्ताव किया। पुजारियों ने उन्हें बहुत समझाया कि नीचे-नीचे इस कुण्ड का सम्बन्ध अलकनन्दा के साथ-साथ है। अतः यहाँ उतरने पर प्राण-हानि का भय है, आप न उतरें। आचार्य ने इन बातों पर कुछ भी ध्यान नहीं दिया। उन्होंने नारदकुण्ड में डुबकी लगाई। उनके हाथ में पत्थर का एक टुकड़ा मिला। ऊपर आकर उन्होंने देखा कि वह पद्मासन में बैठे हुए चतुर्बाहु विष्णु की मूर्ति है। परन्तु मूर्ति का दाहिना कोना टूटा हुआ है।

आचार्य ने इस मूर्ति को देखकर विचार किया कि बदरीनारायण की मूर्ति कभी खण्डित नहीं हो सकती। उन्होंने उस मूर्ति को फिर गंगा में फेंक दिया और कुण्ड में फिर गोता लगाया। फिर वहीं मूर्ति मिली। तीसरी बार आचार्य ने फिर उसे गंगा में डाल दिया और नारदकुण्ड में गोता लगाया। जब तीसरी बार वही मूर्ति उनके हाथ आई[1] तब उनके आश्चर्य का ठिकाना न रहा। सुनते हैं कि उस समय आकाशवाणी हुई थी कि कलि में इसी मूर्ति की पूजा होनी चाहिये। शङ्कर ने स्वयं इस मूर्ति की प्रतिष्ठा मन्दिर में की तथा वैदिक रीति से इसकी पूजा-अर्चा का प्रबन्ध किया। शङ्कर ने देखा कि स्थानीय ब्राह्मणों में वेदाध्ययन बहुत ही कम था। अतः उनके द्वारा ठीक वैदिक विधि से पूजन का निर्वाह नहीं हो सकता था। इसलिए उन्होंने अपने सजातीय नम्बूदरी ब्राह्मण को बदरीनाथ मूर्ति की पूजा के लिए नियुक्त किया। आचार्य के द्वारा यह चलाई गई पद्धति आज भी अक्षुण्ण रीति से विद्यमान है। आज भी दक्षिण के नम्बूदरी ब्राह्मण (जिसे रावल जी कहते हैं) की अध्यक्षता में इस स्थान की पूजा-अर्चा चलती है। बदरिधाम हमारे चारों धामों में अन्यतम है। इसके उद्धार का समस्त श्रेय आचार्य शङ्कर को ही है[2]। आगे चलकर शङ्कर ने इसी के कुछ दूर नीचे ज्योतिर्मठ की स्थापना की (जिसे आजकल जोशीमठ भी कहते हैं) और तोटकाचार्य नामक शिष्य को यहाँ का अध्यक्ष बनाया। इस प्रकार इस स्थान का

---

[1] ततोऽहं यतिरूपेण तीर्थान्नारदसंज्ञकात्।
उद्धृत्य स्थापयिष्यामि हरिं लोकहितेच्छया॥
—स्कन्दपुराण, वैष्णवखण्ड (बदरिकाश्रम माहात्म्य), अध्याय ५, पृष्ठ १२८

[2] गत्वैकादशवार्षिको बदरिकारण्ये सुपुण्याश्रमे
पञ्चाब्दान्तर कुण्ठया निजधिया भाष्याणि यः षोडश।
निर्माय प्रथयाञ्चकार बदरीनारायणार्चां तथा
श्रीज्योतिर्मठमाबबन्ध स गुरुः श्री शंकरो वन्द्यते॥
कालिदास—शंकरविजय का मंगलश्लोक

उद्धार कर आचार्य शंकर ने "व्यासाश्रम" में रहकर ब्रह्मसूत्र के ऊपर भाष्य लिखने का निश्चय किया।

भाष्य-रचना

व्यासतीर्थ बदरिकाश्रम के पास ही है। यही महामुनि व्यासदेव का आश्रम है। यहीं रहकर वेदव्यास ने महाभारत की रचना की। इसके नीचे केशव प्रयाग है जहाँ अलकनन्दा के साथ केशव गंगा का संगम है। बदरीनारायण के मन्दिर को पार कर उत्तर तरफ त्रिकोणाकार एक ऊँचे, पूरब से पच्छिम तक फैले हुए हिमालय प्रदेश में यह आश्रम स्थित है। यह एक बड़ी भारी गुफा है। गुफा के बाहर दाहिनी तरफ सरस्वती का मन्दिर है और बायीं तरफ गणेश का। जब व्यासदेव ने महाभारत की रचना की थी तब यहीं गणेश जी लिखते थे और उन्होंने कूट-श्लोकों के अर्थों को भलीभाँति समझा है कि नहीं इसकी गवाही देने के लिए सरस्वती देवी स्वयं उपस्थित थी। इसी गुफा में आचार्य शङ्कर ने अपने शिष्यों के साथ निवास करना आरम्भ किया। एक तो हिमालय की सुन्दर ऋतु, दूसरे आश्रम का पवित्र वायुमंडल—दोनों ने मिलकर आचार्य के हृदय में नवीन आध्यात्मिक प्रेरणायें प्रस्तुत कीं। यहीं रह कर आचार्य ने ब्रह्मसूत्र, भगवद्गीता तथा प्रधान उपनिषदों पर विशद भाष्य लिखे। आचार्य ने यहाँ लगभग चार वर्षों तक निवास किया। बारह वर्ष की उम्र में वे आये थे और सोलह वर्ष समाप्त होते-होते उन्होंने अपने भाष्य-ग्रंथों की रचना कर डाली। आचार्य की साधना का यही पर्यवसान था। ये ग्रन्थ इतने महत्वपूर्ण हैं कि वैदिक धर्म के रहस्य को जानने के लिए इनका अध्ययन नितान्त आवश्यक है, परन्तु बिना टीका के बड़े दुरूह हैं। आचार्य ने इन्हें व्याख्या से सम्पन्न कर इनकी उपयोगिता अधिक बढ़ा[1] दी।

भाष्य-रचना के साथ-साथ भाष्य-पाठन भी होता था। भाष्य तो सब शिष्य पढ़ते थे परन्तु सनन्दन की बुद्धि सब से विलक्षण थी। गुरु ने उन्हें तीन बार अपना शारीरिक भाष्य पढ़ाया। इसलिए आचार्य के अनन्तर सनन्दन का अद्वैत-ज्ञान नितरां श्लाघनीय था। ऐसे शिष्य पर गुरु की कृपा होना स्वाभाविक था।

---

[1] व्यास गुफा में रहकर आचार्य ने भाष्य की रचना की थी, यह माधव के शंकर विजय के अनुसार है। अन्य ग्रन्थों में भाष्य की रचना काशी में की गई है, ऐसा वर्णन मिलता है। व्यास-दर्शन का स्थान भी माधव के ग्रन्थ में 'केदारनाथ' के पास बतलाया गया है। परन्तु चिद्विलास ने काशी में इस घटना के होने का निर्देश किया है—शंकर विजयविलास, अ० १३–१४

शिष्य ने भी अपनी गाढ़ गुरुभक्ति का परिचय देकर अपनी योग्यता अच्छी तरह से अभिव्यक्त की। एक दिन की घटना है कि सनन्दन किसी कार्य के लिये अलकनन्दा के उस पार गये हुए थे। दूर पर नदी को पार करने के लिये एक पुल था। परन्तु इसे पार कर उस पार जाना विलम्ब-कारक था। आचार्य अपने शिष्यों के साथ बैठे हुये थे। सामने वेगवती अलकनन्दा का प्रवाह बड़े ज़ोरों से बह रहा था। उसी समय आचार्य ने करुणस्वर में सनन्दन का नाम लेकर ज़ोरों से पुकारा। सनन्दन अपने गुरु के शब्दों को पहचानते थे ही। उन्होंने समझा कि गुरु पर कोई आपत्ति आई है। पुल से पार करने में देर लगती, अतः उन्होंने सामने अलकनन्दा के में प्रवेश किया। गुरु के प्रति इस निष्कपट प्रेमभाव से प्रसन्न होकर नदी ने उन स्थानों पर कमल उगा दिए जहाँ सनन्दन ने अपने पैर रक्खे थे। शिष्य को भी इस घटना का पता नहीं चला। आचार्य के पास पहुँच कर उन्होंने उनकी आज्ञा चाही। शङ्कर बड़े प्रसन्न हुये और शिष्यमण्डली के सामने सनन्दन की भूरि प्रशंसा की और उसी दिन से उनका नाम "पद्मपाद" रख दिया। आगे चलकर सनन्दन इसी नाम से सर्वत्र विख्यात हुए।

सनन्दन की गुरु-भक्ति

व्यासगुहा में भाष्यरचना का कार्य समाप्त कर शङ्कर ने हिमालय के अन्य तीर्थों का दर्शन किया। क्रमशः वे केदारनाथ के पास पहुँचे। केदार एक त्रिकोणाकृति क्षेत्र है। बदरीक्षेत्र की अपेक्षा यह स्थान अधिक ठंढा और निर्जन है। भगवान् केदारेश्वर इस क्षेत्र के प्रधान देवता हैं। इसके बाद स्वर्गारोहण पर्वत है। इसी स्थान से पाण्डवों ने महाप्रस्थान किया था। आचार्य शिष्यमंडली के साथ यहाँ रहने लगे। परन्तु भयंकर सर्दी के कारण शिष्य लोग बेचैन हो उठे। तब आचार्य ने योगदृष्टि से ही उस स्थान का पता लगाया जहाँ गरम जल की धारा प्रवाहित होती थी। इस तप्तकुंड के मिल जाने से शिष्यों को बड़ा संतोष हुआ।[१] शङ्कर ने यहीं से गंगोत्री के दर्शन के लिए प्रस्थान किया। 'उत्तर काशी' में रहते समय आचार्य कुछ उन्मनस्क-से थे। उनका सोलहवाँ वर्ष बीत रहा था और ज्योतिषियों के फलानुसार उन्हें उस वर्ष मृत्युयोग की आशङ्का थी। परन्तु एक विचित्र घटना ने इस मृत्युयोग को भी नष्ट कर दिया।

घटना इस प्रकार हुई। उन दिनों आचाय शङ्कर 'उत्तर काशी' में विराजते

---

[१] स्नातुमुष्णोदकसरस्तत्र तुष्टो ददौ मुदा।
अद्यापि तत् सरस्तत्र विद्यते विष्णुसन्निधौ॥
—शं० बि० वि० ३१।३३

थे, और अपने शिष्यों को ब्रह्मसूत्र-भाष्य पढ़ाया करते थे। प्रातःकाल एक दिन एक कृष्णकाय ब्राह्मण वहाँ आकर उपस्थित हुआ और उसने शंकर से पूछा कि तुम कौन हो और क्या पढ़ा रहे हो? विद्यार्थियों ने उत्तर दिया कि ये समस्त उपनिषदों के मर्मज्ञ हमारे गुरु हैं, जिन्होंने द्वैतमत के निराकरण के लिये ब्रह्मसूत्रों के ऊपर अद्वैतपरक भाष्य लिखा है। इस पर उस ब्राह्मण ने बड़ा आश्चर्य प्रकट किया और बोल उठा—"भला, इस कलियुग में ऐसा कौन पुरुष है जो बादरायण व्यास के सूत्रों का मर्म भलीभाँति जानता हो। मैं तो ऐसे व्यक्ति की खोज में हूँ। यदि तुम्हारे गुरु ब्रह्मसूत्र के सचमुच ज्ञाता हैं तो कृपया एक सूत्र के अर्थ के विषय में मेरे हृदय में जो संदेह उत्पन्न हुआ है उसका निराकरण कर मुझे सन्तुष्ट करें।" शिष्यों ने अपने गुरु से इस ब्राह्मण के आगमन की सूचना दी। शंकर ने उस तेजस्वी ब्राह्मण को देखा और अपनी नम्रता प्रकट करते हुए बोले—"मैं सूत्र के अर्थ जानने वाले विद्वानों को नमस्कार करता हूँ। मैं इन गूढ़ सूत्रों के अर्थ जानने का अभिमान नहीं करता, तथापि जो आप मुझसे पूछेंगे तो मैं अपनी बुद्धि के अनुसार उसका समाधान अवश्य करूँगा।"

व्यास दर्शन

इस पर ब्राह्मण ने ब्रह्मसूत्र के अन्तर्गत तीसरे अध्याय प्रथमपाद के प्रथम सूत्र की व्याख्या पूछी। वह सूत्र यों है—तदन्तरप्रतिपत्तौ रंहति संपरिष्वक्तः प्रश्ननिरूपणाभ्याम्।[1] शंकर ने इस सूत्र की व्याख्या करते हुए कहा कि "इस शरीर के अवसन्न हो जाने पर अर्थात् मृत्यु हो जाने के बाद जब जीव दूसरे देह की प्राप्ति करता है, तब वह पञ्चभूतों के सूक्ष्म अवयवों से युक्त होकर ही दूसरे स्थान पर जाता है। इस विषय में उपनिषद् का प्रमाण स्पष्ट है। छान्दोग्य उपनिषद् (५।३।३) में जैवलि और गौतम के कथनोपकथन के द्वारा इसी विषय का प्रतिपादन किया गया है। प्रश्न है—पांचवी आहुति में जल को पुरुष क्यों कहते हैं? उत्तर है—आकाश, पर्जन्य, पृथ्वी, पुरुष तथा स्त्री रूपी पाँच अग्नियों में क्रमशः श्रद्धा, सोम, वृष्टि अन्न तथा वीर्य रूपी पाँच आहुतियाँ दी जाती हैं, और इस प्रकार जल को, अर्थात्

---

[1] सूत्र का अर्थ—अन्य देह की प्राप्ति में देह के बीजभूत भूतसूक्ष्मों से परिवेष्टित होकर जीव धूमादि मार्ग द्वारा स्वर्गलोक में गमन करता है। यह प्रश्न और निरूपण से सिद्ध है। प्रश्न है—'पाँचवीं आहुति में जल पुरुष-संज्ञक होता है, क्या तू इसे जानता है' (छा० ५।३।३) निरूपण इसे सिद्ध करता है (छा० ५।९।१)

देह के उत्पादक पञ्चभूतों के सूक्ष्म अवयवों को पुरुष कहते हैं। तात्पर्य यह है कि जीव आकाश आदि पाँच भूतों के सूक्ष्म अंशों से आवृत होकर ही एक देह से दूसरे देह में जाता है।''

शंकर की यह व्याख्या सुनकर उस ब्राह्मण ने सैकड़ों शंकायें उपस्थित कीं और शंकर ने सैकड़ों प्रकार से उन शंकाओं का निराकरण किया। यह शास्त्रार्थ लगातार सात दिनों तक होता रहा। वह ब्राह्मण सूत्र के विषय में जितना सन्देह करता, उनका खण्डन आचार्य शंकर उतनी हीं दृढ़ता से करते जाते थे। इस तुमुल शास्त्रार्थ को देखकर शिष्यमण्डली चकित हो उठी। ब्राह्मण की विलक्षण प्रतिभा देख पद्मपाद के हृदय में सन्देह उत्पन्न हुआ कि यह विचक्षण सम्भवत: स्वयं महर्षि वेदव्यास ही हैं। संशय निश्चय के रूप में परिणत हो गया, जब दूसरे दिन आचार्य की प्रार्थना पर वेदव्यास ने अपना भव्य रूप दिखलाया। वेदव्यास ने आचार्य की प्रार्थना पर उनकी भाष्यरचना देखी और अपने अभिप्राय का यथार्थ निरूपण करने के कारण उन्हें खूब आशीर्वाद दिया। शंकर के मृत्युयोग को टाल कर व्यास ने सोलह वर्ष की आयु और प्रदान की। व्यास जी ने अद्वैत-तत्त्व के प्रचुर-प्रचार के लिए उस समय के प्रसिद्ध पण्डित कुमारिलभट्ट को अपने मत में लाने के लिए शंकर से कहा। तदनन्तर वे अन्तर्धान हो गए।

शंकर ने तीर्थयात्रियों के मुख से सुना कि इस समय कुमारिल प्रयाग में त्रिवेणीतट पर विराजमान हैं। अत: उनसे भेंट करने के लिये शंकर अपनी शिष्यमण्डली के साथ चल पड़े, और सम्भवत: यमुना के किनारे-किनारे होकर प्रयाग पहुँचे। उस युग के वेदमार्ग के उद्धारक तथा प्रतिष्ठापक दो महापुरुषों का अलौकिक समागम त्रिवेणी के पवित्र तट पर सम्पन्न हुआ।

— — —

सप्तम परिच्छेद

कुमारिल-प्रसङ्ग

भारत के सांस्कृतिक इतिहास में आचार्य शंकर और कुमारिल भट्ट के परस्पर मिलने की घटना अपना एक विशेष महत्त्व रखती है। कुमारिल और शंकर दोनों अपने समय के युगान्तर उपस्थित करने वाले महापुरुष थे। इन दोनों महापुरुषों का मिलना वैदिक धर्म के इतिहास के लिये जितना महत्त्वपूर्ण है उससे कम बौद्ध धर्म के इतिहास के लिये नहीं है। कुमारिल ने अपने पांडित्यपूर्ण ग्रंथों के द्वारा नास्तिक बौद्ध दार्शनिकों के द्वारा आर्यधर्म के कर्मकांड के ऊपर किये गये आक्षेपों का मुँहतोड़ उत्तर देकर उसकी इस देश में पुनः प्रतिष्ठा की। आचार्य शङ्कर ने भी वैदिक धर्म के ज्ञानकांड के ऊपर बौद्धों तथा जैनों के खंडनों का उत्तर देकर अपने विपक्षियों को परास्त कर इसका पुनः मंडन किया। इस प्रकार इन दोनों मनीषियों को ही वैदिक धर्म के कर्मकांड तथा ज्ञानकांड की पुनः स्थापना का श्रेय प्राप्त है। जब देश में नास्तिक बौद्धों के द्वारा वैदिक धर्म की खिल्ली उड़ाई जा रही थी, जब यज्ञ यागादिक पाप ठहराये जा रहे थे, ऐसे समय में इन दोनों युगान्तरकारियों ने अपनी प्रतिभा तथा विद्वत्ता से वैदिक धर्म की रक्षा की थी। इससे इन दोनों महापुरुषों के मिलन के महत्त्व का सहज ही में अनुमान किया जा सकता है। परन्तु इस महत्त्व को समझाने के लिये कुमारिल भट्ट की विद्वत्ता, प्रतिभा, उनका व्यक्तित्व तथा जीवनवृत्त जानना अत्यन्त आवश्यक है। अतः पाठकों का ध्यान हम कुमारिल के वृत्त, विद्वत्ता तथा व्यक्तित्व की ओर खींचना अत्यन्त उचित समझते हैं।

कुमारिल की जन्मभूमि

कुमारिल भट्ट ने भारत के किस प्रान्त को अपने जन्म से गौरवान्वित किया था? इस प्रश्न का यथार्थ उत्तर साधनों के अभाव के कारण भलीभाँति नहीं दिया जा सकता। भारतीय पंडितों में इस विषय में अनेक किम्वदन्तियाँ प्रचलित हैं। इनके जन्मस्थान के विषय में तिब्बत में भी एक जनश्रुति प्रसिद्ध है। तिब्बत के ख्यातनामा ऐतिहासिक तारानाथ के कथनानुसार ये बौद्ध पंडित धर्मकीर्ति के पितृव्य थे जो दक्षिण भारत के चूडामणि राज्य के अन्तर्गत त्रिमलय नामक स्थान में उत्पन्न हुए थे[1]। वर्तमान काल में इन दोनों स्थानों की स्थिति के विषय

---

[1] कुमारिल विषयक जनश्रुति का उल्लेख केवल तारानाथ ने ही अपने 'चोस-ब्युङ्' नामक ग्रन्थ में नहीं किया है, इसका पुनरुल्लेख अन्य तिब्बतीय ग्रंथों में भी मिलता है। देखिये, डा० विद्याभूषण—History of Indian Logic p. 305

में निश्चयपूर्वक कुछ नहीं कहा जा सकता। बहुत सम्भव है कि यह चूड़ामणि राज्य चोल देश का ही दूसरा नाम हो। यदि कुमारिल सचमुच धर्मकीर्ति के पितृव्य होते तो हम उन्हें दक्षिण भारत के निवासी मानने में आपत्ति नहीं करते। परन्तु इस विषय में भारतीय परम्परा बिलकुल मौन है। भारतीय परम्परा के अनुसार ठीक इससे विपरीत बात सिद्ध होती है। आनन्दगिरि ने शङ्कर-दिग्विजय में लिखा है कि भट्टाचार्य (कुमारिल) ने उदग् देश (उत्तर भारत) से आकर दुष्ट मतावलम्बी जैनों तथा बौद्धों को परास्त किया[1]। उदग् देश काश्मीर और पञ्जाब समझा जाता है। विशिष्ट प्रान्तों के विषय में हम कुछ नहीं कह सकते, परन्तु इस उल्लेख से कुमारिल उत्तर भारत के ही निवासी प्रतीत होते हैं। इतना ही नहीं, मीमांसक श्रेष्ठ शालिकनाथ ने इनका उल्लेख "वार्तिककार मिश्र" के नाम से किया है। 'मिश्र' की यह उपाधि उत्तरी भारत के ब्राह्मणों के नाम से ही संबद्ध दिखलाई पड़ती है। शालिकनाथ स्वयं मीमांसक थे और कुमारिल के बाद तीन-सौ वर्ष के भीतर ही उत्पन्न हुए थे। अतः उनका कथन इस विषय में विशेष महत्त्व रखता है। इसलिये कुमारिल को उत्तर भारत का ही निवासी मानना अधिक युक्ति-संगत प्रतीत होता है। मिथिला देश में यह जनश्रुति है कि कुमारिल मैथिल ब्राह्मण थे। यह सम्भव है, परन्तु इस कथन की पुष्टि के लिये प्रमाणों का अत्यन्त अभाव है।

कुमारिल भट्ट की जीवन की घटनाओं का विशेष रूप से परिचय नहीं मिलता। तारानाथ के उल्लेख से केवल इतना ही पता चलता है कि ये गृहस्थ थे—साधारण गृहस्थ नहीं बल्कि धन-धान्य से सम्पन्न समृद्ध गृहस्थ। इनके पास धान के अनेक खेत थे। इनके पास ५०० दास और ५०० दासियाँ थीं। चूड़ामणि देश के राजा के यहाँ इनकी मान-मर्यादा अत्यधिक थी। इनके जीवन की अन्य बातों का तो पता नहीं चलता परन्तु बौद्धदर्शन के विख्यात आचार्य धर्मकीर्ति के साथ इनके शास्त्रार्थ करने तथा उनके हाथ पराजित होकर बौद्ध धर्म स्वीकार करने की घटना का वर्णन तारानाथ ने बड़े विस्तार के साथ किया है। धर्मकीर्ति त्रिमलय के निबासी ब्राह्मण थे। इनके पिता का नाम 'कोरुनन्द' बतलाया जाता है। ये थे तो ब्राह्मण परन्तु स्वभाव से बड़े ही उद्धत थे और वैदिक धर्म के प्रति नितान्त श्रद्धाहीन थे। बौद्धों के उपदेशों को सुनकर उनके हृदय में बौद्ध धर्म के प्रति श्रद्धा जाग उठी। घर छोड़ कर ये मध्यदेश में चले आये और नालन्दा

कुमारिल और धर्मकीर्ति

[1] भट्टाचार्यो द्विजवरः कश्चित्, उदग् देशात् समागत्य दुष्टमतावलम्बिनो बौद्धान् जैनान् असंख्यातान् निर्जित्य निर्भयो वर्तते।—शंकर-विजय, पृ० १८०

विश्वविद्यालय के पीठस्थविर (प्रिन्सपल) धर्मपाल के पास रहकर समस्त बौद्ध शास्त्रों का—विशेषत: न्याय शास्त्र का—विधिवत् अध्ययन किया। अब ब्राह्मण-दर्शन के रहस्य को जानने के लिये इनकी इच्छा प्रबल हो उठी और उस समय कुमारिल से बढ़कर वैदिक दर्शन का ज्ञाता कोई दूसरा व्यक्ति नहीं था जिससे ये इस शास्त्र का अध्ययन करते। अत: इन्होंने निश्चय किया कि इन्हीं से ब्राह्मण-दर्शन का अध्ययन करूँगा परन्तु कुमारिल किसी बौद्ध को क्यों यह दर्शन पढ़ाते ? अपनी इसी उत्कट इच्छा की पूर्ति के लिये ये कुमारिल के पास जाकर परिचारक का वेश धारण कर उनके घर में रहने लगे। ये सेवा का कार्य बड़े प्रेम से करते थे तथा इतना अधिक काम करते थे जितना पचास आदमी भी करने में असमर्थ थे। इनकी इन सेवाओं से कुमारिल भट्ट अत्यन्त प्रसन्न हुये और उन्होंने अपनी स्त्री के कहने पर इन्हें ब्राह्मण विद्यार्थियों के साथ बैठ कर दर्शनशास्त्र का पाठ सुनने की आज्ञा दे दी। तीव्रबुद्धि धर्मकीर्ति ने बहुत शीघ्र वैदिक-दर्शन के रहस्यों में प्रवीणता प्राप्त कर ली। तब इन्होंने अपने असली स्वरूप का परिचय दिया और वहाँ के ब्राह्मणों को शास्त्रार्थ के लिये ललकारा। कणाद गुप्त नामक एक वैशेषिक आचार्य तथा अन्य ब्राह्मण दार्शनिकों को शास्त्रार्थ में परास्त किया। अन्त में भट्ट कुमारिल की बारी आई। इनका धर्मकीर्ति के साथ गहरा शास्त्रार्थ हुआ और इस विवाद में गुरु कुमारिल परास्त हो गये। इसके पश्चात् अपने ५०० शिष्यों के साथ इन्होंने बौद्ध धर्म को स्वीकार कर लिया।[१]

कुमारिल की बौद्ध-धर्म दीक्षा

तिब्बतीय जनश्रुति के आधार पर इस उपर्युक्त घटना का वर्णन किया गया है, परन्तु इसकी पुष्टि भारतीय ग्रन्थों से नहीं होती। इतना तो अवश्य जान पड़ता है कि कुमारिल ने बौद्धदर्शन के यथार्थ ज्ञान प्राप्त करने के लिये बौद्ध-भिक्षु बन कर किसी बौद्ध आचार्य के पास कुछ दिनों तक बौद्ध शास्त्र का अध्ययन किया था। शंकराचार्य से अपनी आत्मकथा कहते समय कुमारिल ने स्वयं इस घटना को स्वीकार किया है। उस समय कुमारिल ने कहा है कि "किसी भी शास्त्र का तब तक खण्डन नहीं हो सकता जब तक उसके रहस्यों का पूर्ण परिचय नहीं होता। मुझे बौद्ध धर्म की धज्जियाँ उड़ानी थीं अत: मैंने बौद्ध-धर्म के खण्डन करने से पूर्व उसके अनुशीलन करने का उद्योग किया। नम्र होकर

---

[१] Dr. Vidyabhushan–History of Indian Logic-pp. 303-306

में बौद्धों की शरण में आया और उनसे सिद्धान्तों को पढ़ने लगा[1] ।"

कुमारिल ने बौद्ध धर्म का अध्ययन किस आचार्य के पास किया, यह कहना कठिन है। माधव ने अपने 'शंकरदिग्विजय' (७।९४) में उस बौद्धाचार्य के नाम का उल्लेख नहीं किया है। परन्तु बौद्ध दर्शन के इतिहास के अध्ययन करने से प्रतीत होता है कि उस समय धर्मपाल (६००-६३५ ई०) नामक बौद्ध आचार्य की कीर्ति चारों ओर फैली हुई थी। ये बौद्ध-धर्म के प्रधानपीठ नालन्दा

धर्मपाल और कुमारिल

विश्वविद्यालय के अध्यक्ष थे। वे स्वयं विज्ञान-वादी थे परन्तु उन्होंने योगाचार और शून्यवाद उभयमतों के विख्यात सिद्धान्त-ग्रन्थों पर पाण्डित्यपूर्ण टीकायें लिखीं। इनकी 'विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि-व्याख्या' नामक रचना वसुबन्धु की 'विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि' की टीका है तथा इनका "शतशास्त्रवैपुल्यभाष्य" आर्यदेव के प्रसिद्ध शून्यवादी ग्रंथ 'शतशास्त्र' का पाण्डित्यपूर्ण भाष्य है। अतः यह अनुमान निराधार नहीं माना जा सकता कि भट्ट कुमारिल ने इन्हीं बौद्धाचार्य आचार्य धर्मपाल से बौद्ध-दर्शन का अध्ययन किया।

एक दिन की बात थी कि धर्मपाल नालन्दा महाविहार के विशाल प्राङ्गण में बैठकर अपने शिष्यों के सामने बौद्ध धर्म की व्याख्या बड़े अभिनिवेश से कर रहे थे। प्रसङ्गवश उन्होंने वेदों की भी बड़ी निन्दा की। इस निन्दा को सुनकर वैदिक धर्म के पक्षपाती कुमारिल की आँखों से अश्रुपात होने लगा। पास बैठने वाले एक भिक्षु ने इस घटना

एक घटना

को देखा और धर्मपाल का ध्यान इधर आकृष्ट किया[2]। आचार्य धर्मपाल इस घटना को देखकर अवाक् रह गये—बौद्ध भिक्षु के नेत्रों से वेदों की निन्दा सुनकर आँसुओं की झड़ी! आश्चर्य भरे शब्दों में उन्होंने पूछा "तुम्हारे नेत्रों से अश्रुपात होने का क्या कारण है? क्या मैंने वेदों की जो निन्दा की है, वही हेतु तो नहीं है?" कुमारिल ने कहा कि, "मेरे अश्रुपात का यही कारण है कि आप बिना वेदों के गूढ़ रहस्यों को जाने इनकी मनमानी निन्दा कर रहे हैं।"

---

[1] अवादिषं वेदविघातदक्षैः, तान्नाशकं जेतुमबुध्यमानः।
तदीयसिद्धान्तरहस्यवार्धीन् निषेध्यबोद्धाद्धिनिषेध्यबाधः॥ शं० दि० ७।९३

[2] तदातदीयं शरणं प्रपन्नः, सिद्धान्तमश्रौषमनुद्धतात्मा।
अदूदुषत् वैदिकमेव मार्गं, तथागतो जातु कुशाग्रबुद्धिः॥
तदाऽपतत् मे सहसाश्रुबिन्दुः तच्चाविदुः पार्श्वनिवासिनोऽन्ये।
तदा प्रभृत्येव विवेश शङ्का, मय्याप्तभावं परिहृत्य तेषाम्॥
—शं० दि० ७।९४-९५

इस घटना ने कुमारिल के सच्चे स्वरूप को सबके सामने अभिव्यक्त कर दिया। धर्मपाल इस घटना से नितान्त रुष्ट हुये और उन्होंने इनको वहाँ से हटाने की आज्ञा दी। परन्तु दुष्ट विद्यार्थियों ने इनको विपक्षी ब्राह्मण समझकर नालन्दा बिहार के ऊँचे शिखर से नीचे गिरा दिया[1]। आस्तिक कुमारिल ने अपने को नितान्त असहाय पाकर वेदों की शरण ली और गिरते समय ऊँचे स्वर से घोषित किया कि ये यदि प्रमाण हैं तो मेरे शरीर का बाल भी बाँका न होगा:—

पतन् पतन् सौधतलान्यरोरुहं, यदि प्रमाणं श्रुतयो भवन्ति।
जीवेयमस्मिन् पतितोऽसमस्थले, मज्जीवने तत्श्रुतिमानता गतिः॥
—शं० दि० ७।६८

उपस्थित जनता ने आश्चर्य से देखा कि कुमारिल का ऊँची अटारी से गिरने पर भी शरीर नितान्त अक्षत रहा। वेद भगवान् ने उनकी रक्षा की। पर वेद की प्रामाणिकता में "यदि" पद के द्वारा सन्देह प्रकट करने के कारण कुमारिल की एक आँख फूट गई[2]। इस बार कुमारिल ने वेद-प्रमाण का निर्णय करने के लिये धर्मपाल को चुनौती दी। कहा जाता है कि बौद्ध-आचार्य धर्मपाल परास्त हो गये और पूर्व प्रतिज्ञानुसार उन्होंने (धर्मपाल) अपने शरीर को तुषानल (भूसे की आग) में जला डाला। इस घटना से वैदिक धर्म के आगे बौद्ध धर्म ने पराजय स्वीकार कर लिया तथा कुमारिल की विजय वैजयन्ती सर्वत्र फहराने लगी।

कुमारिल ने बौद्धधर्म तथा दर्शन के गम्भीर अध्ययन के लिये कुछ समय के लिए बौद्ध बनाना स्वीकार कर लिया होगा। इस सिद्धान्त को मानने में कोई आपत्ति नहीं दिखाई पड़ती। कुमारिल का बौद्धदर्शन का ज्ञान जितना गम्भीर और परिनिष्ठित है, उतना अन्य ब्राह्मण दार्शनिकों का नहीं। इनकी पहुँच केवल संस्कृत में लिखे गये बौद्ध-दर्शन तक ही सीमित नहीं थी, प्रत्युत इन्होंने पाली में बौद्ध-दर्शन

---

[1] विपक्षपाठी बलवान् द्विजातीः, प्रत्याददत्दर्शनमस्मदीयम्।
उच्चाटनीयः कथमप्युपायैः, नैतादृशः स्थापयितुं हि योग्यः॥
संमन्त्र्य चेत्थं कृतविस्वयास्ते, ये चापरेऽहिंसनवादशीलाः।
व्यपातयन् उच्चतरात् प्रमत्तं, मामग्रसौधात् विनिपातभीरुम्॥
—शं० दि० ७।९६।९७

[2] यदीह सन्देह पदप्रयोगाद् व्याजेन शास्त्रश्रवणाच्च हेतोः।
ममोच्चदेशात् पततो व्यनङ्क्षीत्, तदेकचक्षुर्विधिकल्पना सा॥
—शं० दि० ७।९९

(पाली बुद्धिज्म) का भी गाढ़ अध्ययन किया था। सत्य तो यह है कि शङ्कराचार्य से भी बौद्ध-दर्शनों का ज्ञान इनका अधिक था परन्तु ज्ञान तभी संभव है जब इन्होंने किसी बौद्ध आचार्य के पास जाकर शिक्षा ग्रहण की हो। अत: इससे ज्ञात होता है कि बौद्ध दर्शन के अध्ययन के लिये इन्होंने कुछ काल के लिये बौद्धधर्म स्वीकार कर लिया होगा, क्योंकि बिना ऐसा किये भला कोई बौद्ध आचार्य इन्हें क्यों पढ़ाता ? इस कथन की पुष्टि बौद्ध ग्रन्थों से ही नहीं होती प्रत्युत माधव-कृत शंकर दिग्विजय (७ सप्तम सर्ग) तथा 'मणिमंजरी,'[1] जैसे ब्राह्मण-ग्रंथों से भी होती है।

कुमारिल को ब्राह्मणदर्शन का अगाध ज्ञान तो था ही, धर्मपाल के पास रह कर उन्होंने बौद्धदर्शन में प्रवीणता प्राप्त कर ली। इस प्रकार अपने तथा विपक्षी के दोनों दर्शनों में पारंगत होकर, अपनी विद्वत्ता में अटूट विश्वास रखकर आचार्य कुमारिल दिग्विजय के लिये निकल पड़े। पहिले वे उत्तरी भारत के पण्डितों को परास्त करने के लिये निकले तथा सब को अपनी विद्वत्ता का लोहा मनवा कर दक्षिण भारत की ओर चल पड़े।

भट्ट कुमारिल और राजा सुधन्वा

दक्षिण भारत के कर्णाटक देश में सुधन्वा नामक बड़े प्रसिद्ध राजा उस समय राज करते थे। वे एक बड़े न्यायपरायण राजा थे। इनकी नगरी का नाम उज्जैनी था जिसकी स्थिति का पता आजकल बिलकुल नहीं चलता। ये वैदिक मार्ग पर चलने वाले श्रद्धालु राजा थे परन्तु जैनियों के पञ्जे में पड़ कर वे जैन धर्म में आस्था रखने लगे थे। दिग्विजय करते समय कुमारिल कर्णाटक देखने आये और राजा सुधन्वा के दरबार में गये।

उस समय कर्णाटक देश में बौद्धधर्म तथा जैनधर्म का बड़ा बोलबाला था। ज्ञान का भण्डार वेद कूड़ेखाने में फेंका जाने लगा और वेद के रक्षक ब्राह्मणों की निन्दा होने लगी। देश का राजा सुधन्वा ही जैनमत के प्रति श्रद्धालु था। पर उसकी रानी अभी तक वेद का पल्ला थामे हुई थी। एक दिन वह अपने राज-भवन की खिड़की में बैठी चिन्ता कर रही थी—"किं करोमि क्व गच्छामि को वेदान् उद्धरिष्यति।"—क्या करूँ, कहाँ जाऊँ और वेदों का उद्धार कौन करेगा ? कुमारिल भट्ट उसी रास्ते से जा रहे थे। उन्होंने यह दीनता भरी पुकार सुनी। वहीं खड़े हो गये। वहीं उन्होंने ऊँचे स्वर में कहा—"मा विषीद वरारोहे भट्टाचार्योऽस्मि भूतले।"—हे रानी चिन्ता मत कीजिये। मैं भट्टाचार्य इसी पृथ्वी पर वर्तमान हूँ। मैं वेदों का उद्धार करूँगा और आपकी चिन्ता दूर कर

---

[1] मणिमञ्जरी, सर्ग ५, श्लोक ३७-४१

दूंगा। कुमारिल ने अपने कार्यों से सचमुच सुधन्वा रानी की चिन्ता को सदा के लिये दूर कर दी।

राजा सुधन्वा स्वयं तो परम आस्तिक थे परन्तु जिस कर्णाटक देश के वे अधिपति थे, वहाँ जैन-धर्म का चिरकाल से बोलबाला था। इनके दरबार में भी जैनियों की प्रभुता बनी हुई थी। कुमारिल ने इस विषम परिस्थिति को देखा कि राजा तो स्वयं वेदधर्म में आस्था रखने वाला है परन्तु उसका दरबार वेद-विरोधियों का अड्डा बना हुआ है। इसी को लक्ष्य कर कुमारिल ने कहा कि हे कोकिल! यदि मलिन, काले, श्रुति (कान तथा वेद) को दूषित करने वाले कौओं से तुम्हारा संसर्ग नहीं होता तो तुम सचमुच श्लाघनीय होते।

मलिनैश्चेन्न संगस्ते नीचैः काककुलैः पिक।
श्रुतिदूषकनिर्ह्लादैः श्लाघनीयस्तदा भवेः ॥—शं० दि० १।६५

जैनियों ने इसे अपने ऊपर आक्षेप समझा और बड़ा बुरा माना। राजा भी दोनों की परीक्षा लेने का अवसर ढूँढ़ रहा था। राजा ने एक बार एक घड़े में एक विषैले साँप को बन्द कर जैनियों और ब्राह्मणों से इसके विषय में पूछा। दूसरे दिन का वादा कर जैनी लोग घर लौट गये परन्तु कुमारिल ने उसका उत्तर उसी समय लिख कर रख दिया। रात भर जैनियों ने अपने तीर्थङ्करों की आराधना की। प्रातःकाल होते ही उन्होंने राजा से कह सुनाया कि घड़े के भीतर सर्प है। कुमारिल का पत्र खोला गया। दैवी प्रतिभा के बल पर लिखे गये पत्र में वही उत्तर विद्यमान था। समान उत्तर होने पर राजा ने पूछा कि सर्प के किसी विशिष्ट अंग में कोई चिह्न है क्या? जैनी लोगों ने समय के लिये प्रार्थना की परन्तु कुमारिल ने तुरन्त उत्तर दिया कि सर्प के सिर पर दो पैर के चिह्न बने हुये हैं। घड़ा खोला गया। कुमारिल का कथन अक्षरशः सत्य निकला। राजा ने वेदबाह्य जैनियों को निकाल बाहर किया और वैदिकमार्ग की प्रतिष्ठा की। अब कुमारिल का सामना करने की किसी की हिम्मत नहीं हुई और इनकी विजयपताका इस प्रकार सर्वत्र फहराने लगी।

कुमारिल के ग्रन्थ

भट्ट कुमारिल ने शबर स्वामी के मीमांसा भाष्य पर सुप्रसिद्ध टीका लिखी है जो वार्तिक के नाम से प्रसिद्ध है। यह टीका तीन भागों में विभक्त है—(१) श्लोकवार्तिक[1]—३०९९ अनुष्टुप् श्लोकों का यह विशालकाय ग्रन्थ प्रथम अध्याय के प्रथम पाद (तर्कपाद)

---

[1] यह ग्रन्थ चौखम्भा संस्कृत सीरीज, काशी से पार्थसारथि मिश्र की 'न्यायरत्नाकर' टीका के साथ प्रकाशित हुआ है। डा० गङ्गानाथ झा ने इसका अंग्रेजी में अनुवाद कर एशियाटिक सोसाइटी बंगाल से इसे प्रकाशित कराया है।

की व्याख्या है। (२) तन्त्र-वार्तिक[1]—प्रथम अध्याय के दूसरे पाद से लेकर तृतीय अध्याय के अन्त तक की गद्य में व्याख्या है। ये दोनों ग्रन्थ कुमारिल के व्यापक पाण्डित्य तथा असाधारण तर्क-कुशलता को प्रकट करने में पर्याप्त हैं। (३) यह ग्रन्थ बहुत छोटा है। इसका नाम है टुपटीका[2]। इसमें चौथे अध्याय से लेकर बारहवें अध्याय तक के शबर भाष्य पर संक्षिप्त गद्यात्मक टिप्पणियाँ हैं। कृष्णदेव ने 'तन्त्र-चूडामणि' में कुमारिल की अन्य दो टीकाओं का उल्लेख किया है। एक का नाम था बृहट्टीका तथा दूसरी का नाम था मध्यम टीका। तन्त्र-वार्तिक या तन्त्रटीका बृहट्टीका का संक्षेप माना जाता है। इन ग्रन्थों के अतिरिक्त 'मानव-कल्पसूत्र' के ऊपर कुमारिल की लिखी हुई एक टीका भी उपलब्ध है जिसके कुछ अंश को सन् १८६७ ई० में डा० गोल्डस्टुकर ने लण्डन से छपवाया था। 'शिवमहिम्नःस्त्रोत' की रचना एक टीकाकार के अनुसार कुमारिल के द्वारा की गयी थी परन्तु इसमें कुछ सार नहीं मालूम पड़ता। सोमदेव के 'यशस्तिलकचम्पू' (६५६ ई०) में ग्रहिल इस स्तोत्र के कर्ता माने गये हैं।

कुमारिल का भाषा-ज्ञान व्यापक तथा अत्यन्त विस्तृत था जिसका पता इनके ग्रन्थों से लगता है। तन्त्र-वार्तिक में इन्होंने भाषाओं के दो भेद किये हैं—

कुमारिल का भाषाज्ञान

(१) आर्यों की भाषा तथा (२) म्लेच्छों की भाषा। आर्यों का निवास-स्थान आर्यावर्त माना गया है। इस देश की भाषा आर्य थी और जो लोग इस आर्यावर्त के बाहर के प्रदेशों में रहते थे वे म्लेच्छ माने गये थे। कुमारिल द्राविड़ी भाषा (तमिल) से परिचित जान पड़ते हैं। उन्होंने पाँच शब्दों को तन्त्र-वार्तिक में उद्धृत किया है[1] जो तमिल भाषा के हैं। ये शब्द हैं:—चोर = भात (तमिल चोरु) नड्डेर = रास्ता (तमिल नड़), पाम्प = साँप (तमिल पाम्पू), आल = मनुष्य (तमिल आड़) वैर = पेट (तमिल वायिरु)। इसके अनन्तर कुमारिल ने पारसी, बर्बर, यवन, रोम, आदि भाषाओं का नामोल्लेख किया है[3]। इन नामों

---

[1] ये ग्रन्थ आनन्दाश्रम संस्कृत सीरीज, पूना से पाँच भागों में प्रकाशित हुये हैं। तन्त्रवार्तिक का भी अनुवाद डा० झा ने अंग्रेजी में करके एशियाटिक सोसाइटी बंगाल से छपवाया है।

[2] तद्यथा द्राविडादिभाषायामेव तावद् व्यञ्जनान्तभाषापदेषु स्वरान्तविभक्ति स्त्री-प्रत्यादि-कल्पनाभिः स्वभाषानुरूपान् अर्थान् प्रतिपद्यमाना दृश्यन्ते।—तन्त्रवार्तिक १।३।१०

[3] तद्यथा द्राविडादि भाषायामीदृशी स्वच्छन्दकल्पना, तदा पारसी बर्बर-यवन-रौमकादि भाषासु किं विकल्प्य किं प्रतिपत्स्यन्ते इति न विद्मः॥ तंत्र वा० १।३।१०

में पारस से अभिप्राय फारसी से तथा यवन भाषा का अभिप्राय ग्रीकभाषा से समझना चाहिये। रोम भाषा—रोम की भाषा के विषय में निश्चय रूप से नहीं कहा जा सकता। साधारणतया यह रोम की भाषा अर्थात् लैटिन को सूचित करता है परन्तु यह ध्यान देने योग्य है कि प्राचीन काल में रोम शब्द से अभिप्राय इटली देश की राजधानी रोम से न होकर तुर्कों की राजधानी कुस्तुनतुनियाँ से थी। बोलचाल की हिन्दी में भी तुर्कों का देश 'रूम' के नाम से ही विख्यात है। बर्बर भाषा कौन-सी है? सम्भवतः जंगल में रहनेवाले असभ्य लोगों की यह भाषा रही होगी। इनके अतिरिक्त कुमारिल का परिचय लाट भाषा से भी था। लाट भाषा से अभिप्राय गुजराती से है। एक स्थान पर उन्होंने स्पष्टरूप से कहा है कि लाट भाषा को छोड़ कर अन्य किसी भाषा में 'द्वार' शब्द का परिवर्तन 'वार' के रूप में नहीं होता[1]। जान पड़ता है कि कुमारिल वैयाकरणों के द्वारा व्याकृत किसी प्राकृत भाषा का निर्देश नहीं कर रहे हैं। प्रत्युत लाट देश की (गुजरात की) किसी स्थानीय भाषा का उल्लेख उन्हें अभीष्ट प्रतीत होता है। अन्य प्राकृतों का ज्ञान भी उनका आदरणीय है परन्तु सबसे विलक्षण बात तो यह है कि बौद्धों के मूलग्रंथों की भाषा पालि से भी उनका परिचय था। कुमारिल के समय में महायान सम्प्रदाय का बोलबाला था जिनके धर्मग्रंथों की भाषा संस्कृत है। जान पड़ता है कि हीनयान मत सिद्धान्तों का साक्षात् ज्ञान प्राप्त करने के लिये ही इन्होंने पालि का अध्ययन किया था। इतनी विभिन्न भाषाओं की जानकारी रखना सचमुच ही बड़ी प्रतिभा का काम है। इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि कुमारिल भट्ट बहुभाषाविज्ञ पण्डित थे।

कुमारिल के शास्त्रज्ञान की चर्चा करना अनावश्यक-सा प्रतीत होता है। इतने व्यापक पाण्डित्य का, विविध दर्शनों के इतने गाढ़ अध्ययन का, अन्यत्र मिलना दुर्लभ-सा दीख पड़ता हैं। इनका तन्त्रवार्त्तिक

कुमारिल का दार्शनिक पाण्डित्य

वैदिकधर्म तथा दर्शन के लिये एक प्रामाणिक विश्वकोष है जिसमें वैदिक आचार के तत्त्वों का प्रतिपादन, शास्त्र तथा युक्ति के सहारे, इतनी सुन्दरता के साथ किया गया है कि उनकी अलौकिक वैदुषी को देखकर आश्चर्य से चकित होना पड़ता है। श्लोकवार्तिक में इन्होंने अन्य दार्शनिकों के मतों के खण्डन के लिये युक्तियों का एक विराट स्तूप खड़ा कर दिया है। शब्द की नित्यता तथा वेदों की अपौरुषेयता आदि मीमांसा-सिद्धान्तों के प्रतिपादन में इन्होंने बड़ी तर्ककुशलता का परिचय दिया है। परन्तु सबसे विलक्षण तथा विचित्र बात है बौद्धदर्शन का इनका गहरा ज्ञान।

---

[1] नहि द्वारा शब्दस्य स्थाने लाटभाषातोऽन्यत्र वारशब्दो दृश्यते।—तन्त्रवार्तिक

शंकराचार्य का बौद्धदर्शन-विषयक ज्ञान कुछ कम नहीं था, परन्तु कुमारिल के साथ तुलना करने पर यही जान पड़ता है कि इनका बौद्धदर्शन का ज्ञान शंकर से अधिक परिनिष्ठित, व्यापक, मौलिक तथा गम्भीर था। इस विषय में एक यह भी कारण है कि कुमारिल ने बौद्धदर्शन का ज्ञान साक्षात् बौद्ध आचार्यों से प्राप्त किया था (जैसा सप्रमाण पहिले दिखलाया जा चुका है), ग्रन्थों के अध्ययन मात्र से नहीं। सबसे आश्चर्य की बात तो यह है कि इन्होंने मूल बौद्धधर्म की जानकारी प्राप्त करने के लिए पालि का अध्ययन किया था। इनके समय में अष्टम शताब्दी में पालि पठन-पाठन की भाषा नहीं थी, उसकी परम्परा नष्ट हो चुकी थी, फिर भी उसी युग में उसका अध्ययन कर मूल पालि त्रिपिटकों का परिचय प्राप्त करना कुमारिल के लिए महान् गौरव का विषय है। तन्त्रवार्तिक में इन्होंने बौद्धों के एक विख्यात सिद्धांत का उल्लेख किया है कि संस्कृत धर्म—अर्थात् उत्पन्न पदार्थ कारण से उत्पन्न होते हैं, परन्तु उनका विनाश बिना किसी कारण के ही सम्पन्न होता है[1]। यह विचित्र सिद्धान्त पालि ग्रन्थों में ही उपलब्ध होता है। यह कुमारिल के लिये बड़े ही गौरव की बात है कि उन्होंने इस अवैदिक धर्म का मूल पकड़ कर इसका पर्याप्त खण्डन किया था। इसीलिये इनका काम—वैदिक धर्म का मण्डन तथा अवैदिक धर्म का खण्डन—इतना पुष्ट हुआ कि इनके तथा आचार्य शंकर के पीछे बौद्ध धर्म अपना सिर उठाने में समर्थ नहीं हुआ, वह पूर्वी भारत के एक कोने में किसी प्रकार सिसकता हुआ अपना दिन गिनता रहा और अन्त में उसे भारत की भूमि छोड़ देने पर ही शान्ति मिली। वैदिक धर्म के पुनरुत्थान तथा पुनः प्रतिष्ठा के लिये हम आचार्य कुमारिल के चिर ऋणी हैं। बौद्धों का वैदिक कार्मकाण्ड के खण्डन के प्रति महान् अभिनिवेश था। कुमारिल ने इस अभिनिवेश को दूर कर वैदिक कर्मकाण्ड को दृढ़ भित्ति पर स्थापित किया तथा वह परम्परा चलाई जो आज भी अक्षुण्ण रीति से विद्यमान है। सच तो यह है कि इन्होंने ही शंकराचार्य के लिये वैदिक धर्म प्रचार का क्षेत्र तैयार किया। आचार्य शंकर की इस कार्य में अव्याहत सफलता का बहुत कुछ श्रेय इन्हीं आचार्य कुमारिल भट्ट को प्राप्त है।

कुमारिल के अनेक विद्वान् शिष्य हुये जिन्होंने मीमांसा शास्त्र का विशेष प्रचार कर भारतवर्ष में धार्मिक क्रान्ति उत्पन्न कर दी। इनमें तीन मुख्य हैं—(१) प्रभाकर (२) मण्डन मिश्र (३) उम्बेक (अथवा भवभूति) प्रभाकर ने मीमांसा शास्त्र में नवीन मत को जन्म दिया है जो 'गुरु-मत' के नाम से

---

[1] अणुभवे कारणं इमे संकडाधम्मा सम्भवन्ति सकारणा, अकारणा विणसन्ति अणुप्यति कारणम्।

प्रसिद्ध है। प्रसिद्धि है कि ये भट्ट कुमारिल के पट्ट-शिष्य थे जिन्होंने इनकी अलौकिक कल्पनाशक्ति से मुग्ध होकर इन्हें 'गुरु' की उपाधि दी। तब से इनके मत का उल्लेख 'गुरु' के नाम से किया जाता है। आजकल के कुमारिल के शिष्य संशोधकों को इस परम्परा में विशेष सन्देह है। उन्होंने प्रभाकर और कुमारिल के सिद्धान्तों का तुलनात्मक अध्ययन कर यह निष्कर्ष निकाला है कि प्रभाकर कुमारिल से प्राचीन हैं। अतः इनके समय- निरूपण में मतभेद है। भारतीय दर्शन के इतिहास में प्रभाकर वह जाज्वल्यमान रत्न हैं जिनके व्याख्यान-कौशल और बुद्धि-वैभव की चमक ने विपश्चितों को चमत्कृत कर दिया है। अपने स्वतन्त्र मत की प्रतिष्ठा के लिए इन्होंने शाबरभाष्य पर दो टीकायें निर्मित की हैं—(१) बृहती या निबन्धन जो प्रकाशित हुई है, (२) लघ्वी या विवरण जो अभी तक अप्रकाशित है। प्रभाकर की व्याख्यायें उदारतापूर्ण हैं जो किसी कारण सर्वसाधारण में मान्य न हो सकीं। अतः इस मत के ग्रन्थों की संख्या अत्यन्त अल्प है। ग्रन्थ भी अप्रकाशित हैं[१]।

(२) मण्डनमिश्र इनके दूसरे प्रधान शिष्य थे। शङ्कर से इनका शास्त्रार्थ हुआ था। अतः इनका वर्णन अगले परिच्छेद में विस्तार के साथ किया जायेगा।

(३) उम्बेक ही का नाम भवभूति था। इस विषय में नई बातों की विशेष खोज हुई है। आवश्यक समझ कर इन मतों का उल्लेख यहाँ किया जा रहा है। अब सप्रमाण सिद्ध हो चुका है कि भवभूति प्रख्यात मीमांसक कुमारिल भट्ट के शिष्य थे। श्री शङ्कर पाण्डुरंग पण्डित को मालती-माधव की एक प्राचीन हस्त-लिखित प्रति मिली थी जिसके तृतीय अंक के अन्त में वह प्रकरण 'कुमारिलशिष्य' के द्वारा विरचित बतलाया गया तथा षष्ठ अंक के अन्त में कुमारिल के प्रसाद से वाग्वैभव को प्राप्त करने वाले उम्बेकाचार्य की कृति कहा गया है। इससे जान पड़ता है कि भवभूति का ही एक नाम 'उम्बेक' था। उम्बेक मीमांसाशास्त्र के बड़े भारी आचार्य थे। इनके मत तथा ग्रन्थ का उल्लेख कितने ही प्राचीन दर्शन-ग्रन्थों में पाया जाता है।

'प्रत्यग्रूप भगवान्' अथवा 'प्रत्यक्स्वरूप भगवान्[२]' नामक ग्रंथकार ने

---

[१]गुरु मत के इतिहास तथा सिद्धान्त के लिए देखिए, लेखक का—'भारतीय दर्शन', षष्ठ संस्करण पृ० ३७४—७६ (प्रकाशक शारदा मंदिर, काशी) १९६०

[२]प्रत्यग्रूप भगवान् अपने समय के एक अच्छे विद्वान् समझे जाते थे। प्रत्यक-प्रकाश' नामक कोई संन्यासी इनके पूज्य गुरुदेव थे। इन्होंने 'नयन प्रसादिनी' में अनेक स्थलों पर 'महाविद्याविडम्बन' के कर्त्ता वादीन्द्र के नाम तथा मत का उल्लेख किया है। वादीन्द्र, सिंघण नाम के राजा के धर्माध्यक्ष थे। अतएव

चित्सुखाचार्य्य की 'तत्त्वप्रदीपिका' की नयन-प्रसादिनी नामक टीका में 'उम्बेक' का नाम कई स्थानों में लिया है। चित्सुखी में एक स्थल पर 'अविनाभाव' (व्याप्ति) के लक्षण का खण्डन किया है। प्रत्यग्रूप भगवान् ने चित्सुखी के इस स्थल पर टीका लिखते समय उम्बेक की टीका का उल्लेख किया है[1], जिसे उम्बेक ने कुमारिल भट्ट के श्लोकवार्तिक (पृ० ३४८) की 'सम्बन्धो व्याप्तिरिष्टात्र लिङ्गधर्मस्य लिङ्गिना' पंक्ति पर की है[2]। 'उक्तं चैतदुम्बेकेन' आदि चित्सुखी के मूल[3] की व्याख्या लिखते समय टीकाकार ने 'उम्बेक' को महाकवि 'भवभूति' बतलाया है। इन उद्धरणों से स्पष्ट सूचित होता है कि भवभूति ने कुमारिल के श्लोकवार्तिक पर टीका लिखी थी तथा वे उम्बेक नाम से प्रसिद्ध थे।

श्री हर्ष (बारहवीं शताब्दी के अन्तिम भाग) के प्रसिद्ध ग्रन्थ 'खण्डन खण्ड-खाद्य' की 'विद्यासागरी' नामक टीका के रचयिता 'आनन्दपूर्ण' ने भी 'असती सा न विशेषिका' आदि मूल ग्रन्थ की व्याख्या लिखते समय श्लोकवार्त्तिक से दो श्लोकों को उद्धृत किया है। टीकाकार ने यह भी सूचना दी है कि 'उम्बेक' ने इन श्लोकों की टीका लिखी है तथा आवश्यक अंश को उद्धृत भी किया है[4]।

उनका समय १२२५ ई० के लगभग आता है (देखो, महाविद्या विडम्बन की भूमिका, पृ० १४ गा० ओ० सीरीज नं० १२)। प्रत्यग्रूप भगवान् रचित इण्डिया आफिस में सुरक्षित हस्त-लिखित पुस्तकों की १४६० ई० में कापी की गई थी। अत: प्रत्यग्रूप भगवान् का समय १३६०–१४६० ई० के बीच में होगा।

[1] उम्बेकस्तु सम्बन्धो व्याप्तिरिष्टात्र लिङ्गधर्मस्य लिङ्गिना इत्यत्र लिंगधर्मस्येति दर्शनात् व्याप्यैकधर्मो व्यापक—निरूप्यो व्याप्तिः; न पुनरुभयनिष्ठा इत्यब्रवीत्। चित्सुखी टीका पृ० २३५ (निर्णयसागर का संस्करण)।

[2] उक्तं चैतदुम्बेकेन 'यदाप्तोऽपि कस्मै चिदुपदिशति न त्वयाऽननुभूतार्थ—विषयं प्रयोक्तव्यं यथाङ्गुल्यग्रे हस्तियूथशतमास्ते। तत्रार्थव्यभिचारः स्फुटः'—चित्सुखी पृ० २६५

[3] चित्सुखी (मूल) पृ० २६५ (निर्णयसागर संस्करण)

[4] असतीति तदुक्तम्—

संवृतेर्न तु सत्यत्वं सत्यभेदः कुतोऽन्वयम्।
सत्या चेत्संवृतिः केयं मृषा चेत् सत्यता कथम्॥
सत्यत्वं न च सामान्यं मृषार्थपरमार्थयोः।
विरोधान्नहि वृक्षत्वं सामान्यम् वृक्षसिंहयोः॥

—श्लोक भा० पृ० २१८

तदियं श्लोकद्वयमुम्बेकेन व्याख्यातं—'नहि संवृतिपरमार्थयोःसत्यत्वं नाम सामान्यमेकत्रविरोधात् अन्यत्र पौनरुक्तप्रसङ्गात्। खण्डन-खण्ड पृ०४५

बोधघनाचार्य ने अपनी पुस्तक 'तत्त्वशुद्धि' के 'भेदाभेद-निराकरण प्रकरण' में निम्नलिखित टिप्पणी की है जिससे उम्बेक के एक प्रबल पक्ष वाले पण्डित होने की बात सिद्ध होती है। वोधघन की टिप्पणी यह है—"अयं तु क्षपणक पक्षादपि पापीयानुम्बेक-पक्ष इत्युपेक्ष्यते" अर्थात् उम्बेक का मत जैनों के मत से भी बुरा है। अतएव उसकी उपेक्षा की गई है।

हरिभद्र सूरि का 'षड्दर्शन समुच्चय' नामक ग्रन्थ संस्कृत जानने वालों के लिये बड़े काम की चीज है, क्योंकि इस छोटे ग्रन्थ में षड्दर्शनों के सिद्धान्त 'कारिका' के रूप में सरलता से समझाये गये हैं। इस ग्रन्थ की टीका गुणरत्न नामक जैन लेखक (१४०८ ई०) ने की है। उसने मीमांसा शास्त्र के अनेक मतों का उल्लेख कर नीचे का श्लोक दिया है :—

ओ (उ ?) म्बेक: कारिकां वेत्ति तन्त्रं वेत्ति प्रभाकर: ।
वामनस्तूभयं वेत्ति न किञ्चिदपि रेवण: ।।

ओम्बेक 'कारिका' का अच्छा वेत्ता है। प्रभाकर तन्त्र को जानता है। वामन दोनों का विशेषज्ञ है और रेवण कुछ भी नहीं जानता। इस श्लोक की 'कारिका' से कुमारिल के श्लोकवार्तिक का अभिप्राय समझना चाहिये; क्योंकि प्रत्यग्रूप भगवान् और आनन्दपूर्ण की माननीय सम्मति में उम्बेक ने श्लोकवार्तिक की व्याख्या लिखी थी। अतएव उस व्याख्या की प्रौढ़ता तथा सारगर्भिता के कारण गुणरत्न ने उम्बेक को 'कारिका'—श्लोकवार्तिक—का अच्छा जानने वाला बतलाया है।

पूर्वोक्त उद्धरणों को सम्मिलित करने से वही सिद्धान्त समुचित जान पड़ता है कि महाकवि भवभूति का दूसरा नाम 'उम्बेक'[१] था। ये कुमारिल भट्ट के शिष्य थे और अपने पूज्य गुरु के 'श्लोकवार्तिक' के ऊपर उन्होंने व्याख्या भी लिखी थी। संस्कृत साहित्य के लिये यह बात बड़े महत्त्व की है। अब तक भवभूति की प्रशंसा एक नाटककार की दृष्टि से ही की जाती थी, परन्तु अब हमें मीमांसक की दृष्टि से भी भवभूति का अध्ययन करना चाहिये। पूर्वोक्त निर्देशों से भवभूति की श्लोकवार्तिक की टीका नितान्त लोकप्रिय जान पड़ती है।[२] भवभूति के मीमांसक

---

[१] यह नाम प्रत्येक ग्रन्थ में कुछ भिन्न ही मिलता है। प्रत्यकग्रूप भगवान् ने इसे 'उम्बक' तथा 'उम्बेक' दोनों लिखा है। बोधघन ने उम्बेक, आनन्दपूर्ण ने उवेक तथा गुणरत्न ने ओम्बेक लिखा है। मालती माधव की प्रति में 'उम्बेक' मिलता है। इन सबसे 'उम्बेक' शब्द की ही सत्यता सिद्ध होती है। लेखक के प्रमाद से अन्य-अन्य रूपों की उत्पत्ति सहज में समझी जा सकती है।

[२] इस ग्रन्थ का एक अंश मद्रास विश्वविद्यालय ने प्रकाशित किया है।

होने की बात सर्वथा सत्य है। मण्डन मिश्र के 'भावनाविवेक' पर भी उम्बेक ने टीका लिखी थी। यह टीका काशी से 'सरस्वती भवन सीरीज' में निकली है। 'भावनाविवेक मीमांसा का प्रौढ़ ग्रन्थ है जिसके व्याख्याता होने से उम्बेक (भवभूति) का मीमांसक होना सर्वथा उचित प्रतीत होता है।

कुमारिल और शंकराचार्य की भेंट

भट्ट कुमारिल के व्यापक पाण्डित्य से लाभ उठाने के लिये तथा उनके अनुभव का पर्याप्त उपयोग करने के लिये आचार्य शङ्कर बड़े उत्सुक थे। ब्रह्मसूत्र के ऊपर वे भाष्य की रचना कर चुके थे। उनकी बड़ी इच्छा थी कि कोई विशिष्ट विद्वान् इस भाष्य के ऊपर विस्तृत वार्तिक लिखता। उधर कुमारिल 'वार्तिक' लिखने की कला में सिद्धहस्त थे। शाबर भाष्य पर दो वार्तिक—श्लोकवार्तिक और तन्त्र वार्तिक, लिखकर उन्होंने अपनी विद्वत्ता की धाक पण्डित-समाज के ऊपर जमा दी थी तथा इसी कारण वे 'वार्तिककार' के नाम से मीमांसा-दर्शन के इतिहास में प्रसिद्ध थे। आचार्य शंकर इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिये अपनी शिष्यमण्डली के साथ उत्तर काशी से प्रयाग की ओर आये। शिष्यों के साथ वे त्रिवेणी के तट पर पहुँचे[1] परन्तु उन्हें यह जान कर अत्यन्त खेद हुआ कि जिस विद्वान् से भेंट करने तथा सहायता प्राप्त करने के लिये उन्होंने इतना दुर्गम मार्ग तय किया था वे (कुमारिल) त्रिवेणी के तट पर तुषानल (भूसे की आग) में अपना शरीर जला रहे हैं। इतने बड़े मीमांसक को इस प्रकार शरीरपात करते देख उन्हें बड़ा आश्चर्य हुआ। भेंट करने के लिये शीघ्रता से वे त्रिवेणी के तट पर पहुँच कर क्या देखते हैं कि कुमारिल के शरीर का निचला भाग तुषानल में जल गया है परन्तु उनके मुख के ऊपर वही विलक्षण शान्ति विराजमान है। उनको देखकर ऐसा मालूम होता था कि सुन्दर कमल ओस की बूंदों से ढका हुआ है[2]। उनकी शिष्यमण्डली चारों ओर से उन्हें घेरे खड़ी थी और उनकी आँखों से गुरु की इस महायात्रा के कारण आँसुओं की झड़ी लगी हुई थी। वैदिक धर्म के इन दो महान् उद्धारकों का त्रिवेणी

---

[1] माधव, चिद्विलास तथा सदानन्द ने त्रिवेणी तट को ही शङ्कर और कुमारिल के मिलन का स्थान बतलाया है। परन्तु आनन्दगिरि ने इस स्थान को "रुद्धनगर" माना है। पता नहीं यह स्थान कहाँ है। द्रष्टव्य—आनन्दगिरि शङ्करविजय, पृ० १८०—८१

[2] धूमायमानेन तुषानलेन, संदह्यमानेऽपि वपुष्यशेषे।
संदृश्यमानेन मुखेन वाष्प—परीतपद्मश्रियमादधानम्॥ शं० दि० ७।७८

के पवित्र तट पर यह अपूर्व सम्मेलन हुआ जो वैदिक धर्म के अभ्युदय के लिए ऐतिहासिक महत्त्व रखता है ।

कुमारिल भट्ट ने शङ्कर का वृत्तान्त पहिले से सुन रक्खा था परन्तु उन्हें अपनी आँखों से देखने का सौभाग्य नहीं प्राप्त हुआ था । अतः अकस्मात् शङ्कर को अपने सामने देखकर वे नितान्त प्रसन्न हुये और शिष्यों से उनकी पूजा करवाई । भिक्षाग्रहण करने पर शङ्कर ने अपना भाष्य कुमारिल को दिखलाया जिसे देख कर उन्होंने उस ग्रंथ की बड़ी प्रशंसा की । कुमारिल ने कहा कि "ग्रन्थ के आरम्भ में ही अध्यास भाष्य में आठ हजार वार्तिक सुशोभित हो रहे हैं । यदि मैं इस तुषानल में जलने की दीक्षा लिये नहीं रहता तो अवश्य इस सुन्दर ग्रन्थ को बनाता[1] ।" तब शङ्कर ने इस प्रकार शरीरपात करने का कारण पूछा । कुमारिल ने उत्तर दिया—"मैंने दो बड़े पातक किये हैं जिसके परिशोध के लिये मैं यह प्रायश्चित्त कर रहा हूँ । पहिला पातक है अपने बौद्ध गुरु का तिरस्कार, और दूसरा पातक है जगत् के कर्ता ईश्वर का खण्डन । जिससे मुझे बौद्धों के आगमों के रहस्यों का पता चला उसी गुरु का मैंने वैदिक धर्म के अभ्युत्थान के लिये भरी सभा में पंडितों के सामने तिरस्कार किया, यही हमारा पहिला पातक है । दूसरा पातक जैमिनीय मत की रक्षा के लिये ईश्वर का खण्डन है जिसे मैंने स्थान-स्थान पर किया है । लोगों की यह भ्रान्त धारणा है कि मीमांसा-दर्शन ईश्वर का तिरस्कार करता है परन्तु वस्तुस्थिति ठीक इससे उल्टी है । मीमांसा का प्रधान उद्देश्य है कर्म की प्रधानता दिखलाना । इसी को दिखलाने के लिये मैंने जगत् के कर्त्ता तथा कर्म फल के दाता ईश्वर का खण्डन किया है । परन्तु ईश्वर में मेरी पूरी आस्था है[2] । मेरे पहिले भर्तृमित्र[3] नामक मीमांसक ने विचित्र व्याख्या कर

---

[1] अष्टौ सहस्राणि विभान्ति विद्वन् ! सद्वार्तिकानां प्रथमेऽत्र भाष्ये ।
अहं यदि स्यामगृहीतदीक्षो ध्रुवं विधास्ये सुनिबन्धमस्य ॥
—शं दि० ७।८३

[2] कुमारिल निरीश्वरवादी नहीं थे । इसका एक प्रबल प्रमाण यह भी है कि उन्होंने अपने श्लोकवार्तिक के आरंभ में ईश्वर की स्तुति की है :—

विशुद्धज्ञानदेहाय त्रिवेदीदिव्य-चक्षुषे ।
श्रेयः प्राप्तिनिमित्ताय नमः सोमार्धधारिणे ॥ श्लो० वा० १

[3] भर्तृमित्र के नाम का उल्लेख श्लोकवार्तिक की टीका में पार्थसारथि मिश्र ने इस प्रकार किया है :—

प्रायेणैव हि मीमांसा लोके लोकायतीकृता ।
तामास्तिकपथे नेतुं अयं यत्नो कृतो मया ॥—श्लोकवार्तिक १।१०

मीमांसा शास्त्र को चार्वाक मत के समान नास्तिक बनाने का अवश्य उद्योग किया था। परन्तु मैंने ही अपने ग्रन्थों के द्वारा मीमांसक को आस्तिक मार्ग में ले जाने का सफल प्रयत्न किया है। परन्तु कर्म की प्रधानता सिद्ध करने के लिये ईश्वर के खण्डन का मैं अपराधी अवश्य हूँ। इन्हीं दोनों अपराधों से मुक्ति पाने के लिये मैं यह प्रायश्चित्त कर रहा हूँ[1]। आपने भाष्य बनाया है, इसे मैंने सुन रक्खा है। उस पर वृत्ति बनाकर मुझे यश पाने की कामना है परन्तु जो व्रत मैंने ग्रहण कर लिया है, उस व्रत का निबाहना भी लोकदृष्टि से मेरा परम कर्तव्य है।"

इस पर शंकराचार्य ने कहा—"आपके पवित्र चरित्र में पातक की संभावना तनिक भी नहीं है। आप यह सत्यव्रत सज्जनों को दिखलाने के लिये कर रहे हैं। यदि आप आज्ञा दें तो मैं कतिपय जलबिन्दुओं को छिड़क आपको जीवित कर सकता हूँ।" इन वचनों को सुनकर तथा शंकर के विचित्र प्रभाव को देखकर भट्ट कुमारिल बड़े प्रभावित हुए और अपने भावों को प्रकट करते हुए बोले कि "विद्वन्! मैं जानता हूँ कि मैं अपराधहीन हूँ[2]। वैदिक धर्म के प्रचार के लिये मुझे कुछ निषिद्ध कार्य अवश्य करने पड़े। परन्तु मेरी अन्तरात्मा शुद्ध थी। मेरे भाव दोषहीन थे। लोक के शिक्षण के लिये मैं इस प्रायश्चित्त का अनुष्ठान कर रहा हूँ। अंगीकृत व्रत को मैं छोड़ नहीं सकता। वेदान्त मार्ग के प्रकाशन तथा प्रचार के लिये आप मेरे पट्ट शिष्य मण्डन मिश्र को इस मार्ग में दीक्षित कीजिये। मुझे पूरा विश्वास है कि इस पण्डित-शिरोमणि की सहायता से आपकी अद्वैत-वैजयन्ती इस भारतवर्ष में निश्चित ही फहरायेगी।"

शंकर ने इस सम्मति को मान लिया और इस प्रकार इन दो महापुरुषों का यह अनुपम सम्मेलन समाप्त हुआ।

मीमांसा हि भर्तृमित्रादिभिः अलोकायतैव सती लोकायतीकृता। नित्य-निषिद्धयोरिष्टानिष्टाफलं नास्ति इत्यादि बह्वपसिद्धान्तपरिग्रहेण (टीका पूर्व-श्लोक की)।

[1] तदेवमित्थं सुगतादधीत्य, प्राघातयं तत्कुलमेव पूर्वम्।
जैमिन्युपज्ञेऽभिनिविष्टचेताः, शास्त्रं निरास्थं परमेश्वरं च॥
दोषद्वयस्यास्य चिकीर्षुरर्हन्, यथोदितां निष्कृतिमाश्रयाशम्।
प्राविक्षमेषा पुनरुक्तभूताः, जाता भवत्पादनिरीक्षणेन॥
—शं० दि० ७।१०१-१०२

[2] जाने तवाहं भगवन् प्रभावं संहृत्य भूतानि पुनर्यथावत्।
स्रष्टुं समर्थोऽसि तथाविधो मामुज्जीवयेश्चेदिह किं विचित्रम्॥
नाभ्युत्सहे किन्तु यतिक्षितीन्द्र,
संकल्पितं हातुमिदं व्रताग्र्यम्॥
—शंकर दिग्विजय ७।१११।११२

अष्टम परिच्छेद

मण्डन मिश्र

कुमारिल का आदेश पाकर शंकराचार्य मण्डन मिश्र से मिलने के लिये गये। मण्डन मिश्र उस समय समस्त विद्वन्मण्डली के सिरमौर थे। ये अद्वैत से भिन्न मतावलम्बियों के नेता थे तथा उनके प्रबल पक्षपाती थे। अत: शंकराचार्य के लिये अपना प्रभाव इस देश में जमाने के लिये इनके ऊपर विजय प्राप्त करना अत्यन्त आवश्यक था। इनको शास्त्रार्थ में परास्त करना भारत के समस्त पंडितों को परास्त करना था तथा किसी मत को फैलाने के लिये, किसी दार्शनिक सिद्धान्त का प्रचार करने के लिये, इनकी सहायता तथा सहानुभूति प्राप्त करना नितान्त आवश्यक था; अत: शंकराचार्य ने सर्वप्रथम इन्हीं को शास्त्रार्थ में पराजित करना उचित समझा। मण्डन के साथ शंकर का शास्त्रार्थ बड़ा प्रसिद्ध है तथा अनेक दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण भी है। शंकराचार्य ने अपना दिग्विजय यहीं से प्रारम्भ किया तथा अपने सिद्धान्तों का प्रचार करना शुरू किया। इसी शास्त्रार्थ के बाद शंकर का सिक्का सारे भारतवर्ष पर जम गया। परन्तु इस ऐतिहासिक शास्त्रार्थ का विवरण उपस्थित करने के पूर्व मण्डन मिश्र की अलौकिक विद्वत्ता, व्यापक प्रभाव, लोकोत्तर व्यक्तित्व तथा अप्रतिम प्रतिभा को जानना अत्यन्त आवश्यक है, क्योंकि इसको बिना जाने इस शास्त्रार्थ का ठीक-ठीक महत्त्व नहीं समझा जा सकता। अत: यहाँ पहिले इन्हीं विषयों को पाठकों के सामने उपस्थित किया जाता है।

मण्डन का व्यक्तिगत नाम विश्वरूप था। परन्तु पण्डितमण्डली के मण्डन स्वरूप होने के कारण ये संभवत: मण्डन के नाम से प्रसिद्ध थे। माधव के कथनानुसार इनके पिता का नाम हिममित्र था[1]। आनन्दगिरि ने इन्हें भट्ट कुमारिल का बहनोई लिखा है[2]। परन्तु आनन्द गिरि का यह कथन कहाँ तक ठीक है यह कहा नहीं जा सकता। यह बड़े दु:ख का विषय है कि इतने बड़े विद्वान् की जन्मभूमि

मण्डन मिश्र का जीवन वृत्त

[1] शङ्कर दिग्विजय ३।५७

[2] आनन्दगिरि—शंकरविजय, पृ, १८१ [मद्भगिनीभर्त्ता मण्डनमिश्र सर्वज्ञ इव सकल विद्यासु पितामह इव विद्यते]

का निर्णय अभी तक नहीं हो सका है। मैथिल पण्डितों का यह कथन है कि मण्डन मिश्र मिथिला के निवासी थे और दरभंगा के पास वह स्थान भी बतलाया जाता है जहाँ शंकराचार्य का इनकी विदुषी पत्नी भारती के साथ वह संस्मरणीय शास्त्रार्थ सम्पन्न हुआ था। माधव ने शंकरदिग्विजय में माहिष्मती नगरी को इनका निवासस्थान माना है[1]। यह नगरी आजकल मध्यभारत की इन्दौर रियासत में नर्मदा के किनारे मान्धाता के नाम से प्रसिद्ध है। माहिष्मती नाम की एक छोटी-सी नदी भी है जो नर्मदा से इसी स्थान पर मिलती है। माहिष्मती और नर्मदा के संगम पर ही मण्डन मिश्र का विशाल प्रासाद सुशोभित था। आजकल इस प्रासाद के खण्डहर मिलते हैं जहाँ पर थोड़ी-सी जमीन खोद देने से ही भस्म के समान धूसरी मिट्टी मिलती है[2] जिससे मालूम होता है कि इस स्थान पर यज्ञ-यागादिक अवश्य हुआ होगा। बहुत संभव है कि मण्डन मिश्र का जन्म मिथिला में हुआ हो और मान्धाता नगरी को, पवित्र स्थान समझ कर अथवा वहाँ किसी राजा का आश्रय प्राप्त कर, अपनी कर्मस्थली बनाया हो[3]। मैथिल पण्डितों में आज भी यही ख्याति है कि 'बनगाँव महिसो' नामक गाँव (वर्तमान सहरसा जिले में) मण्डन मिश्र की जन्मभूमि है।

भारती—मण्डन की विदुषी स्त्री

मण्डन मिश्र की स्त्री का नाम भारती था। यह बड़ी विदुषी स्त्री थी। इसका व्यक्तिगत नाम 'अम्बा' या 'उम्बा' था। परन्तु शास्त्रों में अत्यन्त निपुण होने के कारण यह भारती, उभयभारती या शारदा के नाम से प्रसिद्ध थीं। यह शोणनद के किनारे रहने वाले विष्णु मित्र नामक ब्राह्मण की कन्या थी। मण्डन मिश्र ब्रह्मा के अवतार माने जाते थे और उनकी स्त्री सरस्वती का अवतार समझी जाती थीं। भारती अपनी विद्वत्ता के कारण सर्वत्र प्रसिद्ध थीं। जब शंकर और मण्डन का ऐतिहासिक शास्त्रार्थ प्रारम्भ होने वाला था तब इस शास्त्रार्थ में मध्यस्थ कौन बनाया जाय ? यह समस्या विद्वानों के सामने उपस्थित हो गई। वे लोग भारती की विद्वत्ता से पूर्णरूप से परिचित थे। अतः इस समस्या को सुलझाने में इन्हें अधिक विलम्ब नहीं करना पड़ा और सर्वसम्मति से शारदा मध्यस्थ चुन ली गईं। इसी एक

[1] माधव—श. दि. ८।१

[2] बाबू राजेन्द्र नाथ घोष ने अपनी बंगला पुस्तक 'शंकर ओ रामानुज' में लिखा है कि मैं स्वयं इस स्थान को देखने गया था और मिट्टी खोद कर देखा तो भस्म के समान जली हुई धूसरी मिट्टी मिली जिससे अनुमान होता है कि इस स्थान में यज्ञ-यागादिक हुआ होगा।

[3] आनन्दगिरि ने मण्डन मिश्र के स्थान का नाम 'विज्जिल बिन्दु' बतलाया है (पृ० १८२) परन्तु इस स्थान की वर्तमान स्थिति का पता नहीं चलता।

घटना से भारती की विद्वत्ता का अनुमान किया जा सकता है। उसने मध्यस्थता का काम बड़ी योग्यता से निभाया और अपने पति को परास्त होते देख कर भी पक्षपात की आंच नहीं लगने दी। पूज्य पतिदेव के शास्त्रार्थ में पराजित हो जाने पर उसने अपने पति के विजेता शंकर को स्वयं शास्त्रार्थ करने के लिये ललकारा और कामशास्त्र के ऊपर ऐसे गूढ़ प्रश्न शंकर से किये जिनसे वे निरुत्तर हो गये। शंकर ने अपना पराजय स्वीकार किया। इस प्रकार इस विदुषी पत्नी ने विजेता शंकर को भी परास्त कर संसार में यश ही नहीं प्राप्त किया, बल्कि पति के पराजय का बदला भी चुका लिया। धन्य है ऐसी विदुषी स्त्री !!

इन्होंने मीमांसा तथा अद्वैत वेदान्त पर बहुत से विद्वत्तापूर्ण ग्रन्थ लिखे हैं।

मण्डन के ग्रन्थ

ये मीमांसा-प्रतिपादक ग्रन्थ मीमांसा दर्शन में विशेष स्थान रखते हैं—

(१) विधि-विवेक—इस ग्रन्थ में विध्यर्थ का विचार किया गया है।

(२) भावना विवेक—इस ग्रन्थ में आर्थी भावना की मीमांसा बड़े विस्तार के साथ की गई है।

(३) विभ्रम विवेक—इस ग्रन्थ में पाँचों सुप्रसिद्ध ख्यातियों की व्याख्या की गई है।

(४) मीमांसा सूत्रानुक्रमणी—इसमें मीमांसा सूत्रों का श्लोक-बद्ध संक्षेप व्याख्यान किया गया है। वाचस्पति ने प्रथम ग्रन्थ की टीका 'न्याय कणिका' की तथा शाब्दबोध विषयक 'तत्त्वबिन्दु' की रचना की है।

इनके अद्वैत प्रतिपादक ग्रन्थ अद्वैत दर्शन में विशेष स्थान रखते हैं। वे अद्वैत-परक ग्रन्थ हैं—(१) स्फोट सिद्धि—यह स्फोटविषयक ग्रन्थ है। (२) इनकी ब्रह्मसिद्धि 'शंखपाणि' की टीका के साथ मद्रास से अभी प्रकाशित हुई है। अन्य व्याख्यायें 'ब्रह्मतत्त्व समीक्षा' वाचस्पति की, 'अभिप्रायप्रकाशिका' चित्सुख की तथा 'भावशुद्धि' आनन्दपूर्ण (विद्यासागर) की हैं। वाचस्पति की सबसे प्राचीन व्याख्या अभी तक कहीं भी उपलब्ध नहीं हुई है। मण्डन भर्तृहरि के शब्दाद्वयवाद के समर्थक हैं।

इस प्रकार मण्डन मिश्र कर्मकाण्ड में नितान्त निष्णात तथा कर्ममीमांसा के तत्कालीन सर्वश्रेष्ठ पण्डित थे। इन्हीं की सहायता प्राप्त करने के लिये भट्ट कुमारिल ने शंकराचार्य को आदेश दिया था। इसी आदेश को मान कर शंकर अपनी शिष्यमण्डली के साथ प्रयाग से चलकर कई दिनों के बाद माहिष्मती नगरी में पहुँचे। माहिष्मती नगरी उस समय की नगरियों में विशेष विख्यात थी। नर्मदा के किनारे इस नगरी के भव्य भवन आकाश में अपना सिर उठाये इसकी श्रेष्ठता प्रकट कर रहे थे। आचार्य ने नर्मदा के तीर पर एक रमणीय शिवालय में

अपने शिष्यों को विश्राम करने की अनुमति दी और अपने उद्देश्य की सिद्धि के लिये—मण्डन मिश्र से मिलने के लिये—चल पड़े। दोपहर की बेला थी, माथे पर कलशी रख कर पनघट की ओर आने वाली पनिहारिनों को रास्ते में देखा। शंकर ने उन्हीं से मण्डन मिश्र के घर का पता पूछा। वे अनायास बोल उठीं कि आप आगन्तुक प्रतीत हो रहे हैं, अन्यथा ऐसा कौन व्यक्ति है जो पण्डित-समाज के मण्डनभूत, मीमांसकमूर्धन्य मण्डन मिश्र को नहीं जानता ! लीजिये मैं उनके घर का परिचय आपको बताये देती हूँ। जिस द्वार पर पिंजड़ों में बैठी हुई सारिकायें आपस में विचार करती हों कि यह जगत् ध्रुव (नित्य) है या अध्रुव (अनित्य); वेद स्वतः प्रमाण है या परतः प्रमाण है; वेद का तात्पर्य सिद्ध वस्तु के प्रतिपादन में है अथवा साध्य वस्तु के, उसे ही आप मण्डन मिश्र का धाम जानिये :—

जगद् ध्रुवं[1] स्यात् जगदध्रुवं स्यात्, कीराङ्गना यत्र गिरं गिरन्ति।
द्वारस्थ—नीडान्तर—सन्निरुद्धा, जानीहि तन्मण्डनपण्डितौकः॥
स्वतः प्रमाणं परतः प्रमाणं, कीराङ्गना यत्र गिरं गिरन्ति।
द्वारस्थ—नीडान्तर—सन्निरुद्धा, जानीहि तन्मण्डनपण्डितौकः॥

आचार्य शंकर यह वर्णन सुनकर अत्यन्त चमत्कृत हुये। सचमुच वह व्यक्ति मीमांसा का परम विद्वान् होगा जिसके द्वार पर पिंजड़े में बैठी हुई सारिकायें मीमांसा के सिद्धान्तों की युक्तिमत्ता के विषय में आपस में इस प्रकार से बातचीत करती हों[1]।

इस वर्णन को सुनकर आचार्य आगे बढ़े और ठीक मण्डन मिश्र के प्रासाद के द्वार पर जाकर खड़े हो गये। वहाँ उन्होंने द्वार का दरवाजा बन्द पाया। तब उन्होंने द्वारपालों से पूछा कि "तुम्हारे स्वामी कहाँ हैं तथा द्वार का फाटक बन्द होने का क्या कारण है ?" द्वारपालों ने उत्तर दिया कि "हमारे स्वामी महल के भीतर

---

[1] सारिकाओं के विवाद का विषय जगत् की नित्यता और अनित्यता का है। जगत् के स्वरूप के विषय में मीमांसा और वेदान्त के विचार भिन्न-भिन्न हैं। कुमारिल भट्ट के अनुयायी मीमांसकों की सम्मति में यह जगत् नित्य है परन्तु वेदान्तियों के मत से यह नितान्त कल्पित है। वेद की प्रामाणिकता के विषय में मीमांसकों के सिद्धान्त विशिष्ट तथा स्पष्ट हैं। वे लोग वेद को स्वयं प्रमाणभूत मानते हैं। वेद अपौरुषेय (बिना किसी पुरुष के द्वारा रचे गये) वाक्य हैं। अतः उनकी प्रामाणिकता सिद्ध करने के लिये किसी दूसरे प्रमाण की आवश्यकता नहीं है। ठीक इसके विपरीत नैयायिकों का मत है जो वेद को पौरुषेय मान कर इसकी प्रामाणिकता स्वाभाविक रूप से न मान कर बाहरी रूप से (परतः) मानते हैं।

हैं तथा आज अपने पिता का श्राद्ध कर रहे हैं। उन्होंने भीतर किसी को जाने देने के लिये निषिद्ध कर रक्खा है। अतः हम लोगों ने यह फाटक बन्द किया है।" यह सुनकर शंकर बड़े चिन्तित हुये क्योंकि उनकी उत्कण्ठा मण्डन मिश्र से मिलने की अत्यन्त उत्कट थी। कहा जाता है कि उन्होंने आकाश मार्ग से होकर मण्डन के प्राङ्गण में प्रवेश प्राप्त कर लिया। वहाँ पर व्यास और जैमिनि आमन्त्रित होकर पहिले से विद्यमान थे। श्राद्ध में संन्यासी का आना बुरा समझा जाता है। अतः ऐसे समय में एक संन्यासी को आँगन में आया देख मण्डन को अत्यन्त क्रोध हुआ परन्तु व्यास और जैमिनि के अनुरोध से किसी प्रकार उनका क्रोध शान्त हुआ। शंकर ने अपना परिचय मण्डन मिश्र को दिया और अपने आने का कारण बतलाया। मण्डन मिश्र शास्त्रार्थ में बड़े कुशल व्यक्ति थे। अपने पक्ष के समर्थन का यह अयाचित सुवर्ण अवसर पाकर वे नितान्त प्रसन्न हुये और दूसरे दिन प्रातःकाल शास्त्रार्थ का समय निश्चित किया गया। परन्तु सबसे विकट प्रश्न था 'मध्यस्थ' का। बिना 'मध्यस्थ' के शास्त्रार्थ में निर्णय का पता नहीं चलता। मण्डन ने जैमिनि को ही 'मध्यस्थ' बनाने की प्रार्थना की परन्तु जैमिनि ने स्वयं मध्यस्थ होना स्वीकार न किया और मण्डन मिश्र की विदुषी पत्नी को इस गौरव-पूर्ण पद के लिये उपयुक्त बतलाया। इस निर्णय को वादी और प्रतिवादी दोनों ने स्वीकार कर लिया और दूसरे दिन प्रातःकाल भारती की मध्यस्थता में शास्त्रार्थ होना निश्चित हुआ[१]।

शंकर और मण्डन का शास्त्रार्थ

रात बीती, प्रातःकाल हुआ। प्राची-क्षितिज पर सरोज-बन्धु सविता के उदय की सूचना देने वाली उषा की लालिमा छिटकने लगी। प्रभाकर का प्रभामय बिम्ब आकाश-मण्डल में चमकने लगा। किरण फूट-फूट कर चारों दिशाओं में फैल गयीं। आचार्य शंकर के जीवन में यह प्रभात उनकी कीर्ति तथा यश का मंगलमय प्रभात था। आज ही उनके भाग्य का निर्णय होने जा रहा था। आज ही वह मंगलमय बेला थी जिसमें अद्वैत-वेदान्त का डिण्डिम घोष सारे भारतवर्ष में व्याप्त होने वाला था। ऐसे ही शुभ मुहूर्त में इन दोनों विद्वानों में यह ऐतिहासिक शास्त्रार्थ प्रारम्भ हुआ। इस शास्त्रार्थ की सूचना माहिष्मती की नगरी में अतिशीघ्र फैल गयी। अतः इस नगरी की विद्वन्मण्डली शास्त्रार्थ सुनने के लिये मण्डन मिश्र के द्वार पर आयी।

[१] मण्डन और शंकर के इस विख्यात शास्त्रार्थ का विस्तृत वर्णन माधव (सर्ग ८), सदानन्द (सर्ग ६) ने बड़ी सुन्दर रीति से किया है। आनन्दगिरि ने (५६वें प्रकरण में) तथा चिद्विलास ने (१७-१८ अध्याय में) इसका संकेतमात्र किया है।

आचार्य शंकर अपनी शिष्य मण्डली के साथ उस पण्डित-मण्डली में उपस्थित हुये। शारदा ने 'मध्यस्थ' का आसन सुशोभित किया। मण्डन मिश्र को लक्ष्य कर शंकराचार्य ने अपनी प्रतिज्ञा (सिद्धान्त) उद्‌घोषित की—"इस जगत् में ब्रह्म एक, सत् चित्, निर्मल तथा यथार्थ वस्तु है। वह स्वयं इस जगत् के रूप से उसी प्रकार भासित होता है जिस प्रकार शुक्ति (सीप) चाँदी का रूप धारण कर भासित होती है। शुक्ति में चाँदी के समान ही यह जगत् नितान्त मिथ्या है। उस ब्रह्म के ज्ञान से ही इस प्रपञ्च का नाश होता है और जीव बाहरी पदार्थों से हटकर अपने विशुद्ध रूप में प्रतिष्ठित हो जाता है। उस समय वह जन्म-मरण से रहित होकर मुक्त हो जाता है। यही हमारा सिद्धान्त है और इसमें स्वयं उपनिषद् ही प्रमाण हैं। यदि मैं इस शास्त्रार्थ में पराजित हो जाऊँगा तो संन्यासी के कषाय वस्त्र को फेंक कर गृहस्थ का सफेद वस्त्र धारण कर लूँगा। इस विवाद में जय-पराजय का निर्णय स्वयं भारती करें।"—

शंकर की प्रतिज्ञा

ब्रह्मैकं परमार्थसच्चिदमलं विश्वप्रपञ्चात्मना,
शुक्तिरूप्यपरात्मनेव बहलाज्ञानावृतं भासते।
तज्ज्ञानान्निखिलप्रपञ्चनिलया स्वात्मव्यवस्थापरं,
निर्वाणं जनिमुक्तमभ्युपगतं मानं श्रुतेर्मस्तकम् ॥
बाढं जये यदि पराजयभागहं स्यां,
संन्यासमङ्ग परिहृत्य कषायचैलम्।
शुल्कं वसीय वसनं द्वयभारतीयं,
वादे जयाजयफलप्रतिदीपिकाऽस्तु ॥

—माधव—शं० दि० ८। ६१-६२

अद्वैत सिद्धान्त की प्रतिपादिका इस प्रतिज्ञा को सुनकर मण्डन मिश्र ने अपने मीमांसा-सिद्धान्त को प्रतिपादन करने वाली प्रतिज्ञा कह सुनायी—"वेद का कर्मकाण्ड भाग ही प्रमाण है। उपनिषद् को मैं प्रमाण-कोटि में नहीं मानता, क्योंकि यह चैतन्य स्वरूप ब्रह्म का प्रतिपादन कर सिद्ध वस्तु का वर्णन करता है। वेद का तात्पर्य है विधि का प्रतिपादन करना परन्तु उपनिषद् विधि का वर्णन न कर ब्रह्म के स्वरूप का प्रतिपादन करता है। अतः वह प्रमाण-कोटि में कथमपि नहीं आ सकता। शब्दों की शक्ति कार्य-मात्र के प्रकट करने में है। दुःखों से मुक्ति कर्म के द्वारा ही होती है और इस कर्म का अनुष्ठान प्रत्येक मनुष्य को अपने जीवन भर करते रहना चाहिये। मीमांसक होने के नाते यही मेरी प्रतिज्ञा है। यदि इस शास्त्रार्थ में मेरा पराजय होगा तो मैं गृहस्थ धर्म को छोड़ कर संन्यासी बन जाऊँगा"—

मण्डन की प्रतिज्ञा

वेदान्ता न प्रमाणं चिति वपुषि पदे तत्र सङ्गत्ययोगात्,
पूर्वो भागः प्रमाणं पदचयगमिते कार्यवस्तुन्यशेषे।
शब्दानां कार्यमात्रं प्रति समधिगता शक्तिरभ्युन्नतानां,
कर्मभ्यो मुक्तिरिष्टा तदिह तनुभृतामाऽऽयुषः स्यात् समाप्तेः॥
—शं० दि० ८।६४

विद्वन्मण्डली ने इन प्रतिज्ञाओं को सुना, वादी और प्रतिवादी में शास्त्रार्थ प्रारम्भ हो गया। मध्याह्न में कुछ समय के लिये शास्त्रार्थ में विराम होता था जब दोनों व्यक्ति अपने भोजन करने के लिये जाते थे। इसी प्रकार शास्त्रार्थ कई दिनों तक चलता रहा। शारदा को स्वयं अपने घर का काम काज देखना था। इसलिये उसने दोनों पण्डितों की गरदन में माला डाल दी और यह घोषित कर दिया कि जिसकी माला मलिन पड़ जायेगी वह शास्त्रार्थ में पराजित समझा जायेगा। शास्त्रार्थ में किसी प्रकार की कटुता न थी। दोनों—शङ्कर और मण्डन—समभाव से अपने आसन पर बैठे रहते थे[1]। उनके ओठों पर मन्दस्मित की रेखा झलकती थी, मुख-मण्डल विकसित था, न तो शरीर में पसीना होता था और न कम्प, न वे आकाश की ओर देखते थे। बल्कि सावधान मन से एक दूसरे के प्रश्नों का उत्तर बड़ी प्रगल्भता से देते थे। निरुत्तर होने पर वे क्रोध से वाक्छल का भी प्रयोग न करते थे। इसी प्रकार अनेक दिन व्यतीत हो गये। अन्ततोगत्वा 'तत्त्वमसि' महावाक्य को लेकर निर्णायक शास्त्रार्थ छिड़ा। इस शास्त्रार्थ का वर्णन 'शङ्कर दिग्विजय' के लेखकों ने बड़े विस्तार के साथ दिया है। यहाँ पर इसी शास्त्रार्थ का सारांश पाठकों के मनोरंजन के लिये दिया जाता है।

मण्डन मिश्र मीमांसा के अनुयायी होने के कारण द्वैतवादी थे। उधर शंकर वेदान्ती होने के कारण अद्वैत के प्रतिपादक थे। मण्डन का आग्रह था समस्त उपनिषद् द्वैतपरक हैं और आचार्य शंकर का अनुरोध था कि उपनिषद् अद्वैत का वर्णन करते हैं। दोनों ने अपने सिद्धान्तों के प्रतिपादन में बड़े-बड़े अनूठे तर्कों का प्रयोग किया। मण्डन मिश्र का पूर्व पक्ष है कि जीव और ब्रह्म की अभिन्नता कथमपि सिद्ध नहीं हो सकती; क्योंकि यह अभिन्नता तीनों प्रमाणों से बाधित है—(१) प्रत्यक्ष से (२) अनुमान से और (३) श्रुति से।

मण्डन—'तत्त्वमसि' (जीव ही ब्रह्म है) वाक्य से आत्मा और

---

[1] अन्योन्यमुत्तरमखण्डयतां प्रगल्भं,
बद्धासनौ स्मितविकासिमुखारविन्दौ॥
न स्वेदकम्पगगनेक्षणशालिनौ वा,
न क्रोधवाक्छलमवादि निरुत्तराभ्याम्॥—शं० दि० ८।७३

परमात्मा की एकता कैसे मानी जा सकती है क्योंकि इस एकता का न तो प्रत्यक्ष ज्ञान है और न अनुमान ही होता है।[1] प्रत्यक्ष तो अभेदवाद का महान् विरोधी है क्योंकि यह तो प्रत्येक व्यक्ति का प्रतिदिन का अनुभव है कि मैं ईश्वर नहीं हूँ। अतः प्रत्यक्ष विरोधी होने के कारण से इस वाक्य का प्रयोजन जीव-ब्रह्म की एकता सिद्ध करने में नहीं है।

शंकर—यह मत ठीक नहीं, क्योंकि इन्द्रियों के द्वारा जीव और परमात्मा में भेद का ज्ञान कभी नहीं होता। प्रत्यक्ष का ज्ञान विषय और इन्द्रिय के सन्निकर्ष के ऊपर अवलम्बित रहता है। इन्द्रियों का ईश्वर के साथ तो कभी सन्निकर्ष होता नहीं। तब विरोध का प्रसङ्ग कहाँ ?

मण्डन—जीव अल्पज्ञ है और ब्रह्म सर्वज्ञ, इस बात में तो किसी को सन्देह नहीं है। तब भला अल्पज्ञ और सर्वज्ञ की एकता मानना प्रत्यक्ष रूप से अनुचित नहीं है।

शङ्कर—इसी सिद्धान्त में आपकी त्रुटि है। प्रत्यक्ष तथा श्रुति में कोई भी विरोध नहीं हो सकता क्योंकि दोनों के आश्रय भिन्न-भिन्न हैं। प्रत्यक्ष प्रमाण अविद्या से युक्त होने वाले जीव में और माया से युक्त होने वाले ईश्वर में भेद दिखलाता है। उधर श्रुति ('तत्त्वमसि' यह उपनिषद् वाक्य) अविद्या और माया से रहित शुद्ध चैतन्य रूप आत्मा और ब्रह्म में अभेद दिखलाती है। इस प्रकार प्रत्यक्ष का आश्रय कलुषित जीव और ईश्वर है और श्रुति का आश्रय विशुद्ध आत्मा और ब्रह्म है। एक आश्रय में विरोध होता है। भिन्न आश्रय होने से यहाँ तो किसी प्रकार का विरोध लक्षित नहीं होता। अतः प्रत्यक्ष प्रमाण से अभेद श्रुति का किसी प्रकार का विरोध न होने से उसका तिरस्कार कथमपि नहीं किया जा सकता[1]।

मण्डन—हे यतिराज ! प्रत्यक्ष का तो आपने खण्डन कर दिया पर अनुमान अभेद श्रुति को बाधित कर रहा है। जीव सर्वज्ञ नहीं है। अतः वह ब्रह्म से उसी प्रकार से भिन्न है जिस प्रकार सर्वज्ञ न होने के कारण से साधारण घट ब्रह्म से भिन्न होता है। यही अनुमान जीव और ब्रह्म की एकता को असिद्ध बतलाने के लिये पर्याप्त माना जा सकता है।

शङ्कर—पहिले यह तो बतलाइए कि जीव और ब्रह्म में जिस भेद को आप

---

[1] प्रत्यक्षमात्मेश्वरयोरविद्या मायायुजोर्द्योतयति प्रभेदम्।
श्रुतिस्तयोः केवलयोरभेदं भिन्नाश्रयत्वान्न तयोर्विरोधः॥

—शं० दि० ८। १००

[2] यह सुप्रसिद्ध मन्त्र ऋग्वेद १। १६४। २०, अथर्ववेद ६। ६। २० तथा मुण्डक उपनिषद् २।१ में आया है।

सिद्ध कर रहे हैं वह पारमार्थिक है या काल्पनिक-असत्य ? यदि यह भेद बिल्कुल सत्य है तब तो आपका दिया हुआ दृष्टान्त ठीक नहीं जमता और यदि काल्पनिक है तो उसे हम सब स्वीकार करते ही हैं। उसे सिद्ध करने के लिये प्रमाणों की आवश्यकता ही क्या है ?

मण्डन—अच्छी बात है। मेरा अनुमान भले ही ठीक न हो परन्तु भेद प्रतिपादन करने वाली श्रुतियों के साथ 'तत्त्वमसि' श्रुति का विरोध इतना स्पष्ट है कि अद्वैतवाद श्रुति का तात्पर्य कभी नहीं माना जा सकता। भला आपने कभी इस मन्त्र के तथ्य पर विचार किया है ?

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया, समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्ति, अनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति[1] ॥

यह मंत्र स्पष्ट ही जीव और ईश्वर में भेद प्रकट करता है क्योंकि जीव कर्म-फल का भोक्ता है और ईश्वर कर्म-फल से तनिक भी संबंध नहीं रखता।

शङ्कर—जीव और ब्रह्म का यह भेद-प्रतिपादन बिल्कुल निष्फल है क्योंकि इस ज्ञान से न तो स्वर्ग की प्राप्ति हो सकती है और न अपवर्ग की। इस भेद को—निष्फल होने पर भी—हम मानने को उद्यत हैं परन्तु पूर्व निर्दिष्ट श्रुति वाक्य में बुद्धि और पुरुष का भेद दिखलाया गया है, न कि जीव और ईश्वर का। श्रुति का कहना है कि कर्मफल को भोगनेवाली बुद्धि है। पुरुष उससे बिल्कुल भिन्न है। इसीलिये उसे सुख, दुःख के भोगने का फलाफल कथमपि प्राप्त नहीं होता।

मण्डन—इस नवीन अर्थ का मैं विरोध करता हूँ क्योंकि बुद्धि तो जड़ है। उधर भोक्ता चेतन पदार्थ होता है, जड़ पदार्थ नहीं। ऐसी दशा में पूर्व मन्त्र बुद्धि जैसे जड़ पदार्थ को भोक्ता बतलाता है, इस बात को कोई भी विद्वान् मानने के लिये तैयार नहीं होगा। अतः उक्त श्रुति का अभिप्राय जीव और ईश्वर के भेद दिखलाने में ही है।

शङ्कर—आपका आक्षेप ठीक नहीं। क्योंकि 'पैङ्ग्य रहस्य' नामक ब्राह्मण ग्रन्थ में स्पष्ट ही लिखा है कि बुद्धि (सत्त्व) कर्मफल को भोगती है और जीव केवल साक्षी-मात्र रहता है। जब ब्राह्मण-ग्रन्थों की यह व्याख्या है तो स्पष्ट ही उक्त वाक्य का अभिप्राय बुद्धि और जीव की भिन्नता दिखलाने में ही है[1]।

---

[1] "तयोरन्यःपिप्पलं स्वाद्वत्ति इति सत्त्वं अनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति इति अनश्नन् अन्यः अभिपश्यति ज्ञस्तावेतौ तत्त्वक्षेत्रज्ञौ" इति—पैङ्गीरहस्य ब्राह्मण तथा च—"तदेतत्सत्त्वं येन स्वप्नं पश्यति। अथ योऽयं शारीरं उपद्रष्टा सक्षेत्रज्ञः तावेतौ सत्त्वक्षेत्रज्ञौ"—वही

मण्डन—ब्राह्मण वाक्य का अर्थ तो यह है कि जिसके द्वारा स्वप्न देखा जाता है वह सत्त्व है और जो शरीर में रहते हुये साक्षी हो वह क्षेत्रज्ञ है। परन्तु इस अर्थ पर ध्यान न देकर मीमांसा का कहना है कि सत्त्व शब्द का अर्थ स्वप्न और दर्शन क्रिया का करने वाला जीव है और क्षेत्रज्ञ का अर्थ स्वप्न का देखने वाला सर्वज्ञ ईश्वर है।

शङ्कर—यह अर्थ कभी नहीं हो सकता। सत्त्व दर्शन का कर्त्ता नहीं, बल्कि करण है। अर्थात् इस पद का अर्थ जीव न होकर बुद्धि है। और क्षेत्रज्ञ के साथ 'शरीर' विशेषण होने के कारण इस पद का अर्थ जीव है जो शरीर में निवास करता है, ईश्वर नहीं।

मण्डन—अच्छी बात है। इस श्रुति को छोड़िये। कठोपनिषद् की इस प्रसिद्ध श्रुति पर विचार तो कीजिए, जो जीव और ईश्वर में उसी प्रकार स्पष्ट भेद स्वीकार करती है जिस प्रकार का भेद छाया तथा आतप में है :—

ऋतं पिबन्तौ सुकृतस्य लोके, गुहां प्रविष्टौ परमे परार्धे।
छायातपौ ब्रह्मविदो वदन्ति, पञ्चाग्नयो ये च त्रिणाचिकेताः॥—कठ० १।३।१

शङ्कर—बहुत ठीक। परन्तु यह भी श्रुति मेरे अद्वैत सिद्धान्त में बाधा नहीं पहुँचाती। यह तो लोक-सिद्ध भेद का प्रतिपादन मात्र करती है। सच तो यह है कि अभेद प्रतिपादक श्रुति नवीन अर्थ को प्रकट करती है जो लोक में सिद्ध नहीं देख पड़ता। अतः वह अधिक बलवान् है। भेद तो जगत् में सर्वत्र दिखलाई पड़ता है, अतः उसे सिद्ध करने के लिये श्रुति कथमपि प्रयास नहीं कर सकती। क्योंकि श्रुति सदा अपूर्व वस्तु के वर्णन में निरत रहा करती है। यह अपूर्व वस्तु अभेद का प्रतिपादन है, न कि भेद का वर्णन।

मण्डन—हे यतिराज ! मेरी बुद्धि में तो भेद प्रतिपादन करने वाली श्रुति दोनों में बलवती है। क्योंकि वही अन्य प्रमाणों के द्वारा पुष्ट की जाती है।

शङ्कर—श्रुतियों के बलाबल के विषय में आपने भली प्रकार से विचार नहीं किया है। उनकी प्रबलता के विषय में यह सिद्धान्त है कि दूसरे प्रमाणों के द्वारा यदि कोई श्रुति पुष्ट की जाती है तो वह प्रबल नहीं हो सकती, क्योंकि उन प्रमाणों के द्वारा अर्थ के अभिव्यक्त हो जाने के कारण वह श्रुति अत्यन्त दुर्बल मानी जाती है। प्रबल श्रुति तो वह है जो प्रत्यक्ष तथा अनुमान आदि के द्वारा न प्रकट किये गये अर्थ को प्रकट करे। पदार्थों की परस्पर विभिन्नता—जिसको आप इतने अभिनिवेश के साथ सिद्ध कर रहे हैं—जगत् में सर्वत्र दीख पड़ती है। अतः उसको प्रतिपादन करने वाली श्रुति दुर्बल होगी। अभेद तो जगत् में कहीं नहीं दिखाई पड़ता। अतः उसको वर्णन करने वाली श्रुति पूर्व की अपेक्षा प्रबलतर

होगी। इस कसोटी पर कसे जाने से 'तत्वमसि' का अभेद-प्रतिपादन ही श्रुति का प्रतिपाद्य विषय प्रतीत होता है। अतः इस वाक्य का अर्थ जीव और ब्रह्म की एकता में है जिसका विरोध न तो प्रत्यक्ष से है, न अनुमान से और न श्रुति से।

प्राबल्यमापादयति श्रुतीनां,
मानान्तरं नैव बुधाग्रयायिन्।
गतार्थतादानमुखेन तासां,
दौर्बल्य सम्पादकमेव किन्तु ॥—शं० दि० ८। १३०

बस, इस युक्ति को सुनकर मण्डन मिश्र चुप होकर निरुत्तर हो गये। उनके गले की माला मलिन पड़ गयी। तुहिनपात से मुरझाये हुये कमल की तरह मण्डन का ब्रह्मतेज से चमकता हुआ चेहरा उदासीन पड़ गया। मीमांसा की विजय-वैजयन्ती फहराने की उत्कट लालसा को अपने हृदय में छिपाये हुये मण्डन जिस अवसर की प्रतीक्षा कर रहे थे वह अवसर आया। उन्होंने उसे उपयोग करने का प्रयत्न भी किया परन्तु उसमें सफलता न प्राप्त कर सके। अलौकिक प्रतिभासम्पन्न शंकर के सामने उन्हें अपना पराजय स्वीकार करना पड़ा। पण्डित-मण्डली में सहसा खलबली मच गयी। उन्हें इस बात की स्वप्न में भी आशंका नहीं थी कि पंडित-समाज के मण्डनभूत मण्डन की प्रभा किसी भी पण्डित के सामने कभी क्षीण होगी। परन्तु आज आश्चर्य-भरे नेत्रों से उन्होंने देखा कि माहिष्मती की जनता के सामने मीमांसक-मूर्धन्य मण्डन का उन्नत मस्तक अवनत हो गया है। मध्यस्थ शारदा पति के भावी संन्यास-ग्रहण के कारण खिन्न होकर भी अपने कर्तव्य से च्युत नहीं हुई और उसने शकर की विजय पर अपनी स्वीकृति की मुहर लगा दी। इस प्रकार शंकर ने अपने सर्व-प्रथम शास्त्रार्थ में पण्डितों के शिरोमणि मण्डन मिश्र को पराजित कर विद्वन्मण्डली में अपने पाण्डित्य का प्रभाव जमाया।

शंकराचार्य के द्वारा इस प्रकार पराजित होने पर मण्डन मिश्र को दुःख तो अवश्य हुआ परन्तु उससे भी अधिक दुःख उनको इस बात से हुआ कि महर्षि

कर्म मीमांसा की यथार्थता

जैमिनी के सिद्धान्त कर्म की कसौटी पर कसे जाने से अत्यन्त निःसार और दुर्बल प्रतीत हुये। उन्हें कभी विश्वास भी न था कि आर्ष दृष्टि से युक्त जैमिनी के सिद्धान्त में तनिक भी त्रुटि होगी। अपने हृदय के इस आवेग को मण्डन ने शंकर के सामने इन शब्दों में प्रकट किया—"हे यतिराज! मैं इस समय अपने अभिनव पराजय से दुःखित नहीं हूँ। दुःख तो मुझे इस बात का है कि आपने जैमिनि के वचनों का खण्डन किया है। जो मुनि भूत तथा भविष्य को जानते हैं और जिनके जीवन का उद्देश्य ही वेद के अर्थों का प्रचार करना है उन्होंने ऐसे सूत्रों को क्यों बनाया जिनका अर्थ यथार्थ नहीं है।"

इस सन्देह को दूर करते हुये आचार्य शंकर बोले—"जैमिनि के सिद्धान्त में कहीं पर भी अप-सिद्धान्त नहीं है। अनभिज्ञ होने से हम लोगों ने ही उनके अभिप्राय को ठीक-ठीक नहीं समझा है। कर्म-मीमांसा के आदि आचार्य का अभिप्राय परब्रह्म के प्रतिपादन में ही था। परन्तु उस प्राप्ति के साधन होने के कारण से उन्होंने कर्म के सिद्धान्त को इतना महत्त्व दिया। कर्म के ही द्वारा चित्त-शुद्धि होती है और यही चित्त-शुद्धि ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति में सहायक है। कर्म-मीमांसा में इसीलिये कर्म का स्थान इतना ऊँचा रक्खा गया है।[1]"

मीमांसा में ईश्वर

मण्डन जब समस्त वेद ईश्वर को ही कर्म-फल का दाता बतलाते हैं तब परमात्मा से भिन्न कर्म ही फल का देने वाला है, इस सिद्धान्त का प्रतिपादन कर जैमिनि मुनि ने ईश्वर का निराकरण ही क्यों किया? इसका तो कारण बतलाइये?

शंकर—नैयायिकों का मत है कि इस जगत् का कर्ता स्वयं परमेश्वर हैं। इसी अनुमान के आधार पर वे ईश्वर की सत्ता सिद्ध करते हैं। परन्तु क्या यह शुष्क अनुमान ईश्वर-सिद्धि के लिये पर्याप्त है? श्रुति का तो स्पष्ट कहना है कि ब्रह्म तो उपनिषदों के द्वारा गम्य है। वेद को जानने वाला पुरुष उस ब्रह्म को जान सकता है। कितना भी अनुमान किया जाय उस ब्रह्म का ज्ञान नहीं हो सकता। भला तर्क की भी कहीं इयत्ता है? इसी भाव को अपने मन में रख कर जैमिनि मुनि ने ईश्वरपरक अनुमान का तथा ईश्वर से जगत् के उदय के सिद्धान्त का युक्तियों से खण्डन किया है। वे श्रुति के द्वारा प्रतिपाद्य ईश्वर का कहीं भी अपलाप नहीं करते। अतः कर्म-मीमांसा का उपनिषदों से किसी प्रकार का विरोध नहीं पड़ता। इस सूक्ष्म व्याख्या को सुनकर मण्डन को बड़ा सन्तोष हुआ और उन्होने आचार्य की विद्वत्ता, वेद की मर्मज्ञता को भली-भाँति स्वीकार कर लिया। गृहस्थाश्रम छोड़ कर संन्यास ग्रहण के लिये भी वे तैयार हो गये।

—०—

[1] माधव—शंकर दिग्विजय ९। ६–७ तथा—सदानन्द—दिग्विजय सार ७। १०–४०

नवम परिच्छेद

शारदा-शंकर-शास्त्रार्थ

अपने पति के इस विषम पराजय से शारदा के मन में नितान्त क्षोभ उत्पन्न हुआ। उन्हें इस बात का विश्वास न था कि कोई भी पंडित शास्त्र तथा तर्क से उनके पति को हराने में कभी समर्थ होगा। जिस घटना की कभी स्वप्न में भी आशा नहीं की जाती थी, अन्ततः वही घटना घटी। परन्तु उन्हें अपनी विद्वत्ता पर पूरा भरोसा था। आचार्य शंकर अलौकिक प्रतिभा-सम्पन्न अवश्य थे, परन्तु शारदा देवी में शास्त्रानुशीलन, व्यापक पाण्डित्य, नवीन कल्पना तथा लोकातीत प्रतिभा की किसी प्रकार कमी नहीं थी। उन्हें इस बात का पूरा विश्वास था कि बड़ा से बड़ा भी विद्वान् तर्कयुद्ध में उनके सामने टिक नहीं सकता। उन्होंने शंकर को इन शब्दों में चुनौती देते हुये शास्त्रार्थ के लिये ललकारा।

शारदा—हे विद्वन्! अब तक आपने मेरे पति के ऊपर आधी ही विजय पायी है। मैं उनकी अर्धाङ्गिनी हूँ और उसे आपने अभी नहीं जीता है। पहिले मुझे जीतिये, तब मेरे पतिदेव को अपना शिष्य बनाने का प्रयत्न कीजिये।

शङ्कर—मैं तुम्हारे साथ विवाद करने के लिये उद्यत नहीं हूँ क्योंकि यशस्वी पुरुष महिला जनों के साथ कभी वाद-विवाद नहीं करते।

शारदा—परन्तु मैं आपके सिद्धान्त को मानने के लिये तैयार नहीं हूँ। अपने मत के खण्डन करने के लिये जो व्यक्ति चेष्टा करता हो चाहे वह स्त्री हो या पुरुष, उसे जीतने के लिये अवश्य प्रयत्न करना चाहिये—यदि अपने पक्ष की रक्षा करना उसे अभीष्ट हो। क्या आपने महर्षि याज्ञवल्क्य और राजर्षि जनक के दृष्टान्तों को भुला दिया है जिन्होंने अपने पक्ष की रक्षा करने के लिये क्रमशः गार्गी तथा सुलभो के साथ शास्त्रार्थ किया था। क्या स्त्री से शास्त्रार्थ करने के कारण ये लोग यशस्वी नहीं हुये?

इस तर्क के सामने शंकर मौन हो गये और विवश होकर वे शास्त्रार्थ करने के लिये उद्यत हुये। अपूर्व समारोह था। वादिनी थी भारत की सर्वशास्त्र-विशारदा शारदा और प्रतिवादी थे शंकर के अवतारभूत अलौकिक—शेमुषी सम्पन्न आचार्य शंकर। पंडित-मण्डली के लिये यह दृश्य नितान्त कौतूहल का विषय था।

उन्होंने शारदा की विद्वत्ता की अनेक रोचक कहानियाँ सुन रक्खी थीं परन्तु उनके परखने का यह अयाचित अवसर पाकर उनके हर्ष का ठिकाना न रहा। इन दोनों के बीच नाना शास्त्रों के रहस्यों तथा तथ्यों के विषय में गहरा शास्त्रार्थ होने लगा। शारदा प्रश्न करती और शङ्कर उनका परम सन्तोषजनक उत्तर देते थे। जगत् का कोई भी शास्त्र अछूता न बचा। लगातार सत्रह दिन तक यह वाचिक मल्ल-युद्ध होता रहा। इधर प्रश्न पर प्रश्न होते थे और उधर प्रत्येक का उत्तर देकर सन्तोष उत्पन्न किया जाता था। अर्थशास्त्र, धर्मशास्त्र तथा मोक्षशास्त्र इन तीनों शास्त्रों के विवेचनीय शास्त्रों के ऊपर लगातार शास्त्रार्थ होता रहा। परन्तु शंकराचार्य अजेय हिमालय की तरह अपने पक्ष के समर्थन में डटे रहे। जब शारदा ने अपने प्रतिपक्षी की यह विलक्षणता देखी तब उनके मन में अकस्मात् एक नवीन विचार-धारा का उदय इस प्रकार हुआ :—

इन्होंने तो बालकपन से ही संन्यास ग्रहण किया है और संन्यासियों के समस्त नियमों का भली-भाँति पालन तथा रक्षण किया है। काम-शास्त्र से भला ये किस प्रकार से परिचित हो सकते हैं? इनकी विरक्त बुद्धि भला इस गहन शास्त्र में प्रवेश कर सकती है? काम-शास्त्र ही इनके पाण्डित्य का दुर्बल अंश है। क्यों न मैं इसी शास्त्र के द्वारा इनको परास्त कर अपने पति को प्रतिज्ञा से मुक्त करूँ?

यही विचार कर शारदा ने काम-शास्त्र विषयक ये अद्भुत प्रश्न किये :—
"भगवन्! काम की कितनी कलायें होती है? इनका स्वरूप क्या है? वे किस स्थान पर निवास करती हैं? शुक्ल-पक्ष तथा कृष्ण-पक्ष में इनकी स्थिति एक समान रहती है अथवा भिन्न-भिन्न हुआ करती है? पुरुष में तथा युवती में इन कलाओं का निवास किस प्रकार से होता है?"

कलाः कियन्त्यो वद पुष्पधन्वनः,
किमात्मिकाः किञ्च पदं समाश्रिताः।
पूर्वे च पक्षे कथमन्यथा स्थितिः,
कथं युवत्यां कथमेव पूरुषे ।।—शं० दि० ९। ६६

प्रश्न सुनते ही शकर की मानसिक दशा में बड़ा परिवर्तन हो गया। उनकी विचित्र दशा थी। वे बड़े धर्म-संकट में पड़ गये। यदि प्रश्न का उत्तर नहीं देते तो अल्पज्ञता का दोष उनके माथे पर मढ़ा जाता और यदि देते हैं तो संन्यासधर्म का विनाश होता है। हृदय में यह विचार कर संन्यासियों के नियम की रक्षा करते हुये काम-शास्त्र से अनभिज्ञ के समान उन्होंने इन प्रश्नों के उत्तर देने के लिये एक मास की अवधि माँगी। शारदा को इसमें किसी प्रकार की आपत्ति नहीं थी। वह समझती थी कि एक मास के भीतर ही उनमें कौन-सा परिवर्तन

हो जायेगा ! जैसे ये आज काम-शास्त्र से अनभिज्ञ हैं इसी प्रकार एक मास के अनन्तर भी वे उसी प्रकार इस शास्त्र से अपरिचित बने रहेंगें। उन्होंने सहर्ष सम्मति दे दी। अकाल में ही यह तुमुल शास्त्रार्थ समाप्त हुआ।

शंकर का परकाय-प्रवेश[1]

काम-शास्त्र से परिचय पाना आचार्य के लिये एक समस्या थी। उन्हें यति-धर्म का भी निर्वाह करना था, साथ ही साथ शारदा देवी के कामविषयक प्रश्नों का उत्तर भी देना था। उपाय खोजने के लिये ऐसा कहा जाता है कि वे आकाश में भ्रमण करने लगे। योग-बल उनमें पर्याप्त था। केवल विकल्पमय आध्यात्मिक ज्ञान की चर्चा में ही वे निपुण न थे प्रत्युत योग के व्यावहारिक प्रयोग में भी वे निष्णात थे। आकाश में भ्रमण करते हुये उन्होंने एक विचित्र दृश्य देखा—अमरुक नामक किसी राजा का मृतशरीर भूतल पर निश्चेष्ट पड़ा हुआ था। राजा अभी युवक ही था। जंगल में वह शिकार करने के लिये आया था। परन्तु मूर्छा रोग के कारण प्राण-पखेरू उसके शरीर से रात में ही उड़ गये थे। सुन्दरी स्त्रियाँ उसको चारों ओर से घेर कर विलाप कर रही थीं। मन्त्री लोग व्याकुल-बदन होकर राज्य के संचालन की चिन्ता के कारण नितान्त शोकाकुल थे। शंकराचार्य ने इस दृश्य को देखा। देखते ही उनके चित्त में आया कि क्यों न मैं इसी राजा के मृतशरीर में प्रवेश कर काम-शास्त्र की व्यावहारिक शिक्षा ग्रहण करूँ। इस भाव को उन्होंने अपने पट्ट शिष्य पद्मपाद (सनन्दन) से प्रकट किया। गुरु के इस विचार को सुनते ही शिष्य (पद्मपाद) के हृदय में महान् उद्वेग उत्पन्न हुआ।

वे कहने लगे—हे आचार्य ! मैं जानता हूँ कि परकाय में प्रवेश करने की विद्या के सहारे हमारे योगियों ने अलौकिक चमत्कार दिखलाया है। यह विद्या नितान्त प्राचीन है और आप इसमें प्रवीण हैं, इसको भी मैं जानता हूँ परन्तु प्रश्न तो यह है कि क्या संन्यासी को इसमें प्रवृत्त होना चाहिए ? कहाँ तो यह हमारा अनुपम संन्यास-व्रत और कहाँ यह अति निन्दनीय काम-शास्त्र। आप यदि काम-शास्त्र की चर्चा करें तो जगत में बड़ी अव्यवस्था फैलेगी। भूमण्डल पर तो संन्यास-धर्म पहिले ही से शिथिल हो रहा है। आपका संकल्प उसे दृढ़ करना है, परन्तु मैं देखता हूँ कि आप अपने व्रत से विचलित हो रहे हैं। अतः मेरी दृष्टि में यह परकाय-प्रवेश नितान्त अनुचित प्रतीत हो रहा है।

सनन्दन का विरोध

---

[1] इस घटना का वर्णन सब दिग्विजयों में मिलता है। द्रष्टव्य—आनन्द गिरि—(२५ वाँप्रकरण), माधव (९ वाँ सर्ग), चिद्विलास (१९-२०,१९ अध्याय) तथा सदानन्द (७ वाँ सर्ग)

आचार्य शंकर ने पद्मपाद के इन वचनों को बड़ी शान्ति के साथ सुना और अपने योग्य शिष्य की सारगर्भित वाणी की उन्होंने बड़ी प्रशंसा की।

शंकर का विरोध-परिहार

परन्तु इनके विरोध का परिहार करते हुये उन्होंने कहना आरम्भ किया—"तुम्हारे वचन सद्भाव से प्रेरित हैं, परन्तु इस तथ्य के केवल बाह्य अंग पर ही तुम्हारी दृष्टि पड़ी है। इसके अन्तस्थल पर तुमने प्रवेश नहीं किया है। तुम जानते नहीं हो कि समस्त इच्छाओं का मूल तो संकल्प है। संसार को हेय दृष्टि से देखने वाला पुरुष यदि किसी कार्य का कर्ता भी हो तो उससे क्या? उसके हृदय में संकल्प का नितान्त अभाव रहता है। उस पुरुष को यह संसार कभी बन्धन में नहीं डाल सकता। जिसने इस संसार को सम्पूर्ण रूप से कल्पित और असत्य जान लिया है उस पुरुष को कर्मों के फल किसी प्रकार भी लिप्त नहीं कर सकते।[1] कर्म का फल तो उसे ही प्राप्त होता है जो इन कर्मों को करने में अहंकार रखता है परन्तु ज्ञान के द्वारा जब यह अहंकार-बुद्धि नष्ट हो जाती है तब कर्ता को किसी प्रकार का फल नहीं मिलता। यदि वह ब्रह्म-हत्या करता है तब भी वह पापों से लिप्त नहीं होता, और यदि हजारों भी अश्वमेध यज्ञ करता है तब भी वह पुण्य नहीं प्राप्त कर सकता। ऋग्वेद का वह दृष्टान्त क्या तुम्हें याद नहीं है कि ब्रह्मज्ञानी संकल्प-रहित इन्द्र ने त्वष्टा के पुत्र त्रिशिरा विश्वरूप को मार डाला और मुनियों को भेड़ियों को मार कर खाने के लिये दे डाला था।[2] परन्तु इस कर्म से उनका एक बाल भी बाँका नहीं हुआ। उधर जनक ने अनेक यज्ञ किया, हजारों रुपया दक्षिणा रूप में दिया,[3] परन्तु वे अभय ब्रह्म को प्राप्त करने वाले राजर्षि थे। फलतः ऐसे सत्कर्मों का फल उनके लिये कुछ भी न हुआ। ब्रह्म-वेत्ता की यही तो महिमा है। संकल्प के नाश का यही तो प्रभाव है कि सुकृत और दुष्कृत के फल कर्ता को तनिक भी स्पर्श नहीं करते। मैं वासनाहीन हूँ—मेरे हृदय में काम की वासना का लेश भी अवशिष्ट नहीं है। अतः मेरा परकाय प्रवेश करके शास्त्रतः काम-शास्त्र का अध्ययन करना कथमपि निन्दनीय नहीं है। अतः इस काम से मुझे विरक्त मत करो, प्रत्युत सहायता देकर इसके अनुष्ठान को सुगम बनाओ।"

गुरु के कथन के सामने शिष्य ने अपना सिर झुकाया। आचार्य शङ्कर शिष्यों के साथ दुर्गम पर्वत-शिखर पर चढ़ गये। वहाँ एक सुन्दर गुफा दिखाई पड़ी

[1] कथमज्यते जगदशेषमिदं कलयन् मृषेति हृदि कर्मफलैः
न फलाय हि स्वपनकालकृतं सुकृतादि जात्वनृत बुद्धिगतम्—
शं. दि. ९।९५

[2] ऋग्वेद १०। ८। ८०

[3] बृहदारण्यक उपनिषद्, अध्याय ३

जिसके आगे एक विशाल समतल शिला पड़ी हुई थी। पास ही स्वच्छ जल से भरी हुई एक सरसी सुशोभित हो रही थी। आचार्य ने अपने शिष्यों से कहा कि यहीं पर रह कर आप लोग मेरे शरीर की सावधानी से रक्षा कीजिये जब तक मैं इस राजा के मृतक शरीर में प्रवेश कर काम-कला का अनुभव प्राप्त करता हूँ। शिष्यों ने इस आज्ञा को मान ली। शङ्कर ने उस गुफा में अपने स्थूल शरीर को छोड़ दिया और केवल लिङ्ग शरीर[1] से युक्त होकर योग-बल से राजा के शरीर में प्रवेश किया। प्रवेश करने की प्रक्रिया इस प्रकार थी—योगी शङ्कर ने अपने शरीर के अंगूठे से आरम्भ कर प्राण वायु को ब्रह्म-रन्ध्र तक खींच कर पहुँचाया और ब्रह्म-रन्ध्र के भी बाहर निकल कर वे मरे हुये राजा के शरीर में ठीक उसके विपरीत क्रम से प्रवेश कर गये। अर्थात् ब्रह्म-रन्ध्र से प्राणवायु का संचार आरम्भ कर धीरे-धीरे उसे नीचे लाकर पैर के अंगूठे तक पहुँचा दिया। चकित जनता ने आश्चर्य भरे नेत्रों से देखा कि राजा अमरुक के शव में प्राण का संचार हो गया। मुख के ऊपर कान्ति आ गयी, नाक से धीरे-धीरे वायु निकलने लगा। हाथ, पैर हिलने और डुलने लगे; नेत्र खुल गये। देखते-देखते राजा उठ बैठा। रानी और मन्त्रियों के हर्ष का ठिकाना न रहा। इस अद्भुत घटना को देखकर जनता स्तब्ध हो गयी।

राजा अमरुक के पुनरुज्जीवन की बात सारे राज्य में बड़ी शीघ्रता के साथ फैल गयी। जो सुनता वही आश्चर्य करता। राजा ने अपने मन्त्रियों की सलाह से राज्य की उचित व्यवस्था की। इस व्यवस्था का फल राज्य में उचित रीति से दीख पड़ने लगा। सर्वत्र सुख और शान्ति का साम्राज्य था। मन्त्रियों को राज्य के संभालने में लगाकर इस नये राजा ने सुन्दरी विलासिनी स्त्रियों के साथ रमण करना आरम्भ किया। शंकर वज्रोली क्रिया के मर्मज्ञ पण्डित थे, जिसकी सहायता से उन्हें काम-कला के सीखने में देर न लगी। इसी अवस्था में उन्होंने 'कामसूत्र' का गाढ़ अनुशीलन किया तथा इस प्रकार इस शास्त्र के वे पारङ्गत पण्डित बन गये। उनकी अभीष्ट पूर्ति हो चली।

उधर तो शंकर राज्य का काम कर रहे थे और इधर गुफा में पड़े उनके शरीर को उनकी शिष्य-मण्डली रक्षा कर रही थी। दिन बीते, रातें आयीं। धीरे-धीरे एक मास की अवधि भी बीत चली, परन्तु जब आचार्य नहीं लौटे तब शिष्यों को

---

१ लिङ्ग शरीर—पांच ज्ञानेन्द्रिय, पाँच कर्मेन्द्रिय, पांच प्राण, मन तथा बुद्धि, इन सत्रह वस्तुओं के समुदाय को लिङ्ग शरीर कहते हैं। जीव इसी शरीर के द्वारा एक शरीर से दूसरे शरीर में प्रवेश करता है। देखिये, ईश्वर कृष्ण:—सांख्य कारिका, कारिका ४०।

महती चिन्ता उत्पन्न हुई कि क्या किया जाय ? किधर खोज निकाला जाय ? उनके राज्य का पता तो था नहीं। तब पद्मपाद ने यह सलाह दी कि आचार्य को ढूंढ़ निकालना चाहिये, हाथ पर हाथ रखने से क्या लाभ ? तदनुसार कतिपय शिष्य आचार्य के शरीर की रक्षा करने के लिये वहाँ रक्खे गये और कुछ शिष्य पद्मपाद के साथ आचार्य की खोज में निकले। जाते-जाते वे लोग अमरुक राजा के राज्य में पहुँचे। राज्य की सुव्यवस्था देखते ही उन्हें यह ज्ञान हो गया कि यह उनके नृप वेशधारी आचार्य का ही राज्य है। लोगों के मुख से उन्होंने सुना कि राजा साक्षात् धर्म की मूर्ति है। परन्तु उसे गायन-विद्या से बड़ा प्रेम है। तदनुसार शिष्य गायक का वेष बना कर राजा के दरबार में उपस्थित हुये। राजा ने इन कलावन्तों को देखकर बड़ी प्रसन्नता प्रकट की और उन्हें कोई नयी वस्तु सुनाने की आज्ञा दी। गायक लोग तो इस अवसर की प्रतीक्षा में थे ही। आज्ञा मिलते ही उन्होंने अपना गाना प्रारम्भ कर दिया। गायन आध्यात्मिक भावों से भरा था। स्वर की मधुर लहरी सभामण्डप को भेद कर ऊपर उठने लगी। इस गायन ने राजा के चित्त को बरबस अपनी ओर आकृष्ट किया।

यह आध्यात्मिक गायन आत्मा के सच्चे स्वरूप का बोध करने वाला था। पद्मपाद राजा को उसके सच्चे स्वरूप से परिचित कराकर उसके हृदय में प्रबोध उत्पन्न करना चाहते थे। इसलिये उन्होंने गाना आरम्भ किया जिसका अभिप्राय यह था :—

चावल भूसी के भीतर छिपा रहता है। चतुर लोग इस भूसी को कूटकर चावल को उससे अलग निकाल लेते हैं। ब्रह्म आकाश आदि भूतों को उत्पन्न कर उसके भीतर प्रविष्ट होकर छिपा हुआ है। वह पञ्चकोषों के भीतर ऐसे ढंग से छिपा हुआ है कि बाहरी दृष्टि रखने वाले व्यक्तियों के लिये उसकी सत्ता का पता नहीं चलता। परन्तु विद्वान् लोग युक्तियों के सहारे उसकी विवेचना कर चावल की भाँति जिस आत्मा का साक्षात्कार करते हैं वह तत्त्व तुम्हीं हो :—

> खाद्यमुत्पाद्य विश्वमनुप्रविश्य
> गूढमन्नमयादि कोशतुष-जाले।
> द्वयो विविच्य युक्त्यवघाततो
> यत्तण्डुलवदाददति तत्त्वमसि तत्त्वम् ॥—शं० दि० १०।४६

हे राजन् ! समझो कि तुम कौन हो ? विद्वान् लोग शम (मन का निग्रह), दम (इन्द्रिय का निग्रह), उपरम (वैराग्य) आदि साधनों के द्वारा अपनी बुद्धि में जिस सच्चिदानन्द रूप तत्त्व के पाने में समर्थ होते हैं और जिसे पाकर के जन्म-मरण से रहित होकर आवागमन के क्लेश से मुक्त हो जाते हैं वह तत्त्व तुम्हीं हो :—

शमदमोपरमादि साधनैर्धीराः
स्वात्मनाऽऽत्मनि यदन्विष्य कृतकृत्याः ।
अधिगतामित सच्चिदानन्दरूपा,
न पुनरिह खिद्यन्ते तत्त्वमसि तत्त्वम् ॥—शं० दि० १०।५५

गायन समाप्त हुआ। नृपवेश-धारी शङ्कर के हृदय में अपने प्राचीन स्वरूप के ज्ञान का उदय हुआ। उन्हें अपनी भूल का पता चला। वे शिष्यों को केवल एक मास की अवधि देकर आये थे। परन्तु परिस्थितियों के वश में पड़ कर उन्होंने कामानुराग में अपने को इतना अनुरक्त कर दिया कि अपनी अवधि का काल उन्हें स्मरण नहीं रहा। पद्मपाद के इस गायन ने उनकी पूर्व प्रतिज्ञा को उनके सामने लाकर सजीव रूप से खड़ा कर दिया। उन्होंने अपने कर्तव्य को भलीभाँति पहचान लिया और इन गायकों की आशा पूरी कर इन्हें बिदा किया। कलावन्तों के द्वारा समझाये जाने पर शङ्कर मूर्छित हो गये। उन्होंने राजा के शरीर को छोड़ दिया और गुफा में स्थित अपने शरीर में पहिले कहे गये ढंग से वे घुस गये। ब्रह्म-रन्ध्र से आरम्भ कर पैर के अँगूठे तक धीरे-धीरे प्राणों का संचार हो गया। शिष्यों ने आश्चर्य से देखा कि गुरु का शरीर प्राणों से युक्त हो गया। अतः यह देख कर उन्हें महान् हर्ष हुआ।

शङ्कर का शरीर सचेष्ट हो गया। अपने शिष्यों के साथ वे प्रतिज्ञानुसार सीधे शारदा देवी के पास पहुँचे। शारदा स्वयं अलौकिक शक्ति से युक्त थीं।

शङ्कर का उत्तर

शङ्कर की यह आश्चर्यजनक घटना उनके कानों तक पहुँच चुकी थी। वे समझ गईं कि शङ्कर ने अब काम-शास्त्र में भी निपुणता प्राप्त कर ली है। अब उनसे विशेष शास्त्रार्थ करने की आवश्यकता नहीं है। शङ्कर ने उन प्रश्नों का यथोचित उत्तर देकर उन्हें निरुत्तर कर दिया।[1]

शङ्कर के इस युक्तियुक्त उत्तर को सुनकर शारदा देवी (भारती) नितान्त प्रसन्न हुईं और उन्होंने शङ्कर की प्रतिभा और विद्वत्ता के सामने अपना पराजय स्वीकार किया। अब वे शङ्कर से बोलीं कि "मुझे पराजित कर आपने अब मेरे

[1] शंकर के उत्तर का ठीक-ठीक वर्णन दिग्विजयों में नहीं मिलता। प्रश्न काम-शास्त्र का है, उत्तर भी काम-शास्त्र के ग्रन्थों में मिलता ही है। अतः अनावश्यक समझ कर ही इन ग्रन्थकारों ने इसका निर्देश नहीं किया है। हम भी इनका अनुकरण कर चुप रह जाना ही उचित समझते हैं। जिज्ञासु-पाठक वात्स्यायन-कामसूत्र, रतिरहस्य, पञ्चसायक आदि ग्रन्थों में इसका उत्तर देख सकते हैं।

पति देव के ऊपर पूरी विजय पायी है" मण्डन मिश्र ने अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार संन्यास ग्रहण करने की इच्छा प्रकट की और आचार्य ने उन्हें संन्यास-मार्ग में दीक्षित कर उनका नाम 'सुरेश्वराचार्य' रक्खा।

शंकर और मण्डन के शास्त्रार्थ की ऐतिहासिकता

शङ्कर और मण्डन मिश्र के शास्त्रार्थ का यह विस्तृत विवरण 'शङ्कर-दिग्विजयों' के प्रचलित वर्णन के आधार पर दिया गया है। इन ग्रन्थों के रचयिताओं की यह धारणा है कि मण्डन मिश्र मीमांसा-शास्त्र के ही पारंगत पण्डित थे। अतएव उनका द्वैत-मार्ग के ऊपर ही आग्रह था। इसीलिये अद्वैतवादी शङ्कर ने अपने अद्वैतवाद के मण्डन के लिये मण्डन मिश्र की द्वैतवादी युक्तियों का बड़ी ऊहापोह के साथ खण्डन किया। परन्तु ऐतिहासिक दृष्टि से विचार करने पर इस शास्त्रार्थ के भीतर एक विचित्र ही रहस्य दिखाई पड़ता है। इधर मण्डन मिश्र की लिखी हुई 'ब्रह्म सिद्धि' नामक पुस्तक प्रकाशित होकर विद्वानों के सामने आयी है। इसके अध्ययन से स्पष्ट प्रतीत होता है कि मण्डन मिश्र भी पक्के अद्वैतवादी थे। तब यह प्रश्न होना स्वाभाविक है कि शङ्कराचार्य का इनके साथ क्योंकर शास्त्रार्थ हुआ? दोनों तो अद्वैतवादी ही ठहरते हैं। जान पड़ता है कि मण्डन मिश्र आचार्य शङ्कर के प्रतिस्पर्धी अद्वैतवादी दार्शनिक थे। दोनों—शङ्कर और मण्डन—के अद्वैतवाद के सिद्धान्तों में बहुत भिन्नता पायी जाती है। शङ्कर अपने अद्वैतवाद को ठीक उपनिषद् की परम्परा पर अवलम्बित मानते थे और संभव है कि इसीलिये वे मण्डन के अद्वैतवाद को उपनिषद्-विरुद्ध समझते थे। जब तक एक प्रबल प्रतिस्पर्द्धी के मत का खण्डन नहीं होता, तब तक अपने सिद्धान्त का प्रचार करना कठिन है। संभवतः इसीलिये शंकर ने मण्डन मिश्र को अपने उपनिषन्मूलक अद्वैतवाद का प्रचारक बनाने के लिये ही उन्हें परास्त करने में इतना आग्रह दिखलाया। अतः इस प्रकार ऐतिहासिक दृष्टि से उपनिषद् अद्वैतवादी शंकर का उपनिषद्-विरुद्ध अद्वैती मण्डन से शास्त्रार्थ करना नितान्त युक्तियुक्त प्रतीत होता है।

—o—

दशम-परिच्छेद

दक्षिण-यात्रा

मण्डन मिश्र के ऊपर विजय-प्राप्त करने से आचार्य शंकर ने उत्तरी भारत की पण्डित-मण्डली के ऊपर अपना प्रभाव जमा लिया। मण्डन मिश्र को तो वे अपना शिष्य बना ही चुके थे। अब उन्होंने उत्तर भारत को छोड़कर दक्षिण भारत की ओर यात्रा करना आरंभ किया। इस यात्रा का अभिप्राय था दक्षिण भारत के अवैदिक मतों का खण्डन करना और अपने अद्वैत मार्ग का प्रचार करना। आचार्य अपनी शिष्य मण्डली के साथ, जिसमें प्रमुख सुरेश्वर और पद्मपाद थे, माहिष्मती नगरी से दक्षिण भारत की ओर चल पड़े। रास्ते में पड़ने वाले अनेक तीर्थ-स्थलों पर निवास करना और जनता को अद्वैत मार्ग की शिक्षा देना आचार्य शंकर की दैनिक चर्या थी। वे महाराष्ट्र मण्डल से होकर और भी नीचे दक्षिण की ओर गये। बहुत संभव है कि महाराष्ट्र के प्रमुख तीर्थ-क्षेत्र पंढरपुर में उन्होंने निवास किया हो। यह तीर्थ विष्णु भगवान् के ही एक विशिष्ट विग्रह पण्ढरीनाथ से सम्बद्ध है। महाराष्ट्र में यह वैष्णव धर्म का प्रधान केन्द्र है। यह मन्दिर प्राचीन बतलाया जाता है।

महाराष्ट्र देश में धर्म प्रचार के अनन्तर आचार्य अपनी मण्डली के साथ सुप्रसिद्ध तीर्थ-क्षेत्र श्रीशैल या श्रीपर्वत[1] पर पहुँचे। आज भी उस क्षेत्र की पवित्रता, प्राचीनता और भव्यता किसी प्रकार न्यून नहीं हुई है। यह स्थान मद्रास प्रान्त के कर्नूल जिले में एक प्रसिद्ध देवस्थान है। यहाँ का शिव मन्दिर बड़ा ही विशाल और भव्य है जिसकी लम्बाई ६६० फीट और चौड़ाई ५१० फीट है। इसकी दीवालों के ऊपर रामायण और महाभारत की कथाओं से सम्बद्ध सुन्दर चित्र अङ्कित किये गये हैं। मन्दिर के बीच में मल्लिकार्जुन महादेव की स्थापना की गयी है। भारतवर्ष में विख्यात द्वादश जोतिर्लिङ्गों में मल्लिकार्जुन अन्यतम है। प्राचीन काल में तो इस स्थान की महत्ता और भी अधिक थी। मन्त्र-सिद्धि तथा तान्त्रिक उपासना से इस स्थान का गहरा सम्बन्ध था। कापालिक तान्त्रिकों के अतिरिक्त बौद्ध तान्त्रिकों से भी इस स्थान का गहरा सम्बन्ध था, इस बात के लिये अनेक प्रमाण मिलते हैं। सुनते हैं कि माध्यमिकतम-विख्यात आचार्य सिद्ध नागार्जुन ने इसी पर्वत पर निवास कर अपनी अलौकिक सिद्धियाँ प्राप्त की थीं। बाणभट्ट (सप्तम शताब्दी का पूर्वार्द्ध) ने भी

श्रीपर्वत

[1] श्रीपर्वत का विशेष विवरण १२ वें परिच्छेद में है। वहीं देखिए।

इस स्थान का सिद्धि-क्षेत्र के रूप में उल्लेख किया है।[1] महाराज हर्षवर्धन ने अपनी 'रत्नावली' नाटिका में इसी श्रीपर्वत से आने वाले एक सिद्ध का वर्णन किया है जिसे अकाल में ही फूलों को खिला देने की अपूर्व सिद्धि प्राप्त थी।[2] महाकवि भवभूति ने भी 'मालती-माधव' में इस स्थान को मन्त्र-सिद्धि के लिये उपादेय तथा सिद्धपीठ बतलाया है।

शैव स्थान होने पर भी बहुत दिनों से यह स्थान अवैदिक मार्गावलम्बियों के अधिकार में आ गया था। इस स्थान पर बौद्धों का प्रभाव बहुत ही अधिक था। हीनयानी बौद्धों के अष्टादश निकायों में दो निकायों के नाम हैं पूर्वशैलीय और अपरशैलीय। तिब्बती ग्रन्थों से पता चलता है कि इस नामकरण का यह कारण था कि श्रीपर्वत के पूरब और पश्चिम में दो पहाड़ थे, जिनका नाम क्रमशः पूर्वशैल और अपरशैल था। इन्हीं शैलों पर निवास करने के कारण इन निकायों का ऐसा नामकरण हुआ था। परन्तु शंकराचार्य के समय में यहाँ बौद्धों के प्रभाव का पता नहीं चलता, उस समय तो इसे कापालिकों ने अपना अड्डा बना रक्खा था।

प्राचीन समय में इस सम्प्रदाय की प्रभुता और महत्ता बहुत ही अधिक थी। यह एक उग्र तान्त्रिक शैव सम्प्रदाय था जिसके अनुयायी माला, अलंकार, कुण्डल, चूडामणि, भस्म और यज्ञोपवीत ये छः मुद्रिकायें (चिह्न) धारण करते थे। ये लोग मनुष्यों की हड्डियों की माला पहिनते थे, श्मशान में रहते थे और आदमियों की खोपड़ियों में भोजन करते थे। परन्तु किसी विचित्र योग के अभ्यास से उन्हें विचित्र सिद्धियाँ प्राप्त थीं।[3]

कापालिकों का परिचय

इनकी पूजा बड़े उग्र रूप की थी। ये शंकर के उग्र रूप महाभैरव के उपासक थे। इनकी पूजा में मद्य, मांस आदि का पर्याप्त व्यवहार होता था। इनके उपास्य-

---

[1] जयति ज्वलत्प्रतापज्वलनप्रकारकृतजगद्रक्षः।
सकलप्रणयिमनोरथसिद्धिश्रीपर्वतो हर्षः ॥—हर्ष-चरित, प्रथम उच्छ्‌वास

[2] रत्नावली—पृ० ६७-६८ (निर्णयसागर)

[3] प्रबोध चन्द्रोदय में इनकी सिद्धियों का बड़ा ही सुन्दर दर्शन किया गया है।

हरिहर सुरज्येष्ठ श्रेष्ठान्सुरानहमाहरे,
वियति वहतां नक्षत्राणां रुणध्मि गतीरपि।
सनगनगरीमम्भः पूर्णां विधाय महीमिमां,
कलय सकलं भूयस्तोयं क्षणेन पिबामि तत् ॥

—प्रबोध चन्द्रोदय, अंक ३, श्लोक १४

देव महाभैरव का स्वरूप बड़ा उग्र तथा भयानक था। "ये लोग आग में मनुष्य के मास की आहुति देते थे, ब्राह्मण के कपाल (खोपड़ी) में शराब पीकर ये अपने व्रत की पारणा करते थे, महाभैरव के सामने पुरुषों की बलि दिया करते थे।[१]" शंकराचार्य के समय में इन कापालिकों का बड़ा प्रभाव था। क्योंकि ६३९ ई० के एक शिलालेख से पता चलता है कि चालुक्य वंशी राजा पुलकेशी द्वितीय के पुत्र नागवर्धन ने कपालेश्वर की पूजा के लिये बहुत-सी जमीन दानरूप में दी थी।

ऐसे तान्त्रिक क्षेत्र में शंकराचार्य को अपने वैदिक मार्ग का प्रचार करना था। उन्होंने भगवान् मल्लिकार्जुन तथा भगवती भ्रमराम्बा की बड़े अनुराग से पूजा की और कुछ दिनों तक यहाँ निवास किया। वे अपने शिष्यों को भाष्य पढ़ाते, अद्वैत मार्ग का उपदेश देते और अवैदिक मतों के सिद्धान्तों की निःसारता भलीभाँति दिखलाते। कापालिक जैसे अवैदिक पन्थ का खण्डन उनका प्रधान लक्ष्य था। विद्वान् लोग शंकर की ओर झुकने लगे। वहाँ की जनता शंकर के उपदेशों को सुनकर कापालिक मत को छोड़कर वैदिक मार्ग में अनुराग दिखलाने लगी। कापालिकों ने देखा कि एक महान् अतर्कित विघ्न उपस्थित हुआ। परन्तु उनमें ऐसा कोई विद्वान् न था जो शंकर की युक्तियों का उत्तर देता। पराजय के साथ ही साथ इन कापालिकों की प्रतिहिंसा (बदला) की प्रवृत्ति भी बढ़ने लगी। तर्क से हार कर उन्होंने कर्कश तलवार का आश्रय लिया। इनके नेता का नाम था उग्रभैरव। उसने शंकर को मार डालने की अच्छी युक्ति निकाली। वह इनका शिष्य बन गया—साधारण शिष्य नही बल्कि उग्र शिष्य। धीरे-धीरे वह आचार्य शंकर का प्रिय पात्र बन गया। अवसर पाकर उसने शंकर से अपना गूढ़ अभिप्राय कह सुनाया कि भगवन्! मैं विषम परिस्थिति में हूँ। मुझे एक अलौकिक सिद्धि प्राप्त होने में एक क्षुद्र विघ्न उपस्थित हो गया है। मुझे बलि देने के लिये राजा या किसी सर्वज्ञ पण्डित का सिर चाहिये। पहिला तो मुझे मिल नहीं सकता है और दूसरा आपकी अनुकम्पा पर अवलम्बित है। आपसे बढ़कर इस जगत् में है ही कौन? इसलिये आप अपना सिर मुझे दे दीजिये। शंकराचार्य ने गूढ़ अभिप्राय से भरे हुये इस वचन को सुना। परन्तु वे तो परोपकारी जीव थे। उन्होंने इस बात की स्वीकृति दे दी परन्तु इस कापालिक को सावधान कर दिया कि मेरे

---

[१] मस्तिष्कान्त्रवसाभिपूरितमहामांसाहुतीर्जुह्वतां,
वह्नौ ब्रह्मकपाल कल्पितसुरापानेन नः पारणा।
सद्यः कृत्तकठोरकण्ठविगलत्कीलालधारोज्वलै-
रर्च्यो नः पुरुषोपहारबलिभिर्देवो महाभैरवः॥
—प्रबोध चन्द्रोदय

शिष्यों के सामने कभी इस बात की चर्चा न करे। मुझे डर है कि वे इस प्रस्ताव को कभी स्वीकार न करेंगे। कल जब मैं अकेला रहूँ तो तुम आना और मैं अपना सिर तुम्हें दे दूँगा। दूसरे दिन वह कापालिक हाथ में त्रिशूल लेकर, माथे में त्रिपुण्ड धारण कर, हड्डियों की माला को गले से लटकाये हुये, शराब की मस्ती में लाल-लाल आँखें घुमाता हुआ शंकराचार्य के निवास स्थान पर आया। उस समय विद्यार्थी लोग दूर चले गये थे। आचार्य एकान्त में बैठे हुये अभ्यास में लीन थे।

उस भैरवाकार कापालिक को देखकर उन्होंने शरीर छोड़ने का निश्चय कर लिया। अपने अन्तःकरण को एकाग्र कर वे योगासन पर ध्यान-मुद्रा में बैठ गये। प्रणव का जप करते हुये उन्होंने अपनी इन्द्रियों को उनके व्यापार से हटाया और निर्विकल्प समाधि में जा विराजे। आचार्य को बिल्कुल एकान्त में देख कर उस कापालिक ने अपनी कामना पूरी करनी चाही। परन्तु पद्मपाद जैसे विलक्षण बुद्धि वाले शिष्य का वह ठग न सका। उन्हें उस कापालिक की दुरभिसन्धि का कुछ पता चल गया था। उस उग्रभैरव ने तलवार को शंकराचार्य का सिर काटने के लिये ज्योंही उठाया त्योंही पद्मपाद वहाँ अकस्मात् उपस्थित हो गये और त्रिशूल के नोंक से उसका काम तमाम कर डाला। उग्रभैरव का पराजय कापालिक मत के नाश का श्रीगणेश था। देखते ही देखते यह कापालिक मत श्रीपर्वत के प्रदेश से उच्छिन्न हो गया। इस प्रकार अद्वैत की विजय-दुन्दुभि सर्वत्र बजने लगी।[1]

गोकर्ण की यात्रा

यहाँ से यतिराज शंकर अपने शिष्यों के साथ गोकर्ण क्षेत्र में पधारे। यह स्थान बम्बई प्रान्त में एक प्रसिद्ध शैव तीर्थ है। गोवा से उत्तर लगभग तीस मील की दूरी पर यह नगर समुद्र के किनारे स्थित है। यहाँ के महादेव का नाम 'महाबलेश्वर' है, जहाँ आज भी शिवरात्रि के अवसर पर बहुत बड़ा मेला लगता है। प्राचीन काल में इसकी प्रसिद्धि और भी अधिक थी। रामायण, महाभारत तथा पुराणों में इसकी विपुल महिमा गायी गयी है। बाल्मीकि रामायण से पता चलता है कि कुबेर के समान सम्पत्ति पाने की अभिलाषा से लंकाधिपति रावण ने अपनी माता कैकसी के परामर्श से यहीं घोर तपस्या की थी तथा अपने मनोरथ को

[1] उग्रभैरव के पराजय के विशेष विवरण के लिये देखिये, माधव-शंकर दिग्विजय—सर्ग ११, सदानन्द—शंकर विजयसार—सर्ग १० आनन्दगिरि ने कापालिक के पराजय की घटना का उल्लेख अपने ग्रन्थ में नहीं किया है।

सिद्ध किया था।[१] महाभारत इसे देवताओं की तपस्या का स्थल बतलाता है जहाँ केवल तीन रात ठहरने से अश्वमेध यज्ञ करने का फल मिलता है। अनुशासन पर्व में अर्जुन के इस स्थान पर जाने का उल्लेख मिलता है।[२] पिछले काल में भी इसकी पवित्रता अक्षुण्ण बनी रही। महाकवि कालिदास ने गोकर्ण के महादेव को वीणा बजा कर प्रसन्न करने के लिये नारद जी का आकाश मार्ग से वहाँ जाने का उल्लेख किया है।[३]

इसी गोकर्ण क्षेत्र में आचार्य शंकर ने तीन रात तक निवास किया। भगवान् महाबलेश्वर की स्तुति करते हुये वहाँ के विद्वानों और भक्तों के सामने अपने अद्वैत मार्ग का शंकर ने उपदेश किया।[४]

हरिशंकर की यात्रा

गोकर्ण के अनन्तर शंकर हरिशंकर नामक तीर्थ स्थल में पधारे। यहाँ हरिहर की मूर्ति विराजमान थी। आचार्य शंकर ने अद्वैतवाद के प्रतीकरूप हरिशंकर की स्तुति श्लेषात्मक पद्यों के द्वारा इस प्रकार की :—

"हे हरे! आपने मन्दर नामक पहाड़ को धारण कर देवताओं को अमृत भोजन कराया है। मन्दराचल के धारण करने पर भी आप स्वयं खेद रहित हैं। हे कच्छप रूपी नारायण! आप अपनी अपार कृपा मुझ पर कीजिये। (शिव को लक्षित कर) हे भगवान् शंकर! आप मन्दर नामक विष को धारण करने वाले तथा भक्षण करने वाले हैं। कैलाश पहाड़ के ऊपर अपनी सुन्दर मूर्ति से आप नाना प्रकार के विलास करते हैं। इस दास को भी अपनी अपार कृपा का पात्र बनाइये।[५]

---

[१] ततः क्रोधेन तेनैव, दशग्रीवः सहानुजः।
चिकीर्षुर्दुष्करं कर्म, तपसे धृतमानसः॥
प्राप्स्यामि तपसा काममिति कृत्वाध्यवस्य च।
आगच्छदात्मसिद्ध्यर्थं गोकर्णस्याश्रमं शुभम्॥
—वा० रा०, उत्तर काण्ड ९।४५-४६

[२] अथ गोकर्णमासाद्य त्रिषु लोकेषु विश्रुतम्।
समुद्रमध्ये राजेन्द्र सर्वलोकनमस्कृतम्॥—वनपर्व ८५।२४

[३] अथ रोधसि दक्षिणोदधेः श्रितगोकर्णनिकेतमीश्वरम्।
उपवीणयितुं ययौ रवेरुदगावृत्तिपथेन नारदः॥—रघुवंश ८।३३

[४] यात्रा के उल्लेख के लिए द्रष्टव्य—माधव (१२ सर्ग) तथा सदानन्द
११ सर्ग)

[५] यो मन्दरागं दधदादितेयान्, सुधाभुजः स्माऽऽतनुतेऽविषादी।
स्वामद्रिलीलोचितचारुमूर्ते, कृपामपारां स भवान् व्यधत्ताम्॥

हे नृसिंह रूपी नारायण ! आपने सिंह रूप धारण कर देवताओं के शत्रु हिरण्यकश्यपु का संहार किया है और प्रह्लाद को आनन्दित बनाया है । अतः मैं आपको प्रणाम करता हूँ । (शिव को लक्षित कर) हे शंकर ! आप पंच मुख धारण करने वाले हैं, आपके मस्तक के ऊपर नदियों में सर्व श्रेष्ठ गङ्गा विराजती हैं । गजासुर को मार कर आप अत्यन्त आनन्दित हुये । अतः मैं आपको प्रणाम करता हूँ ।[1]"

मूकाम्बिका की यात्रा

हरिशंकर की यात्रा करके शंकर मूकाम्बिका की ओर चल पड़े । रास्ते में एक विचित्र घटना घटी । एक ब्राह्मण दम्पति अपने मरे हुये एकलौते लड़के को गोदी में लेकर विलाप कर रहे थे । आचार्य का कोमल हृदय उनके करुण रुदन पर पिघल गया । वहाँ के लोगों ने शंकराचार्य से बड़ी प्रार्थना की कि भगवन् ! आप अलौकिकशक्ति-सम्पन्न हैं । आप कृपया इस ब्राह्मण बालक को जिला दीजिये । आकाश वाणी ने भी शंकर को इस कार्य के लिये प्रेरित किया । तब आचार्य ने उसे अपने योगबल से जिला दिया । इस अद्भुत घटना को देखकर लोगों के आश्चर्य तथा ब्राह्मण-दम्पत्ति के हर्ष का ठिकाना न रहा । अनन्तर वे मूकाम्बिका के मन्दिर में पहुँचे और भगवती की रहस्यमयी वाणी में स्तुति की ।[2]

हस्तामलक शिष्य की प्राप्ति

मूकाम्बिका की स्तुति करके और कुछ दिन वहाँ निवास करके शंकर 'श्रीवलि' नामक अग्रहार में पहुँचे । अग्रहार उस वस्ती को कहते हैं जिसमें केवल ब्राह्मणों का ही निवास रहता है । इस अग्रहार में लगभग (२०००) दो हजार अग्निहोत्री ब्राह्मण निवास करते थे । उसमें प्रभाकर नामक एक ब्राह्मण भी रहते थे । ये थे तो बड़े सम्पन्न, धनी और मानी परन्तु अपने पुत्र की मूर्खता और पागलपन के कारण नितान्त दुःखित थे । वह न कुछ सुनता था और न कहता था । आलसी की तरह कुछ विचार करता हुआ पड़ा रहता था । परन्तु वह बड़ा गुणसम्पन्न था । प्रभाकर ने ब्राह्मण-पुत्र के जी उठने की बात पहिले ही सुन रक्खी थी। उस अग्रहार में शंकर के आते ही एक दिन वे अपने पुत्र के साथ उनके पास पहुँचे और अपनी दुरवस्था कह सुनायी—भगवन्, यह मेरा पुत्र तेरह वर्ष का हो गया । किसी प्रकार

---

[1] समावहन् केसरितां वरां यः, सुरद्विषत्कुञ्जरमाजघान ।
प्रह्लादमुल्लासितमादधानं पञ्चाननं तं प्रणमः पुराणम् ॥
—माधव—शं० दि० १२ । १०, १२

[2] आराधनं ते बहिरेव केचिदन्तर्बहिश्चैकतमेऽन्तरेव ।
अन्ये परे त्वम्ब ! कदापि कुर्युर्नैव त्वदैक्यानुभवैकनिष्ठाः ॥
— शं० दि० १२।३०

हमने इसका उपनयन कर दिया है। परन्तु न तो इसे अक्षरज्ञान अभी तक हुआ, न वेद का सामान्य परिचय ही। इसका आचरण विलक्षण है। न खाने का नियम है और न पीने का नियम। जब जो चाहता है, करता है। क्या आप इसकी जड़ता का कारण बतलायेंगे? प्रभाकर के इन बचनों को सुनकर शंकराचार्य ने उस बालक से पूछा कि तुम कौन हो? तुम जड़ के समान आचरण क्यों करते हो? इतना सुनते ही वह बालक कहने लगा—भगवन्! मैं जड़ नहीं हूँ। जड़ पुरुष तो मेरे पास रहने से कार्य में स्वयं लग जाता है। मैं आनन्द रूप हूँ। देह, इन्द्रिय आदि से अलग हूँ। मैं विकारों से ही चैतन्य रूप हूँ। कौन कहता है कि मैं जड़ हूँ?[1]

इतना सुनते ही सभा मण्डली आश्चर्यचकित हो गयी। पिता जिस बालक को नितान्त मूर्ख, आलसी, तथा पागल समझता था, वह बहुत बड़ा ब्रह्मज्ञानी निकला। आचार्य ने प्रभाकर से कहा कि यह लड़का तुम्हारे यहाँ रहने योग्य नहीं है। पूर्व जन्म के अभ्यास से यह सब कुछ जानता है परन्तु कुछ कहता नहीं। यदि ऐसा नहीं होता तो बिना पढ़े वह इतने सुन्दर श्लोक कैसे कहता। संसार की वस्तुओं में इसको किसी प्रकार आसक्ति नहीं है। इतना कह कर शंकर ने उस बालक को अपना शिष्य बना लिया और उसका नाम हस्तामलक रक्खा।

—०—

[1] नाहं जडः किन्तु जडः प्रवर्तते, मत्संनिधानेन न संदिहे गुरो।
षड्भिषड्भावविकारवर्जितं, सुखैकतान परमस्मि तत्पदम्॥
—शं० दि० १२।५५

शृङ्गेरी

शङ्कराचार्य श्रीवलि अग्रहार में निवास करने के अनन्तर अपने शिष्यों के साथ शृङ्गगिरि पधारे। यह वही स्थान है, जहाँ आज से लगभग बारह वर्ष पहिले शंकर ने एक विशालकाय सर्प को अपना फन फैला कर मेढ़क के बच्चों की रक्षा करते हुये देखा था। उस पुरानी बात को उन्होंने अपने शिष्यों से कह सुनाया। इसी स्थान पर ऋषि शृङ्ग ने तपस्या की थी। स्थान इतना पवित्र था कि बहुत पहिले से ही वहाँ मठस्थापन करने का उन्होंने संकल्प कर लिया था। आज उसी पुरातन संकल्प को कार्यान्वित करने का अवसर आ गया था। शिष्यों की मंडली ने आचार्य के इस प्रस्ताव का अनुमोदन किया। तदनुसार ऋषि शृङ्ग के प्राचीन आश्रम में शिष्यों के अनुरोध से रहने योग्य कुटियाँ तैयार की गयीं। शंकर ने मन्दिर बनवा कर शारदा देवी की प्रतिष्ठा की और श्री विद्या सम्प्रदायानुसार तान्त्रिक पूजा पद्धति की व्यवस्था कर दी, जो उस समय से लेकर आज तक अविच्छिन्न रूप से चली आ रही है।

यह स्थान आजकल मैसूर रियासत के कडूर जिले में तुङ्ग नदी के बायें किनारे पर अवस्थित है। यह आजकल एक बहुत बड़ा संस्थान (देव स्थान) है, जहाँ

शृङ्गेरी की स्थिति

अद्वैत विद्या का प्रचार विशेष रूप से हो रहा है। शंकराचार्य के द्वारा स्थापित आदि-पीठ होने के कारण इन स्थान की महत्ता तथा गौरव विशेष है। यहाँ के शंकराचार्य की मान्यता अत्यधिक है। मैसूर की रियासत से इसे बड़ी भारी जागीर प्राप्त हुई है तथा वार्षिक सहायता भी दी जाती है। विजयनगर के राजाओं ने भी इस मठ को विशेष जागीर दी थी।[१]

आचार्य शंकर ने शृङ्गेरी मठ को अपने रचनात्मक कार्य-कलाप का मुख्य केन्द्र बनाया। उत्तर काशी में रह कर शंकर ने अपने भाष्य-ग्रन्थों की रचना कर ली थी परन्तु उसके विपुल प्रचार का अवसर उन्हें बहुत ही कम मिला था। इस स्थान पर रहते समय उन्हें इनके प्रचार का अच्छा अवसर मिला। उन्होंने अपने विद्वान् शिष्यों को जिनकी बुद्धि शास्त्र के रहस्यग्रहण करने में नितान्त सूक्ष्म थी, अपने भाष्यों को पढ़ाया। यहीं पर रहते हुये उन्हें एक मनीषी शिष्य की प्राप्ति हुयी। यह शिष्य आचार्य का बड़ा ही भक्त सेवक था। उसका नाम था गिरि।

---

[१] इस स्थान के विशेष वर्णन के लिए देखिये—इसी ग्रन्थ का मठ-विवरण।

वह नामतः ही गिरि न था प्रत्युत गुणतः भी गिरि था। पक्का जड़ था। परन्तु था शंकर का एकमात्र भक्त।

आचार्य अपने भाष्यों की व्याख्या जब विद्वान् शिष्यों के सामने किया करते थे तब वह भी उसे सुना करता था। एक दिन की घटना है कि वह अपना कौपीन धोने के लिये तुङ्गभद्रा के किनारे गया था। उसके आने में कुछ विलम्ब हुआ। शंकर ने उसकी प्रतीक्षा की। उपस्थित विद्यार्थियों को पाठ पढ़ाने में कुछ विलम्ब कर दिया। पद्मपाद आदि शिष्यों को यह बात बड़ी बुरी लगी—इस मृत्पिण्डबुद्धि शिष्य के लिये गुरु जी का इतना अनुरोध कि उन्होंने उसी के लिये पाठ पढ़ाने से रोक रक्खा। शंकर ने यह बात अनुमान से जान ली तथा अपनी अलौकिक शक्ति से उस शिष्य में समस्त विद्याओं का संचार कर दिया। उसके मुख से अध्यात्म विषयक विशुद्ध पद्यमयी वाणी निरर्गल रूप से निकलने लगी। इसे देखकर शिष्यों के अचरज का ठिकाना न रहा। जिसे वे वज्र-मूर्ख समझ कर अनादर का पात्र समझते थे वही अध्यात्म-विद्या का पारगामी पण्डित निकला। शिष्य के मुख से तोटक छन्दों में वाणी निकली थी। इसीलिये गुरु जी ने इनका नाम तोटकाचार्य रख दिया। ये आचार्य के पट्ट शिष्यों में से अन्यतम थे। ज्योतिर्मठ की अध्यक्षता का भार इन्हीं को सौंपा गया।

तोटकाचार्य की प्राप्ति

ऊपर कहा गया है कि शृङ्गेरी निवास के समय शंकर ने अपने भाष्यों के प्रचार की ओर भी दृष्टि डाली। यह अभिलाषा तो बहुत दिन से उनके हृदय में अङ्कुरित हो उठी थी कि ब्रह्मसूत्र भाष्य को लोकप्रिय और बोधगम्य बनाने के लिये उनके ऊपर वार्तिक[1] तथा टीका की रचना करना नितान्त आवश्यक है। भट्ट कुमारिल से भेंट करने का प्रधान उद्देश्य इसी कार्य की सिद्धि थी। परन्तु उस विषम स्थिति में उनसे यह कार्य सिद्ध न हो सका। शृङ्गेरी का शान्त वातावरण इस कार्य के लिये नितान्त अनुकूल था। सामने पवित्र तुङ्गा नदी कल-कल करती हुयी बहती थी। स्थान जन-संघर्ष से नितान्त दूर था। किसी प्रकार का जन

वार्तिक की रचना

---

[1] जिस टीका ग्रन्थ में मूलग्रन्थ में कहे गये, नहीं कहे गये अथवा बुरी तरह कहे गये सिद्धान्तों की मीमांसा की जाती है उसे 'वार्तिक' कहते हैं। इसमें मूल-ग्रन्थ के विषयों की केवल व्याख्या ही नहीं रहती प्रत्युत् उसके विरोधी मतों का भी साङ्गोपाङ्ग खंडन रहता है।

उक्तानुक्तदुरुक्तानां, चिन्ता यत्र प्रवर्तते।
तं ग्रन्थं वार्तिकं प्राहुः वार्तिकज्ञाः मनीषिणः॥

कोलाहल तथा संसार का दुःखमय प्रपञ्च उस पार्वत्य प्रदेश में प्रवेश न कर सकता था। चारों तरफ घने जंगलों से प्रकृति ने उसे घेर रक्खा था। इसी शान्त वातावरण में वार्तिक रचना का अच्छा अवसर दीख पड़ा। शंकर ने सुरेश्वर से अपनी इच्छा प्रकट की कि वे ही ब्रह्मसूत्र भाष्य पर वार्तिक लिखें। सुरेश्वर ने अपनी नम्रता प्रकट करते हुये अपनी अयोग्यता का निवेदन किया। परन्तु गुरू के आग्रह करने पर उन्होंने यह गुरुतर भार वहन करना स्वीकार किया। परन्तु शिष्यों से बड़ा झमेला खड़ा किया। आचार्य शंकर के अधिकांश शिष्य पद्मपाद के पक्षपाती थे। उन्होने आचार्य का कान भरना आरम्भ किया कि यह वार्तिक-रचना का कार्य सुरेश्वर से भलीभाँति नहीं हो सकता। पूर्वाश्रम में वे (सुरेश्वर) गृहस्थ थे और कर्ममीमांसा के अनुयायी तथा आग्रही प्रचारक थे। उनका यह संस्कार अभी तक छूटा न होगा। यह शास्त्रार्थ में आपके द्वारा जीते गये थे अतः विवश होकर इन्होंने संन्यास ग्रहण किया है, अपनी स्वतन्त्रता और स्वेच्छा से नहीं। इसी प्रकार के अनेक निन्दात्मक वचन कह कर शिष्यों ने गुरु के प्रस्ताव का अनुमोदन नहीं किया। उनकी सम्मति में पद्मपाद ही इस कार्य को सम्पन्न करने के पूर्ण अधिकारी थे।

आचार्य बड़े संकट में पड़ गये। अपनी इच्छा के विरुद्ध शिष्यों की यह भावना जान कर उनके चित्त में अत्यन्त क्षोभ हुआ। वे पद्मपाद की योग्यता को जानते थे तथा उनकी गाढ़ गुरु-भक्ति से भी परिचित थे। उन्होंने पद्मपाद को बुला कर अपना प्रस्ताव सुनाया। परन्तु पद्मपाद ने हस्तामलक को ही भाष्य लिखने में समर्थ बतलाया, क्योंकि उनके सामने वेदान्त के समग्र सिद्धान्त हाथ के आँवले की तरह प्रत्यक्ष थे। आचार्य शंकर पद्मपाद के इस प्रस्ताव को सुनकर मुसकराने लगे तथा उनका पूर्व चरित सुना कर कहा कि वे निपुण अवश्य हैं, वेदान्त के तत्त्वों में उनका प्रवेश गम्भीर है, परन्तु वे तो सदा समाहित (समाधि में, लग्न) चित्त रहा करते हैं, अतः उनकी प्रवृत्ति बाह्य कार्यों में कथमपि नहीं होती। अतः मैं तो उन्हें इस कार्य के योग्य नहीं समझता। मेरी दृष्टि में तो समस्त शास्त्रों के तत्त्व को जानने वाले सुरेश्वर ही इस कार्य के सर्वथा योग्य हैं। उनके समान कोई दूसरा नहीं दीख पड़ता। परन्तु मैं अपने अधिकांश शिष्यों के मत के विरुद्ध कार्य नहीं करूँगा। जब उनका आग्रह तुम्हारे ही लिये है तब तुम मेरे भाष्य के ऊपर वृत्ति बनाओ; वार्तिक बनाने का कार्य तो स्वयं सुरेश्वर ने स्वीकार कर ही लिया है।

पद्मपाद से यह कहकर आचार्य शंकर ने सुरेश्वर से भी शिष्यों के इस आक्षेप को कह सुनाया तथा उनसे एक स्वतन्त्र ग्रन्थ लिखने के लिये कहा। शिष्य ने गुरु की आज्ञा को शिरोधार्य कर वेदान्त तत्त्वों का प्रतिपादक 'नैष्कर्म्य-

सिद्धि' लिखा। आचार्य ने इस ग्रन्थ को देख कर विशेष हर्ष प्रकट किया।

सुरेश्वर के द्वारा आक्षेप-खण्डन

सुरेश्वर ने केवल ग्रन्थ लिखकर ही अन्य शिष्यों के आक्षेपों को निस्सार प्रमाणित नहीं किया प्रत्युत युक्तियों के बल पर भी उनकी विरुद्ध उक्तियों का भलीभाँति खण्डन कर दिया। उनका कहना था कि—अवश्य ही मैं पूर्वाश्रम में गृहस्थ था, परन्तु सन्यास लेने पर कौन कहता है कि मुझमें गृहस्थ की वही प्राचीन कर्मानुसक्ति बनी हुई है। बालकपन के बाद यौवन आता है तो क्या बाल्यकाल की चपलता यौवन काल में भी बनी रहती है? सच तो यह है कि जो अवस्था बीत गयी, वह बीत गयी। मन ही तो बन्धन और मोक्ष का कारण है। पुरुष का चरित्र निर्मल होना चाहिये, चाहे वह गृहस्थ हो अथवा सन्यासी। [१]

लोगों का यह आक्षेप या दोषारोपण कि मैं संन्यास को योग्य आश्रम नहीं मानता, नितान्त अयथार्थ है। यदि इसे मैं आश्रम नहीं मानता तो आपके साथ शास्त्रार्थ करने के अवसर पर मैं इसे ग्रहण करने की प्रतिज्ञा क्यों करता? यह मेरी प्रतिज्ञा ही इस बात की साक्षिणी है कि मेरा इस आश्रम में विश्वास पूर्ण तथा अटूट है। शिष्यों का यह भी आक्षेप ठीक नहीं कि भिक्षु लोग मेरे घर में नहीं आते हैं—क्योंकि मैं उनके प्रति आदर-सत्कार नहीं दिखलाता। इस आक्षेप के खण्डन के लिये आप ही स्वयं प्रमाण है। क्या मेरे घर में आपने प्रवेश नहीं किया था? क्या मैंने आपको उचित अभ्यर्थना नहीं की? मैं सच कहता हूँ कि पराजय के कारण से मैंने संन्यास नहीं ग्रहण किया है, अपितु वैराग्य के उदय होने से। शंकर के ऊपर इन वचनों का बहुत अधिक प्रभाव पड़ा परन्तु अन्य शिष्यों का आग्रह मान कर सुरेश्वर से दो उपनिषद्-भाष्यों पर वार्तिक लिखने के लिये उन्होंने कहा:—(१) तैत्तिरीय-उपनिषद्-भाष्य के ऊपर, क्योंकि यह ग्रन्थ आचार्य की अपनी शाखा—तैत्तिरीय शाखा—से संबद्ध था और (२) बृहदारण्यक उपनिषद् पर, क्योंकि यह भाष्य सुरेश्वर की अपनी शाखा—काण्व शाखा—से सम्बन्धित था। यही अन्तिम ग्रन्थ सुरेश्वर की अनुपम तथा सर्वश्रेष्ठ रचना है। इस प्रकार इन्होंने वार्तिकों की रचना कर 'वार्तिककार' का नाम सार्थक किया।

गुरु की आज्ञा पाकर पद्मपाद ने शारीरक भाष्य के ऊपर टीका बनायी

---

[१] —अहं गृही नात्र विचारणीयं, किं ते न पूर्वं मन एव हेतुः।
बन्धे च मोक्षे च मनो विशुद्धो, गृही भवेद्वाऽप्युत मस्करी वा॥
—शं० दि० १३।५७

जिसका पूर्वभाग 'पञ्चपादिका' के नाम से और उत्तरभाग 'वृत्ति' के नाम से प्रसिद्ध है। 'पञ्चपादिका' ब्रह्मसूत्र के ऊपर पहिली टीका है जिसमें भाष्य के गूढ़ अर्थ का प्रतिपादन किया गया है। पद्मपाद ने इसे शंकर को गुरुदक्षिणा रूप में समर्पित किया। गुरु ने अपना अत्यन्त हर्ष प्रकट किया। कहते हैं कि इन्होंने सुरेश्वर से स्पष्ट ही कहा कि इस टीका के पाँच ही चरण प्रसिद्ध होंगे जिसमें केवल चतुःसूत्री (ब्रह्मसूत्र के आरम्भिक चार सूत्र) की टीका ही विशेष विख्यात होगी। इस प्रकार आचार्य की अध्यक्षता में ग्रन्थ-प्रणयन का कार्य सुचारु रूप से चलता रहा।

पद्मपाद की रचना

एकादश परिच्छेद

पद्मपाद का तीर्थाटन

पद्मपाद का घर चोल (द्रविड) देश में था। परन्तु विद्याध्ययन के लिये वे बाल्यकाल में ही काशी में चले आये थे। यहीं पर काशी में उनकी शंकराचाय से भेंट हुई और वे उनके शिष्य बन गये। तब से वे लगातार अपने गुरु के साथ ही अनेक तीर्थों में भ्रमण करते रहे। शृङ्गेरी में 'पञ्चपादिका' की रचना के अनन्तर उनके हृदय में दक्षिण के तीर्थों के देखने की अभिलाषा जगी। शंकर से उन्होंने इस कार्य के लिये आज्ञा माँगी। पहिले तो वे इस प्रस्ताव के विरुद्ध थे; परन्तु शिष्य के विशेष आग्रह करने पर उन्होंने तीर्थयात्रा की अनुमति दे दी। अपने अनेक सहपाठियों के साथ में पद्मपाद दक्षिण के तीर्थों के दर्शन के लिये निकल पड़े। वे पहिले पहल 'कालहस्तीश्वर'[1] में पहुँचे और सुवर्णमुखरी नामक नदी में स्नान कर उन्होंने महादेव की विधिवत् पूजा की और वहाँ कुछ काल तक निवास किया। यहाँ से चलकर वे काञ्ची[2] क्षेत्र में पहुंचे। शिवकाञ्ची में स्थित कामेश्वर और कामाक्षी नाम से विख्यात शिव-पार्वती की उन्होंने विधिवत् अर्चना की। अनन्तर काञ्ची के पास ही 'कल्लाल' नामक ग्राम में स्थित 'कल्लालेश' नामक विष्णुमूर्ति का दर्शन कर भक्ति-भाव से उनकी पूजा की। वहाँ से वे 'पुण्डरीकपुर' नामक नगर में पधारे। वहाँ शिव का अखण्ड ताण्डव हुआ करता है जिसे निर्मल चित्त वाले तथा दिव्यचक्षु से युक्त मुनिजन सदा प्रत्यक्ष किया करते हैं। वहाँ से चलकर वे शिवगङ्गा नामक प्रसिद्ध तीर्थक्षेत्र में पहुँचे। यहाँ के शिवलिङ्ग का नाम दाक्षायणीनाथ है। पद्मपाद ने स्नानादि करके महादेव की पूजा की। अब पद्मपाद की इच्छा रामेश्वर-दर्शन की हुई। उन्होंने उधर जाने का मार्ग पकड़ा। रास्ते में उन्हें परम पवित्र कावेरी नदी मिली। मुनि ने यहाँ पर नदी में विधिवत् स्नान किया और आगे प्रस्थान किया।

---

[1] दक्षिण भारत का प्रसिद्ध शैव तीर्थ।

[2] काञ्ची तो अपनी स्थिति तथा पवित्रता के लिए सर्वत्र प्रसिद्ध है। यह मद्रास प्रान्त का प्रसिद्ध शैव-क्षेत्र है और सप्तपुरियों में से अन्यतम है। 'कल्लाल' आदि छोटे-मोटे स्थान इसी के पास थे। इस समय इनके वर्तमान नाम का पता नहीं चलता।

पद्मपाद के मामा इसी प्रदेश में निवास करते थे। वे स्वयं बड़े भारी पण्डित थे। उन्होंने अपने भानजे को अनेक शिष्यों के साथ आया हुआ देखकर बड़े आनन्द का अनुभव किया। पद्मपाद के इतने दिनों के बाद आने का समाचार बिजली की तरह चारों ओर फैल गया। गाँव के सब लोग इन्हें देखने के लिये दौड़े आये। पद्मपाद में भी कितना परिवर्तन हो गया था। गये तो थे ब्रह्मचारी बनकर काशी विद्याध्ययन करने और वहाँ से संन्यासी बनकर लौटे। लोगों के विस्मय का ठिकाना न रहा।

पद्मपाद ने गृहस्थ आश्रम की प्रशंसा कर उन्हें अपने धर्म का विधिवत् अनुष्ठान करने का आदेश दिया। गृहस्थाश्रम ही तो सब आश्रमों का मूल आश्रय है। प्रातः

गार्हस्थ्य धर्म की प्रशंसा

तथा सायंकाल अग्निहोत्र का अनुष्ठान करने वाला मृगचर्मधारी ब्रह्मचारी जब भूख से व्याकुल हो जाता है तब अपनी पूर्ति के लिये गृहस्थ के ही आश्रम में जाता है। इसी प्रकार उच्चस्वर से शास्त्र की व्याख्या करने वाले तथा प्रणव मन्त्र जपने वाले संयमी संन्यासी की उदर ज्वाला जब दोपहर के समय धधकने लगती है तो वह गृहस्थ के ही घर में तो भिक्षा के लिये जाता है। परोपकार ही गार्हस्थ धर्म का मूलमन्त्र है। विचार तो कीजिये, चारों पुरुषार्थों की सिद्धि शरीर के ऊपर अवलम्बित है।[१] शरीर यदि स्वस्थ्य है तो पुरुषार्थों का अर्जन भलीभाँति हो सकता है तथा यह शरीर अन्न के ऊपर अवलम्बित है। अन्न तो हमें गृहस्थों से ही प्राप्त होता है, इसीलिये संसार के जितने फल हैं वे गृहस्थ रूपी वृक्ष से प्राप्त होते हैं। अतः गृहस्थाश्रम में रहकर उसके धर्म को आप लोग भलीभाँति निबाहिये, यही मेरे उपदेश का सारांश है।

पद्मपाद अपने मामा के घर में टिके। उनके घर में भोजन किया। भोजन कर लेने पर मामा ने पूछा कि इस विद्यार्थी के हाथ में कौन-सी पुस्तक गुप्त रूप से रक्खी है। पद्मपाद ने कहा कि यह वही टीका है जिसे मैंने अपने गुरु शंकराचार्य के द्वारा रचित ब्रह्म-सूत्र भाष्य पर लिखी है। मामा ने उस ग्रन्थ का अवलोकन कर, अपने भानजे की विलक्षण बुद्धि देख एक ही साथ आनन्द और खेद का अनुभव किया। आनन्द हुआ प्रबन्ध लिखने की निपुणता को देखकर परन्तु खेद हुआ स्वाभिमत मीमांसा मत का खण्डन देख कर। अनेक प्रबल युक्तियों के सहारे पद्मपाद ने अपने अद्वैत मत का मण्डन और रक्षण किया था। इस कारण

---

[१]शरीरमूलं पुरुषार्थसाधनं तच्चान्नमूलं श्रुतितोऽवगम्यते।
तच्चान्नमस्माकममीषु संस्थितं सर्वं फलं गेहपतिद्रुमाश्रयम्॥
—शं० दि० १४।१०।

तो उन्हें महान् हर्ष हुआ परन्तु जब उन्होंने प्रभाकर मत का—जो उनका अपना खास मत था—खण्डन देखा तो उनके हृदय में डाह की आग जलने लगी। पद्मपाद को रामेश्वर की ओर जाना अभीष्ट था परन्तु वे अपने साथ इस ग्रन्थ को ले जाना नहीं चाहते थे। कौन जाने रास्ते में कुछ अनर्थ हो जाय, इसलिये उन्होंने अपना ग्रन्थ अपने मामा के यहाँ रख दिया और शिष्यों के साथ दक्षिणयात्रा लिये चल पड़े। अगस्त्य के आश्रम का दर्शन करते हुये वे सीधे सेतुबन्ध [1] में पहुँचे। वहाँ भगवान् शंकर—रामेश्वर—की विधिवत् पूजा की और कुछ दिनों तक वहाँ निवास किया।

पद्मपाद यात्रा के लिये गये अवश्य परन्तु उनका चित्त किसी अतर्कित विघ्न की आशंका से नितान्त चिन्तित रहता था। उधर उनके मामा के हृदय में विद्वेष की आग जल ही रही थी। अपने ही घर में अपने ही मत को तिरस्कृत करने वाली पुस्तक रखना उन्हें असह्य हो उठा। घर जलाना उन्हें मंजूर था परन्तु पुस्तक रखना सह्य न था। बस उन्होंने घर में आग लगा दी। आग की लपटें धू-धू करती हुई आकाश में उठने लगीं। देखते-देखते घर के जलने के साथ ही साथ पद्मपाद का यह ग्रन्थ-रत्न भी भस्मसात् हो गया। उधर पद्मपाद रामेश्वर से लौट कर आये और महान् अनर्थ की यह बात सुनी। मामा ने बनावटी सहानुभूति दिखलाते हुये ग्रन्थ के नष्ट हो जाने पर अत्यन्त खेद प्रकट किया। पद्मपाद ने उत्तर दिया कि कोई आपत्ति नहीं है। ग्रन्थ अवश्य नष्ट हो गया है परन्तु मेरी बुद्धि तो नष्ट नहीं है, फिर वह बना लेगी। सुनते हैं कि इस उत्तर को सुन कर मामा ने एक नयी सूझ निकाली। उनकी बुद्धि को विकृत करने के लिये उन्होंने भोजन में विष मिला कर उनको दे दिया जिससे पद्मपाद की फिर वैसा ही पाण्डित्यपूर्ण ग्रन्थ लिखने की योग्यता जाती रही। उन्होंने पुनः उस ग्रन्थ को लिखने का उद्योग किया परन्तु लिखने में नितान्त असमर्थ रहे। इस घटना से वे बड़े क्षुब्ध हुये और गुरु के दर्शन के लिये उन्होंने अब लौट जाना ही उचित समझा। मतविद्वेष के कारण मामा के द्वारा ऐसा अनर्थ कर बैठना एक अनहोनी तथा अचरजभरी घटना थी। पद्मपाद की यह वृत्ति उनके मामा की विद्वेषाग्नि में जल भुन कर राख हो गयी।

पद्मपादिका का जलाया जाना

शंकर की केरल यात्रा

शंकर ने शृङ्गेरी में शारदा की पूजा-अर्चा का भार अपने पट्ट शिष्य आचार्य सुरेश्वर के ऊपर छोड़कर अपने देश (जन्मभूमि) केरल में जाने का निश्चय

[1] रामेश्वरम्—भारत के सुदूर दक्षिण में समुद्र के किनारे प्रसिद्ध शैव-तीर्थ।

किया। उनके हृदय में अपनी वृद्धा माता के दर्शन की लालसा उत्कट हो उठी। उन्होंने अकेले ही केरल जाना निश्चित किया। जब वे अपनी जन्मभूमि कालटी की ओर अपना पैर बढ़ाये जा रहे थे तब कितनी ही प्राचीन बातों की मधुर स्मृतियाँ उनके हृदय में जाग रही थीं। उन्हें अपना बालकपन स्मरण हो रहा था। माता की ममता मूर्तिमती बन कर उनके नेत्रों के सामने झूलने लगी। उनके हृदय में उनकी सब से अधिक चिन्ता थी जिसने लोक के उपकार के निमित्त अपने स्वार्थ को तिलाञ्जलि दी थी। जगत् के मंगल के लिये उन्होंने अपने एकलौते बेटे को संन्यास लेने की अनुमति दी थी। इतना विचार करते ही उनका हृदय भक्ति से गद्-गद् हो गया। उनका चित्त लालायित हो रहा था कि कब अपनी वृद्धा माता का दर्शन कर अपने को कृतकृत्य बनाऊँगा। शंकर आठ वर्ष की उम्र में इसी रास्ते से होकर आये थे, आज उसी रास्ते से लौट रहे थे। अन्तर इतना ही था कि उस समय वे गुरु की खोज में निकले थे और आज वे अद्वैत-वेदान्त के उद्भट प्रचारक, मर्मज्ञ, व्याख्याता तथा शिष्यों के गुरु बन कर लौट रहे थे।

इस प्रकार सोचते हुये वे अपने जन्म-स्थान कालटी में पहुँचे। वहाँ पहुँच कर उन्होंने अपनी माता को रोगशय्या पर देखा। इतने दिनों के बाद अपने पुत्र को देखकर माता का हृदय खिल उठा, विशेषत: ऐसे अवसर पर जब वह अपने जीवन की घड़ियाँ गिन रही थी। शंकर ने अन्तिम समय पर माता के पास आने की अपनी प्रतिज्ञा को खूब निभाया, माता ने प्रसन्न होकर कहा कि बेटा! मैं बड़ी भाग्यवती हूँ कि ऐसे अवसर पर तुम्हें कुशल और प्रसन्न चित्त देख रही हूँ। अब मुझे अधिक क्या चाहिये? बुढ़ापे के कारण जीर्ण-शीर्ण इस शरीर को ढोने की क्षमता अब मुझ में नहीं है। मै चाहती हूँ कि तुम मुझे ऐसा उपदेश दो कि मैं इस भवसागर से पार हो जाऊँ। शंकर ने उन्हें निर्गुण ब्रह्म का उपदेश दिया और माता ने स्पष्ट शब्दों में कहा कि इस निर्गुण तत्त्व को मेरी कोमल बुद्धि ग्रहण नहीं कर रही है। अतः तुम सुन्दर सगुण ईश्वर का मुझे उपदेश दो। तब शंकर ने भुजङ्गप्रयात छन्द में अष्टमूर्ति शंकर की स्तुति की। शिव के दूत हाथों में डमरू और त्रिशूल लेकर झट से उपस्थित हो गये। उन्हें देख कर उनकी माता डर गयीं तथा उनके साथ जाने में अपनी अनिच्छा प्रकट की। तब आचार्य ने विनयपूर्वक इन दूतों को लौटाया और सौम्य रूप भगवान् विष्णु की स्तुति की। माता को यह रूप बहुत पसन्द आया। मरण-काल उपस्थित होने पर माता ने पुत्र द्वारा वर्णित कमलनयन भगवान् कृष्ण का ध्यान किया और इस प्रकार हृदय में चिन्तन करते हुये उस भाग्यवती माता ने योगियों के समान अपने शरीर को छोड़ा।

माता : मृत्यु-शय्या पर

अब शंकर के सामने यह बहुत बड़ी समस्या थी कि माता की अन्त्येष्टि क्रिया किस प्रकार की जाय। इस कार्य के लिये उन्होंने अपने बन्धु-बान्धवों को भी बुलाया। संन्यास ग्रहण करने के पहिले ही शंकर ने अपनी माता का दाह-संस्कार अपने ही हाथों करने की प्रतिज्ञा की थी। तदनुसार वे स्वयं इस कार्य के लिये तैयार हो गये। उनके दायादों की हठधर्मिता क्या कही जाय? एक तो वे पहिले ही से उनकी कीर्ति-कथा सुनकर उद्विग्न थे। दूसरे संन्यासी के द्वारा दाह-संस्कार करने की बात उन्हें शास्त्र से विरुद्ध ज्ञात हुई। अतः उन लोगों ने सहायता देने से मुँह मोड़ लिया। तब शंकर ने अकेले ही अपनी माता का दाह-संस्कार करने का दृढ़ निश्चय किया। वे अपने माता के शव को उठा कर घर के दरवाजे पर ले गये और आग्रह करने पर भी उनके दायादों ने उनकी माता को जलाने के लिये आग तक न दी। तब उन्होंने घर के समीप ही सूखी हुई लकड़ियाँ बटोरी। कहा जाता है कि उन्होंने अपनी माता की दाहिनी भुजा का मन्थन कर स्वयं आग निकाली और उसी से उनका दाह-संस्कार किया।[1] अपने दायादों के इस हृदयहीन बर्ताव पर उन्हें बड़ा क्रोध आया। उन्होंने उन ब्राह्मणों को शाप दिया कि तुम्हारे घर के पास ही आज से श्मशान बना रहेगा। हुआ भी वही जो आचार्य ने कहा था। आज भी मालावार प्रान्त के ब्राह्मण अपने घर के द्वार पर ही अपना मुर्दा जलाते हैं।

माता का दाह-संस्कार

शंकर की यह मातृभक्ति नितान्त श्लाघनीय है। यह उनके चरित्र का बड़ा ही माधुर्यमय अंग है। माता को छोड़ कर शंकर का कोई भी सगा सम्बन्धी न था। माता की अनुकम्पा से ही उन्हें अपने जीवन के उद्देश्य की प्राप्ति हुई थी। ऐसी माता की अनुपम ममता का भला वे अनादर कैसे कर सकते थे? इसीलिये संन्यास धर्म के आपाततः विरुद्ध होने पर भी तथा दायादों के तिरस्कार को सहने पर भी शंकर ने वह कार्य कर दिखलाया जो उनके चरित्र में सदा चिरस्मरणीय रहेगा।

'पञ्चपादिका' के जलाये जाने पर पद्मपाद अत्यन्त दुःखित हुये, इसकी चर्चा पहिले की जा चुकी है। अब वे गुरु के दर्शन करने के लिये उद्विग्न हो उठे। उनको पहिले यह समाचार मिल चुका था कि आचार्य आजकल शृङ्गेरी छोड़ कर केरल देश में विराजमान हैं। अतः वे अपने सहपाठियों के साथ उनके दर्शन के निमित्त केरल देश में आये। गुरु के सामने शिष्यों ने मस्तक झुकाया।

पञ्चपादिका का उद्धार

१—संचित्य काष्ठानि सुशुष्कवन्ति, गृहोपकण्ठे धृततोयपात्रः।
सदक्षिणे दोष्णि ममन्थ वह्निं, ददाह तां तेन च संयितात्मा॥
—माधव : शं० दि० १४।४८

पद्मपाद को चिन्तित देखकर आचार्य ने इसका कारण पूछा। तब उन्होंने अपनी तीर्थ यात्रा की विचित्र कहानी कह सुनायी :—

भगवन्! जब मैं भगवान् रंगनाथ का दर्शन कर रास्ते में लौट रहा था तब मुझे मेरे पूर्वाश्रम के मामा मिले और मुझे बड़े अनुनय-विनय के साथ अपने घर ले गये। वे थे तो भेदवादी मीमांसक, परन्तु मैंने पूर्व वासना के अनुरोध से, उनके भेदवादी होने पर भी, अपनी भाष्य-वृत्ति उन्हें पढ़ सुनाई। जहाँ कहीं उन्होंने शङ्का की वहाँ मैंने उचित उत्तर देकर पूर्ण समाधान किया। मैंने आपकी सूक्तियों को अपना कवच बना कर अपने मातुल को शास्त्रार्थ में परास्त कर दिया। इस पराजय से उनका हृदय छिपे-छिपे जल रहा था। परन्तु मुझे इसकी कुछ भी खबर न थी। उनके घर पर मैंने अपनी भाष्य-टीका रख दी और बिना किसी शंका के तीर्थाटन के लिये चल पड़ा। जब मैं वहाँ से लौट कर आता हूँ तो क्या देखता हूँ कि वर्षों का मेरा परिश्रम मामा की कृपा से जल कर स्वाहा हो गया है। मुझमें अब वह सामर्थ्य न रहा जिससे मैं वृत्ति लिख सकूँ। इसी विषम स्थिति ने मुझे इतना चिन्तित बना रक्खा है।

शंकर ने यह वृत्तान्त सुनकर बड़ी सहानुभूति प्रकट की और अपने प्रिय शिष्य को यह कह कर सान्त्वना प्रदान किया कि पहिले तुमने शृङ्गेरी पर्वत के ऊपर 'पञ्चपादिका' को बड़े प्रेम से पढ़कर सुनाया था। वह मेरे चित्त में इतनी जम गई है कि हटती नहीं। तुम अपने शोक को दूर करो और आओ इसे लिख डालो। गुरु के इन सान्त्वनापूर्ण वचनों को सुनकर पद्मपाद का चित्त आश्वस्त हुआ। शंकर ने इस ग्रन्थ को ठीक आनुपूर्वी रूप से कह सुनाया और उन्होंने गुरुमुख से निकले हुये अपने ग्रन्थ को फिर से लिख डाला। बस पद्मपाद की वृत्ति का इतना ही अंश शेष है। आचार्य की अलौकिक स्मरणशक्ति देख कर शिष्य-मण्डली आश्चर्य-चकित हो गयी। क्यों न हो? अलौकिक पुरुषों की सभी बातें अलौकिक हुआ करती हैं।

शंकराचार्य को केरल देश में आया हुआ सुनकर केरल नरेश राजा राजशेखर उनसे भेंट करने के लिए आए। इसी राजा ने शंकर की अलौकिक विद्वत्ता तथा लोकोत्तर प्रतिभा को उनके बाल्यकाल में देखकर उस समय भी आदर प्रदर्शन किया था। यह राजा संस्कृत-काव्य का बड़ा प्रेमी था और स्वयं भी इसने तीन नाटकों की संस्कृत में रचना की थी। जब वह इस बार शंकर से भेंट करने के लिये आया तो उससे शंकर ने उन नाटकों के विषय में पूछा कि वे सर्वत्र प्रसिद्ध तो हो रहे हैं? परन्तु राजा ने शोकभरे शब्दों में अपनी असावधानी से उनके जल जाने की बात कही। बाल्यकाल में आचार्य ने इन नाटकों को राजा के मुख से

राजा राजशेखर से भेंट

सुन रक्खा था। तभी से ये तीनों नाटक उन्हें कण्ठाग्र थे। राजा की इच्छा जान कर उन्होंने इन तीनों ग्रन्थों को फिर से उन्हें लिखवा दिया।[1] इन दोनों घटनाओं से आचार्य की अपूर्व मेधाशक्ति का अश्रुतपूर्व दृष्टान्त पाकर शिष्य-मण्डली कृतार्थ हो गयी। राजा ने प्रसन्न होकर कहा कि भगवन् मैं आपका दास हूँ। कहिये मेरे लिये आपकी क्या आज्ञा होती है? तब शंकर ने उनसे कहा कि हे राजन्! कालटी ग्राम के ब्राह्मणों को मैंने ब्राह्मण कर्म का अनधिकारी होने का शाप दिया है। आप भी उनके साथ ऐसा ही वर्ताव कीजियेगा। राजा ने इस बात को स्वीकार कर लिया।

इस प्रकार आचार्य ने केरल की यात्रा समाप्त की और अपनी शिष्य-मण्डली के साथ शृङ्गेरी लौट आये।
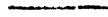
१—राजा राजशेखर के तीनों नाटक कौन से हैं, पता नहीं चलता। केरल के विद्वान् बाल-रामायण, बालभारत, कर्पूरमञ्जरी को ही वे तीन नाटक मानते हैं जिनका शङ्कर ने उद्धार किया था। उनकी दृष्टि में कवि राजशेखर ही केरल के राजा राजशेखर हैं, परन्तु यह बात एकदम असंगत है। कवि राजशेखर ने 'चाहमानकुलमौलिमालिका' क्षत्रियाणी अवन्तिसुन्दरी से अवश्य विवाह किया था, पर वे थे यायावर ब्राह्मण। घर उनका विदर्भ में था और कर्म क्षेत्र था इस प्रान्त का कान्यकुब्ज नगर। इसीसे वे विशेष कान्यकुब्ज के पक्षपाती हैं। द्रष्टव्य नागरी प्रचारिणी पत्रिका, भाग ६, पृ० १९०-२०६

द्वादश परिच्छेद

दिग्विजय यात्रा

शृङ्गेरी में मठ की स्थापना करना तथा शिष्यों के द्वारा वेदान्त ग्रन्थ की रचना करवाना आचार्य शङ्कर का आरम्भिक काल था। अब उनके सामने भारतवर्ष में सर्वत्र अद्वैत मत के प्रचार करने का अवसर आया। अब तक उनके अन्तेवासी ही उनके उपदेशामृतों का पान करते थे। अब आचार्य ने चारों ओर जनता के सामने अपने उपदेशामृत की वर्षा करने का संकल्प किया। अपने शिष्यों के साथ उन्होंने भारत के प्रसिद्ध तीर्थों में भ्रमण किया। जो तीर्थ पहले वैदिक धर्म के पीठस्थल थे, अद्वैतपरक वेदान्त के मुख्य दुर्ग थे, वे ही आज तामस तान्त्रिक पूजा तथा अन्य अवैदिक मतों के अड्डे बन गए थे। आचार्य ने इन मत वालों का यथार्थ खण्डन किया और सर्वत्र अद्वैत-वेदान्त की वैजयन्ती फहराई।

आचार्य शङ्कर के साथ उनके भक्त शिष्यों की एक वृहत् मण्डली थी। साथ ही साथ वैदिक धर्म के परम हितैषी राजा सुधन्वा भी आकस्मिक आपत्तियों से बचाने के लिए इस मण्डली के साथ थे। इस प्रकार यह मण्डली भारतवर्ष के प्रधान तीर्थ तथा धर्म-क्षेत्रों में जाती, विरोधियों की युक्तियों को आचार्य खण्डन करते और उन्हें अपने अद्वैत मत में दीक्षित करते। आचार्य शङ्कर का यह तीर्थ-भ्रमण 'दिग्विजय' के नाम से प्रख्यात है। शङ्कर के चरितग्रन्थों में इसी का विशेष रूप से वर्णन रहता था। इसीलिए वे 'शङ्कर दिग्विजय' के नाम से प्रख्यात होते आये हैं। प्रत्येक चरितग्रन्थ में इस दिग्विजय का विस्तृत वर्णन उपलब्ध होता है, परन्तु इन वर्णनों में परस्पर भिन्नता भी खूब है। चरितग्रन्थों की समीक्षा से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि दिग्विजय की प्रधानतया दो शैलियाँ हैं। एक चिद्विलास के 'शंकर-विजय-विलास', अनन्तानन्द गिरि के 'शङ्कर विजय' तथा धनपतिसूरि की टीका में उद्धृत आनन्दगिरि (?) के 'शङ्कर विजय' में स्वीकृत है तथा दूसरी शैली माधव के 'शङ्कर-दिग्विजय' में मान्य हुई है। दोनों में शङ्कर के द्वारा विहित इस दिग्विजय का क्रम भी भिन्न है तथा स्थानों में भी पर्याप्त भिन्नता है। माधव के वर्णन की अपेक्षा आनन्दगिरि का वर्णन विस्तृत है, परन्तु अनन्तानन्द गिरि के वर्णन का भौगोलिक मूल्य बहुत ही कम है। एक उदाहरण ही पर्याप्त है। आचार्य शङ्कर ने केदारलिंग के दर्शन के अनन्तर बदरीनारायण का दर्शन किया, परन्तु इस ग्रन्थकार का कहना है—"अमरलिंगं केदार-लिंगं दृष्ट्वा कुरुक्षेत्रमार्गात् बदरीनारायणदर्शनं कृत्वा ...उवाच" अर्थात् अमर-

लिङ्ग केदारलिङ्ग का दर्शन कर शंकर ने कुरुक्षेत्र के मार्ग से बदरीनारायण का दर्शन किया। बात बिल्कुल समझ में नहीं आती कि केदारनाथ के दर्शन के अनन्तर बदरीनाथ का दर्शन ही उचित क्रम है, पर इसे सिद्ध करने के लिए कुरुक्षेत्र जाने की क्या आवश्यकता ? यह तो अप्राकृतिक है तथा द्राविड प्राणायम के समान है। इसी प्रकार की अनेक बातें मिलती हैं जिससे शंकर के दिग्विजय का क्रम ठीक-ठीक नहीं जमता। इसलिए हमें बाध्य होकर दिग्विजय के स्थानों का वर्णक्रम से वर्णन करना उचित प्रतीत होता है। जिन स्थानों का वर्णन सब ग्रन्थों में मिलता है उनकी सत्यता हमें माननी ही पड़ती है। ऐसे स्थानों के सामने ॐ चिह्न लगा दिया गया है।

स्थानों का वर्णक्रम से वर्णन

अनन्तशयन[1] (चिद्[2]०, आ०)—इस स्थान पर आचार्य ने एक मास तक निवास किया था। यह वैष्णवमत का प्रधान केन्द्र था। यहाँ वैष्णवों के ६ सम्प्रदाय रहते थे—भक्त, भागवत, वैष्णव, पाञ्चरात्र, वैखानस तथा कर्महीन। शंकर के द्वारा पूछे जाने पर इन्होंने अपना मत इस प्रकार प्रतिपादित किया—वासुदेव परमेश्वर तथा सर्वज्ञ हैं। वे ही भक्तों पर अनुकम्पा करने के लिए अवतार धारण करते हैं। उनकी उपासना के द्वारा ही मुक्ति प्राप्त होती है तथा उनका लोक प्राप्त होता है। कौण्डिन्य मुनि ने वासुदेव की उपासना कर यहीं मोक्ष प्राप्त किया था। उसी मार्ग का अनुसरण हम भी करते हैं। हम लोगों में दो विभाग हैं—कोई ज्ञानमार्गी हैं और कोई कर्ममार्गी हैं। दोनों के अनुसार मुक्ति सुलभ होती है। अनन्तर छहों सम्प्रदाय वालों ने अपने विशिष्ट सिद्धान्तों का सांगोपांग वर्णन किया। पाञ्चरात्र लोगों में पाँच वस्तुओं का ('पञ्चकालों' का) विशेष माहात्म्य है जिनके नाम हैं—(१) अभिगमन—कर्मणा मनसा वाचा जप-ध्यान-अर्चन के द्वारा भगवान् के प्रति अभिमुख होना; (२) उपादान—पूजानिमित्त फलपुष्पादि का संग्रह; (३) इज्या—पूजा (४) अध्याय—आगमग्रन्थों का श्रवण मनन और उपदेश; (५) योग—अष्टांग योग का अनुष्ठान। वैखानस मत में विष्णु की सर्वव्यापकता मानी जाती है। कर्महीन सम्प्रदाय गुरु को ही मोक्ष का दाता मानता है। गुरु भगवान् विष्णु से प्रार्थना करता है कि वे शिष्यों के क्लेशों को दूर कर उन्हें इस भवसागर से पार लगावें। आचार्य ने इनकी युक्तियों

---

[1]यह स्थान सुदूर दक्षिण के त्रिवेन्द्रम रियासत में तथा दक्षिणी समुद्र के तीर पर अवस्थित है। त्रिवेन्द्रम के महाराजा आज भी वैष्णव-धर्म के उपासक हैं। 'पद्मनाभ' का सुप्रसिद्ध मन्दिर भी यहाँ है।

[2]अध्याय २८ (चिद्० आन० पृ० ७—१०)

का सप्रमाण खण्डन किया—कर्म से मुक्ति नहीं होती; निष्काम बुद्धि से कर्मों का सम्पादन चित्त की शुद्धि करता है। तब अद्वैत ज्ञान से ही मुक्ति मिलती है। वैष्णवों ने इस मत को मान लिया।

अयोध्या (आ०)—इस स्थान पर भी आचार्य पधारे थे। इस स्थल की किसी विशिष्ट घटना का उल्लेख नहीं है।

अहोबल[1] (आ०)—भगवान् नरसिंह के आविर्भाव का यह परम पावन स्थल है। शृङ्गेरी में पीठ की स्थापना कर तथा सुरेश्वर को इसका अध्यक्ष बनाकर शंकराचार्य ने इस स्थान की यात्रा की थी। अतः यह दक्षिण भारत में ही कहीं होगा। इसके वर्तमान नाम का पता नहीं चलता। (प्रक० ६३)

इन्द्रप्रस्थपुर (आ०)—यह स्थान प्राचीन इन्द्रप्रस्थ (आधुनिक दिल्ली) ही प्रतीत होता है। शंकराचार्य के समय में यहाँ इन्द्र के महत्त्व का प्रतिपादन करने वाले धार्मिक सम्प्रदाय का बोलबाला था। आचार्य के साथ इन लोगों का संघर्ष हुआ था। पराजित होकर उन्होंने अद्वैत मत को अंगीकार कर लिया। (प्रक० ३३)

उज्जैनी※ यह स्थान आज भी धार्मिक, महत्त्व रखता है। यह मालवा प्रान्त का प्रधान नगर है। भारत की सप्तपुरियों में यह अन्यतम नगरी रही है। आचार्य के समय में यहाँ कापालिक मत का विशेष प्रचार था। यहाँ उन्होंने दो महीने तक निवास किया। आनन्द गिरि के कथनानुसार उन्मत्त भैरव नामक शूद्र-जाति का कापालिक यहीं रहता था। वह अपनी सिद्धि के सामने किसी को न तो उपासक ही मानता था, न पण्डित ही। उसे भी शंकर के हाथों पराजय मानना पड़ा। चार्वाक, जैन तथा नाना बौद्धमतानुयायियों को भी आचार्य ने यहाँ परास्त किया। माधव के कथनानुसार यहाँ भेदाभेदवादी भट्ट भास्कर निवास करते थे। शंकर ने पद्मपाद को भेजकर, भेंट करने के लिए उन्हें अपने पास बुलाया। वे आये अवश्य, परन्तु अद्वैत का प्रतिपादन सुनकर उनकी शास्त्रार्थ-लिप्सा जाग उठी। इन दोनों दार्शनिकों में तुमुल शास्त्रार्थ छिड़ गया—ऐसा आश्चर्यजनक शास्त्रार्थ, जिसमें भास्कर अपने पक्ष की पुष्टि में प्रबल युक्तियाँ देते थे और शङ्कर अपनी प्रखर बुद्धि से उनका खण्डन करते जाते थे। विपुल शास्त्रार्थ के अनन्तर भास्कर की प्रभा क्षीण पड़ी और उन्हें भी अद्वैतवाद को ही उपनिषत्-प्रतिपाद्य मानना पड़ा।[2] माधव का यह कथन इतिहासविरुद्ध होने से सर्वथा अग्राह्य है। भास्कर ने ब्रह्म-सूत्रों पर भेदाभेद के समर्थन में भाष्य लिखा है जिसमें शंकराचार्य

---

[1] चिद्विलास अ० ३०, आ० प्रक० २३, मा० सर्ग १५

[2] माधव—शंकरदिग्विजय, सर्ग १५, श्लोक ८०—१४०

के मत का भरपूर खण्डन है। रामानुज ने वेदार्थ संग्रह में, उदयनाचार्य ने न्याय-कुसुमाञ्जलि में तथा वाचस्पति मिश्र (८९८ वि०) ने भामती में इनके मत का उल्लेख पुरःसर खण्डन किया है। अतः इनका समय शंकर तथा वाचस्पति के मध्यकाल में होना चाहिए। ये शंकर के समकालीन थे ही नहीं। अतः शंकर के साथ इनके शास्त्रार्थ करने की माधवी कल्पना बिल्कुल अनैतिहासिक अथ च उपेक्षणीय है। आचार्य के प्रति समधिक आदर की भावना से प्रेरित होकर ग्रन्थकार ने भास्कर के ऊपर शंकर के विजय की बात कल्पित की है।

कर्नाटक (मा०)—माधव के कथनानुसार कर्नाटक देश कापालिक मत का प्रधान पीठ था। कापालिक लोगों की हथियारबन्द सेना थी जो सरदार क्रकच की आधीनता में वैदिक धर्मावलम्बियों पर आक्रमण किया करती थी। क्रकच का रूप बड़ा ही भयङ्कर था—श्मशान का भस्म उसके शरीर पर मला रहता, एक हाथ में मनुष्य की खोपड़ी और दूसरे हाथ में त्रिशूल चमकता था; वह भैरव का बड़ा ही उग्र उपासक था। शङ्कराचार्य के शिष्यों से लड़ने के लिए उसने अपनी शिक्षित तथा रणोन्मत्त सेना भेजी। यदि राजा सुधन्वा अपने अस्त्र-शस्त्रों से इसे मार नहीं भगाते, तो वह शङ्कर के शिष्यों का काम ही तमाम कर डालती। पर वीर राजा के संग का फल खूब ही फला। मदमत्त कापालिक तलवार, तोमर तथा पट्टिश से ब्राह्मणों पर टूट पड़े, पर सुधन्वा ने अपने बाणों से उनका संहार कर शङ्कराचार्य के शिष्यों की खूब ही रक्षा की। क्रकच इस पराजय से नितान्त क्षुब्ध हुआ और उसने सहायतार्थ स्वयं भगवान् भैरव का ही आह्वान किया। सुनते हैं भैरव प्रकट हुए और अपने परमभक्त क्रकच को बड़ा ही डाँटा कि वह उनके ही अवतार शंकराचार्य से इतना घोर विरोध किये हुए था। फलतः क्रकच का सर्वनाश हो गया। आचार्य की विजय हुई।[1]

काञ्ची*[2]—काञ्ची हमारी सप्तपुरियों में अन्यतम है। मद्रास के पास आज भी यह अपनी धार्मिक प्रतिष्ठा बनाए हुए है। इसके दो भाग हैं—शिव-काञ्ची तथा विष्णुकाञ्ची। माधव का कथन है[3] कि आचार्य ने यहाँ पर विद्या के अभ्यास के निमित्त एक विचित्र मन्दिर बनवाया और वहाँ से तान्त्रिकों को दूर भगा कर भगवती कामाक्षी की श्रुति-प्रतिपादित पूजा की प्रतिष्ठा की। आनन्द गिरि ने तो

---

[1]माधव—शं० दि०, सर्ग १५, श्लो० १०—२८

[2]आ० ६६—६५ प्र०, मा०, सर्ग १६

[3]सुरधाम च तत्र कारयित्वा परविद्याः चरणानुसारि चित्रम्।
अपवार्य च तान्त्रिकानतानीद्भगवत्याः श्रुतिसम्मता सपर्याम्॥
—माधव : शं० दि०, १५।५

शङ्कर का काञ्ची के साथ बड़ा घनिष्ठ सम्बन्ध बतलाया है[1]। यहीं रह कर आचार्य ने शिवकाञ्ची तथा विष्णुकाञ्ची—दोनों भागों का निर्माण किया तथा भगवती कामाक्षी की प्रतिष्ठा की। कामाक्षी वायुरूपिणी ब्रह्मविद्यात्मक रुद्रशक्ति हैं। ये गुहावासिनी ही थीं। आचार्य ने अपनी शक्ति से इन्हें व्यक्त रूप दिया तथा इनकी विशिष्ट प्रतिष्ठा की। श्रीचक्र की भी प्रतिष्ठा इस नगरी में शङ्कर ने की। कामकोटि-पीठ के अनुसार शङ्कर ने अन्त में यहीं निवास किया था। उन्होंने देवी की उग्रकला को अपनी अलौकिक शक्ति से शान्त कर उसे मृदु तथा मधुर बना दिया।[2] कामाक्षी के मन्दिर में श्रीचक्र की स्थापना तथा कामकोटि-पीठ की प्रतिष्ठा उसी समय आचार्य ने की। काञ्ची के राजा का नाम राजसेन था, जिसने आचार्य की अनुमति से अनेक मन्दिर तथा देवालय बनाया। शङ्कर ने कामाक्षी के मन्दिर के बिल्कुल मध्य-स्थान (विन्दु-स्थान) में स्थित मान कर 'श्रीचक्र' के आदर्श पर काञ्ची को फिर से बसाया। इन तीनों विभिन्न ग्रन्थों की सहायता से स्पष्ट प्रतीत होता है कि शङ्कराचार्य ने काञ्ची में कामाक्षी के मन्दिर तथा श्रीचक्र की स्थापना की थी। काञ्ची का वर्तमान धार्मिक वैभव शङ्कर के ही प्रयत्नों का फल है।[3]

कामरूप (मा०)—यह स्थान आसाम प्रान्त का मुख्य नगर है जहाँ कामाख्या का मन्दिर तान्त्रिक पूजा का महान् केन्द्र है। शङ्कर ने इस स्थान की भी यात्रा की। यहाँ माधव ने उन्हें अभिनवगुप्त के पराजित करने की बात लिखी है, परन्तु यह घटना ऐतिहासिक नहीं प्रतीत होती। अभिनवगुप्त काश्मीर के निवासी थे। वे प्रत्यभिज्ञा-दर्शन के नितान्त प्रौढ़ तथा माननीय आचार्य हैं। वे साहित्य-शास्त्र के भी महारथी हैं। 'अभिनव-भारती' तथा 'लोचन' ने इनका नाम साहित्य-जगत् में जिस प्रकार अमर कर दिया है, उसी प्रकार ईश्वर प्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी, तन्त्रालोक, परमार्थसार, मालिनीविजयवार्तिक तथा परात्रिंशिका विवृति ने त्रिक (शैव) दर्शन के इतिहास में इन्हें चिरस्मरणीय बना दिया है। ये अलौकिक सिद्ध पुरुष थे। ये अर्ध 'त्र्यम्बक' मत के प्रधान आचार्य शम्भुनाथ के शिष्य और मत्स्येन्द्रनाथ सम्प्रदाय के एक सिद्ध कौल थे। इनका समय अनेक प्रमाणों से

[1] आनन्दगिरि—शं० दि० (६३—६५ प्रकरण)

[2] प्रकृतिं च गुहाश्रयां मनोज्ञां स्वकृते चक्रवरे प्रवेश्य योगे।
अकृताश्रितसौम्यमूर्तिमार्यां सुकृतं नः स चिनोतु शङ्कराचार्यः॥

—गुरुरत्न मालिका

[3] चिद्विलास—शं० वि० वि०, २५ वाँ अध्याय; आनन्दगिरि—शं० वि०, ६३ प्रकरण

११वें शतक का उत्तरार्ध है—ठीक शङ्कर के समय से तीन सौ वर्ष बाद। इन्हें ब्रह्मसूत्रों पर शक्तिभाष्य का लेखक भी कहा गया है[१], परन्तु यह कथन भी ठीक नहीं। ब्रह्मसूत्रों के ऊपर किसी भी प्राचीन पण्डित का 'शक्तिभाष्य' उपलब्ध नहीं होता। अतः ११वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में विद्यमान काश्मीरक शैव दार्शनिक अभिनवगुप्त के साथ अष्टम शतक में विद्यमान शङ्कराचार्य के शास्त्रार्थ की कल्पना नितान्त अनैतिहासिक है। दार्शनिक जगत् में अभिनव की कीर्ति बहुत बड़ी है। अतः शङ्कर की महत्ता दिखलाने के लिए ही इस शास्त्रार्थ की घटना कल्पित की गई है।

*काशी—इस पुण्यमयी विश्वनाथपुरी के साथ शङ्कराचार्य का बड़ा ही घनिष्ठ सम्बन्ध है। आचार्य को अपने लक्ष्य की सिद्धि में काशीवास से बहुत ही लाभ हुआ, इसे हम निःसंकोच भाव से कह सकते हैं। माधव के कथनानुसार भगवान् विश्वनाथ की स्पष्ट आज्ञा से शङ्कर ने ब्रह्मसूत्रों पर भाष्य लिखने का संकल्प किया जिसे उन्होंने 'उत्तर काशी' में जाकर पूरा किया। आनन्दगिरि तो काशी को ही भाष्यों के प्रणयन का स्थान बतलाते हैं। यहीं रहते समय वेदव्यास से शङ्कराचार्य का साक्षात्कार हुआ था। यहीं आचार्य ने कर्म, चन्द्र, ग्रह, क्षपणक, पितृ, गरुड, शेष, सिद्ध—आदि नाना मतों के सिद्धान्तों का खण्डन कर वैदिक मार्ग की प्रतिष्ठा की थी। काशी में मणिकर्णिका घाट के ऊपर ही आचार्य का निवास था, इस विषय में दिग्विजयों में दो मत नहीं हैं।

कुरु (मा० चिद्०)—कुरुदेश प्रसिद्ध ही है। इसकी प्रधान नगरी इन्द्रप्रस्थ का नाम पहले आ चुका है। यहाँ किसी विशेष घटना का उल्लेख नहीं मिलता—(चिद्० ३१ सर्ग, मा० १६ सर्ग)।

केदार (आ०)—उत्तराखण्ड का यह सुप्रसिद्ध तीर्थ है। इसकी प्रसिद्धि बहुत ही प्राचीन काल से है। पुराणों में यह तीर्थ बड़ा ही पवित्र तथा महत्त्वशाली माना गया है—(आ० ५५ प्रक०)।

गणवर (आ०)—यह नगर दक्षिण भारत में था। यह गणपति की पूजा का प्रधान केन्द्र था। यहाँ शङ्कर ने बहुत दिनों तक अपने शिष्यों के साथ निवास किया। यहाँ गणपति के उपासकों के ये विभिन्न सम्प्रदाय थे—महागणपति,

---

[१] तदनन्तरमेष कामरूपानधिगत्याभिनवोपशब्दगुप्तम्।
अजयत् किल शाक्तभाष्यकारं सच भग्नो मनसेदमालुलोचे।
—माधव : शं० दि० १५।१५८

हरिद्रा गणपति, उच्छिष्ट गणपति, नवनीत, स्वर्ण तथा सन्तान गणपति के पूजक, जिन्हें शङ्कर ने परास्त कर अद्वैतमत में दीक्षित किया था।[1]

गया (आ०)—यह विहार प्रान्त का सुप्रसिद्ध तीर्थ है जहाँ श्राद्ध करने से प्रेतात्मायें मुक्ति लाभ करती हैं—(मा० प्रक० ५५)।

गोकर्ण (चिद्०, मा०)—यह बम्बई प्रान्त का प्रसिद्ध शिवक्षेत्र है। गोवा से लगभग ३० मील पर यह नगर समुद्र के किनारे स्थित है। यहाँ के शिव का नाम 'महाबलेश्वर' है जिनके दर्शन के लिए शिवरात्रि के समय बड़ा उत्सव होता है। कुबेर के समान सम्पत्ति पाने की इच्छा से रावण ने अपनी माता कैकसी की प्रेरणा से यहीं घोर तपस्या की थी तथा अपना मनोरथ सिद्ध किया था।[2] महाभारत काल में भी यह मान्य तीर्थक्षेत्र था। यहाँ अर्जुन ने तीर्थयात्रा की थी। कालिदास ने भी गोकर्णेश्वर को वीणा बजाकर प्रसन्न करने के लिए नारद जी का आकाशमार्ग से जाने का उल्लेख किया है[3]—(मा०, सर्ग, १२, चिद्०, २९ प्रक०)।

चिदम्बर (चिद्०, आ०)—यह दक्षिणभारत का प्रधान शैव-तीर्थ है। महादेव की आकाशमूर्ति यहीं विद्यमान है। यहाँ का विशालकाय शिवमन्दिर दक्षिणी स्थापत्यकला का उत्कृष्ट उदाहरण है। नटराज की अभिराम मूर्ति आरम्भ में यहीं मिली थी। इस मन्दिर की एक विशिष्टता यह भी है कि इसके ऊपर नाट्य-शास्त्र में वर्णित हस्तविक्षेप के चित्र हैं। इन चित्रों के परिचय में नाट्यशास्त्र के तत्तत् श्लोक उट्टंकित किये गये हैं। आनन्दगिरि की सम्मति में शङ्कर का जन्म यहीं हुआ था, परन्तु यह मत ठीक नहीं। इसका खण्डन हमने चरित के प्रसङ्ग में कर दिया है—(चिद्० २६, अध० आन०, २ प्रक०)।

जगन्नाथ—सप्तपुरियों में यह अन्यतम पुरी है। उड़ीसा देश में समुद्र तट पर इसकी स्थिति है। यह 'पुरी' के ही नाम से विख्यात है। यहीं कृष्ण, बलराम और सुभद्रा की काष्ठमयी प्रतिमाएँ हैं। हमारे चार धामों में यह भी प्रधान धाम है। शङ्कराचार्य ने यहाँ पर अपना 'गोवर्धन पीठ' स्थापित किया—(चिद्० अध० ३०, आ०, ५५ प्रकरण)।

---

[1] द्रष्टव्य—आनन्दगिरि शं० वि० (१४—१८ प्रकरण)

[2] आगच्छत् स सिद्धयर्थं गोकर्णस्याश्रमं शुभम्।

—वाल्मीकि, उत्तर ९। ४६

[3] अथ रोधसि दक्षिणोदधेः श्रितगोकर्णनिकेतमीश्वरम्।
उपवीणयितुं ययौ रवेरुदगावृत्तिपथेन नारदः॥—रघु० ८। ३३

द्वारिका—भारत के पश्चिमी समुद्र के तीर पर द्वारिकापुरी विराजमान है। यहाँ आचार्य ने अपना पीठ स्थापित किया जो शारदापीठ के नाम से विख्यात है। माधव ने यहाँ पाञ्चरात्र मतानुयायी वैष्णवों की स्थिति बतलाई है—(चिद्० ३१; अ० आन०, प्र० ५५; मा०, सर्ग १५)।

नैमिश (मा०)—यह वही स्थान है जहाँ ऋषियों के प्रश्नों के उत्तर में सूत ने नाना प्रकार की पौराणिक कथाएँ कहीं। यह स्थान उत्तर प्रदेश में ही लखनऊ से उत्तर-पूर्व में सीतापुर जिले में है। आज भी यह तीर्थस्थल माना जाता है।

पण्ढरपुर—(चिद्०) इस स्थान पर पाण्डुरंग की प्रसिद्ध प्रतिमा है। महाराष्ट्र देश में यह सबसे अधिक विख्यात वैष्णव-क्षेत्र है। यहाँ का प्रसिद्ध मंत्र है—पुण्डरीक वरदे बिट्ठल। बिट्ठलनाथ कृष्ण के ही रूप हैं। शङ्कर ने पाण्डुरंग की स्तुति में एक स्तोत्र भी लिखा है।

प्रयाग—माधव ने त्रिवेणी के तट पर मीमांसक कुमारिल भट्ट के साथ शङ्कर के भेंट करने की बात लिखी है। इसका विस्तृत वर्णन पहले किया गया है। आनन्दगिरि ने वरुण, वायु आदि के उपासक, शून्यवादी, बराहमतानुयायी, लोक—गुण—सांख्य—योग तथा वैशेषिक मतवादियों के साथ शास्त्रार्थ करने की घटना का उल्लेख किया है।[1]

पांचाल (मा०)—शङ्कर के इस देश में जाने का सामान्य ही उल्लेख मिलता है। यह प्रान्त आधुनिक उत्तर प्रदेश में गंगा-यमुना के दोआब का उत्तरीय भाग है। महाभारत में इस देश की विशेष महिमा दीख पड़ती है। उस समय यहाँ के राजा द्रुपद थे जिनकी पुत्री द्रौपदी पाण्डवों की पत्नी थी।

बदरी—यह उत्तराखण्ड का प्रसिद्ध तीर्थ क्षेत्र है। इस स्थान से शङ्कराचार्य का विशेष सम्बन्ध है। यहाँ भगवान् के विग्रह की स्थापना तथा वर्तमान पद्धति से उनकी अर्चा का विधान आचार्य के ही द्वारा किया गया है। इस विषय का पर्याप्त विवेचन पीछे किया गया है। आनन्दगिरि के कथनानुसार शङ्कर ने यहाँ तप्तकुण्ड का पता लगाकर अपने शिष्यों के शीतजनित कष्ट का निवारण किया था।

बाह्लिक (मा०)—माधव ने आचार्य के यहाँ जाने का सामान्य रूप से उल्लेख किया है। यह स्थान भारतवर्ष की पश्चिमी-उत्तरी सीमा के बाहर था। बैक्ट्रिया के नाम से इसी देश की प्रसिद्धि इतिहास-ग्रन्थों में मिलती है।

भवानी नगर (आ०)—यह दक्षिण भारत का कोई शाक्त-पीठ प्रतीत होता है। वर्तमान समय में इसकी स्थिति का विशेष परिचय नहीं मिलता। आनन्द गिरि ने 'गणवरपुर' के अनन्तर आचार्य के यहाँ जाने का उल्लेख किया है। यहाँ

---

[1] आनन्दगिरि—शं० वि० (३५—४२ प्रकरण)

शक्ति की उपासना विशेष रूप से प्रचलित थी। इसके समीप ही कुवलयपुर नामक कोई ग्राम था, जहाँ लक्ष्मी के उपासकों की बहुलता थी। यहाँ रहते समय आचार्य ने शक्ति की तामस पूजा का विशेष रूप से खण्डन किया और इस मत के अनुयायियों को सात्त्विक पूजा की दीक्षा दी—(आ० प्रक० १६—२२)।

मथुरा (चिद्० मा०)—चिद्विलास का कहना है कि आचार्य अपने शिष्यों के साथ यहाँ आये थे। गोकुल तथा वृन्दावन में भी इन्होंने निवास किया था। हमने पहले ही लिखा है कि आचार्य के कुल-देवता भगवान श्रीकृष्णचन्द्र थे, अतः कृष्ण के चरणारविन्द से पवित्रित तीर्थ में आना तथा निवास करना सर्वथा समुचित है। शङ्कराचार्य को केवल शङ्करोपासक मानना नितान्त अनुचित है।[1]

मधुरा (चिद्०)—यह दक्षिण का प्रसिद्ध तीर्थक्षेत्र है जहाँ मीनाक्षी का प्रसिद्ध मन्दिर है। यहाँ सुवर्णपद्मिनी नामक नदी में स्नान कर शङ्कर ने मीनाक्षी तथा सुन्दरेश्वर का दर्शन किया।

मध्यार्जुन (आ० चिद्०)—यह स्थान तंजोर जिले में है जिसका वर्तमान नाम 'तीरू विद मरुदूर' है। इसके पूरब तरफ अग्नीश्वर नामक प्रसिद्ध स्थान है जिसे प्रसिद्ध शैवदार्शनिक हरदत्ताचार्य के जन्मस्थान होने का गौरव प्राप्त है। भविष्योत्तर पुराण में इस अग्नीश्वर क्षेत्र का माहात्म्य भी विशेष रूप से वर्णित है। उस अंश का ही नाम है 'अग्नीश्वर माहात्म्य'। इससे स्पष्ट है कि मध्यार्जुन प्राचीन काल से ही अपने धार्मिक माहात्म्य के कारण अत्यन्त प्रसिद्ध रहा है। यहाँ महादेव की मूर्ति है। यहाँ की एक विचित्र घटना का उल्लेख आनन्द गिरि ने किया है। शङ्कराचार्य ने विधिवत् पूजन के अनन्तर यहाँ के अधिष्ठातृ देवता महादेव से पूछा कि भगवन् द्वैत और अद्वैत इन उभय मार्गों में कौन सच्चा है? इस पर व्यक्तरूप धारण कर महादेव लिंग से प्रकट हुए और दाहिना हाथ उठाकर तीन बार जोर से कहा कि अद्वैत ही सत्य है। आचार्य तथा उपस्थित जनता को इस घटना से विस्मय तथा सन्तोष दोनों प्राप्त हुए—(चिद्—२६ अ०)

मरुन्धपुर (आ०)—इस नगर का उल्लेख आनन्दगिरि ने किया है जहाँ आचार्य मल्लपुर के अनन्तर पधारे थे। यह स्थान मल्लपुर से पश्चिम में था। यहाँ विष्वक्सेन मत तथा मन्मथ मत के खण्डन की बात लिखी हुई है—(आ० प्रक० ३०)।

---

[1] चिद्विलास, अध्याय ३१ :—

साधु वृन्दावनासक्तं बृन्दावनमुदैक्षत ॥७॥
ततोऽसौ मथुरां प्राप मथुरां नगरीं हरेः।
ततो गोकुलमापासौ तत्रैकं दिनमास्थितः ॥८॥

मल्लपुर (आ०)—यह भी कोई दक्षिण ही का स्थान प्रतीत होता है जहाँ 'मल्लारि' की पूजा विशेष रूप से होती थी—(आ०, प्रक० २६)।

मागधपुर (आ०)—इस स्थान की स्थिति का ठीक-ठीक पता नहीं चलता कि यह मगध का ही कोई नगर था या किसी अन्य प्रान्त का। आनन्दगिरि ने इसे 'मरुन्धपुर' के उत्तर में बतलाया है। यहाँ कुबेर तथा उनके सेवक यक्ष लोगों की उपासना होती थी—(अ० प्रक० ३२)।

*मायापुरी—इसका वर्तमान काल में प्रसिद्ध नाम हरद्वार है। इस स्थान से शङ्कराचार्य का विशेष सम्बन्ध रहा है। बदरीनाथ जाते समय शङ्कराचार्य इधर से ही गये थे। प्रसिद्धि है कि विष्णु की प्रतिमा को डाकुओं के डर से पुजारी लोगों ने गङ्गा के प्रवाह में डाल दिया था। शङ्कर ने इस प्रतिमा का उद्धार कर फिर इसकी प्रतिष्ठा की।

मृडपुरी (चिद्०)—यह भी दक्षिण का कोई तीर्थ है। वासुकि क्षेत्र से आचार्य शङ्कर के जाने का उल्लेख चिद्विलास में किया गया है। यहाँ पर बौद्धों के साथ शङ्कर का शास्त्रार्थ हुआ था—(चिद्०, अ० २६)।

यमप्रस्थपुर (आ०)—आनन्दगिरि ने इस स्थान को इन्द्रप्रस्थपुर से प्रयाग के मार्ग में बतलाया है। इन्द्रप्रस्थपुर तो वर्तमान दिल्ली के ही पास था। वहीं से पूरब प्रयाग जाते समय यह नगर मिला था। यम की पूजा होने के कारण ही इस नगर का यह नाम पड़ा था—(अ० प्रक० ३४)।

*रामेश्वर—यह नगर आज भी अपनी धार्मिक पवित्रता अक्षुण्ण बनाये हुए है। इसी स्थान पर भगवान् रामचन्द्र ने समुद्र बँधवाया था और उसी के उपलक्ष्य में यहाँ रामेश्वर नामक भगवान् शङ्कर की प्रतिष्ठा की थी। हमारे चार धामों में अन्यतम धाम यही है। यह सुदूर दक्षिण समुद्र के किनारे है। यहाँ का विशालकाय मन्दिर दाक्षिणात्य स्थापत्य-कला का उत्कृष्ट नमूना है, जिसका मण्डप एक सहस्र स्तम्भों से सुशोभित है। भगवान् का सुवर्ण का बना हुआ रथ अब भी बड़ी धूमधाम के साथ निकलता है। माधवाचार्य ने यहाँ शाक्त लोगों की प्रधानता बतलायी है।

वक्रतुण्डपुरी (चिद्०)—यह दक्षिण में प्राचीन तीर्थ-विशेष है। यहाँ की नदी का नाम गन्धवती है। यह गणपति की उपासना का प्रधान क्षेत्र है। यहाँ पर ढुंढराज और वीरविघ्नेश नामक आचार्यों के साथ जो पाश, अंकुश आदि के चिह्नों को अपने शरीर पर धारण किए हुए थे, आचार्य शङ्कर का शास्त्रार्थ हुआ—(चिद्—अ० २८)।

वासुकिक्षेत्र (चिद्०)—आचार्य ने यहाँ कुमारधारा नदी में स्नान कर स्वामी कार्तिकेय की विधिवत् अर्चना की। यह स्थान कार्तिकेय की उपासना का

प्रधान क्षेत्र था। इसके पास ही कुमार पर्वत है जिसकी प्रदक्षिणा आचार्य ने की। कुमार की पूजा करते हुए शङ्कर ने कुछ दिन यहाँ बिताये थे—(चिद्०, अ० २६)।

विज्जलबिन्दु (आ०)—इस स्थान का निर्देश आनन्दगिरि ने किया है और इसे हस्तिनापुर से दक्षिण-पूर्व बतलाया है। अतः वर्तमान उत्तर प्रदेश के पश्चिमी हिस्से में इसे कहीं होना चाहिये। यह उस समय का एक प्रख्यात विद्यापीठ प्रतीत होता है। आनन्दगिरि के अनुसार मण्डन मिश्र का यहीं निवासस्थान था। मण्डन बहुत ही धनाढ्य व्यक्ति थे। विद्यार्थियों के लिए उन्होंने स्थान और भोजन का विशेष प्रबन्ध कर रक्खा था। उनके नाम तथा प्रबन्ध से आकृष्ट होकर छात्रों का बड़ा जमाव लगता था—(आनन्दगिरि, प्रकरण ५१)।

विदर्भनगर (मा०)—यह नगर वर्तमान बरार है। माधवाचार्य ने यहाँ शङ्कर के जाने का उल्लेख किया है।

वेङ्कटाचल (मा० चिद्०)—यह दक्षिण का प्रसिद्ध वैष्णव तीर्थस्थल है जिसे साधारण लोग 'बाला जी' पुकारते हैं। यह आज-कल एक बड़ा भारी धनाढ्य संस्थान है, जहाँ अभी संस्कृत विद्यालय स्थापित किया गया है। यहाँ विष्णु की पूजा पाञ्चरात्र-विधि से न होकर वैखानस-विधि से की जाती है। वैष्णवों में वैखानस तंत्र विशेष महत्त्व रखता है। शङ्कर ने यहाँ वेङ्कटेश की पूजा बड़े प्रेम-भक्ति के साथ करके निवास किया था—(चिद्विलास अ० २६)।

वैकल्यगिरि (आ०)—आनन्दगिरि ने इस स्थान का निर्देश कांची के पास किया है—(प्रकरण ६३)।

रुद्रपुर (आ०)—यह स्थान श्रीपर्वत के पास कहीं दक्षिण में था। आचार्य जब श्रीपर्वत पर निवास करते थे तब इस नगर के ब्राह्मणों ने आकर के कुमारिल भट्ट के कार्यों की बात कही थी। उनकी सूचना पाकर आचार्य यहाँ गये और यहीं पर इन्होंने कुमारिल का साक्षात्कार किया। आनन्दगिरि का यह कथन (प्रकरण ५५, पृष्ठ १८०) अन्य किसी दिग्विजय के द्वारा पुष्ट नहीं होता। माधव ने तो स्पष्ट ही प्रयाग को शङ्कर और कुमारिल के भेंट होने का स्थान बतलाया है।

श्रीपर्वत—आजकल यह मद्रास प्रान्त के कर्नूल जिले का प्रसिद्ध देव-स्थान है। यहाँ का शिवमन्दिर बड़ा विशाल तथा भव्य है जिसकी लम्बाई ६६० फुट तथा चौड़ाई ५१० फुट है, जिसके दीवाल पर रामायण और महाभारत के सुन्दर चित्र अंकित किये गये हैं। यह द्वादशों लिङ्गों में अन्यतम श्रीमल्लिकार्जुन तथा भ्रमराम्बा का स्थान है। इस मन्दिर की व्यवस्था आजकल पुष्पगिरि के शङ्कराचार्य की ओर से होती है। प्राचीन काल में यह सिद्धिक्षेत्र माना जाता था। माध्यमिक मत के नागार्जुन ने इसी पर्वत पर तपस्या कर सिद्धि प्राप्त की

थी तथा सिद्ध नागार्जुन का नाम अर्जन किया था। शङ्कराचार्य के समय में तो इसका प्रभाव तथा प्रसिद्धि बहुत ही अधिक थी। बाणभट्ट ने राजा हर्षवर्धन की प्रशंसा करते हुये उन्हें भक्त लोगों के मनोरथ-सिद्धि करने वाला श्रीपर्वत कहा है।[1] भवभूति ने मालतीमाधव में इस स्थान की विशेष महिमा बतलाई है। किसी समय यह बौद्ध लोगों का प्रधान केन्द्र था। चैत्यवादी निकाय के जो दो—पूर्वशैलीय और अपरशैलीय—भेद थे वे इसी श्रीपर्वत के पूर्व और पश्चिम अवस्थित दो पर्वतों के कारण दिए गये थे। कापालिकों का यह मुख्य केन्द्र प्रतीत होता है। शङ्कराचार्य का उग्रभैरव के साथ यहीं पर संघर्ष हुआ था—(चिद्० अ० २६)।

सुब्रह्मण्य (आ०)—आनन्दगिरि ने अनन्तशयन के पश्चिम १५ दिन यात्रा करने के अनन्तर यह स्थान मिला था, ऐसा लिखा है। यह कीर्तिकेय का आविर्भावस्थान माना गया है। यहीं कुमारधारा नदी है जिसमें स्नान कर शङ्कर ने कुमार का पूजन किया था। चिद्विलास ने जिसे बासुकि क्षेत्र नाम से लिखा है, वह यही स्थान प्रतीत होता है। आनन्दगिरि[2] ने यहाँ पर शङ्कर के द्वारा हिरण्यगर्भ-मत, अग्निवादी मत तथा सौरमत के खण्डन की बात लिखी है।

आचार्यशङ्कर के द्वारा इन्हीं स्थानों की यात्रा की गई थी। जिन स्थानों के विषय में सब दिग्विजयों का एकमत है, वे क्रमशः ये हैं :—उज्जैनी, काञ्ची, काशी, द्वारिका, पुरी, प्रयाग, बदरीनाथ, रामेश्वर, श्रीपर्वत तथा हरिद्वार। ये समग्र स्थान धार्मिक महत्त्व के हैं, अतः शङ्कराचार्य का इन स्थानों में जाना तथा विरोधीमत वालों को परास्त करना स्वाभाविक प्रतीत होता है। द्वारिका, जगन्नाथपुरी, बदरी तथा रामेश्वर के पास तो उन्होंने मठों की स्थापना की। अन्य स्थानों से आचार्य का घनिष्ठ सम्बन्ध था जिसका वर्णन पहले दिया जा चुका है।

---

[1] जयति ज्वलत्प्रतापज्वलनप्रकारकृतजगद्रक्षः।
सकलप्रणयिमनोरथसिद्धि श्रीपर्वतो हर्षः॥

[2] आनन्दगिरिप्रकरण ११—१३

त्रयोदश परिच्छेद

तिरोधान

शारदा पीठ में शङ्कर

काश्मीर प्राचीनकाल से ही जितना प्राकृतिक अभिरामता के लिए प्रसिद्ध है उतना ही अपने विद्या-वैभव के लिए भी विख्यात है। यहाँ के पण्डितों ने संस्कृत साहित्य के नाना विभागों को अपनी अमूल्य कृतियों से पूर्ण किया है। दर्शन और साहित्य का, तन्त्र तथा व्याकरण का तो यह ललित क्रीडानिकेतन ही ठहरा। भगवती शारदा इस क्षेत्र की अधिष्ठात्री देवी हैं, इसलिए यह मण्डल शारदापीठ या शारदाक्षेत्र के नाम से प्रख्यात है। महाकवि बिल्हण की यह उक्ति[1] कि कविता-विलास केसर के सहोदर हैं—इसीलिए शारदा-देश को छोड़कर कविता और केसर के अंकुर अन्यत्र नहीं उगते—जन्मभूमि के प्रेम का परिणाम नहीं है, अपितु इसके पीछे सच्चा इविहास विद्यमान हैं। भगवती शारदा का प्राचीन मन्दिर आज भी विद्यमान है परन्तु जननिवास से जंगल में इतना दूर है कि वहाँ विशिष्ट यात्री ही पहुँच पाते हैं। साधारण यात्री तो मार्ग की कठिनता से विचलित होकर लौट ही आता है। इस शारदा के मन्दिर के पास ही कुण्ड था जिसकी प्राचीनकाल में प्राण-संजीवन करने की विलक्षण शक्ति सुनी जाती है। शारदाकुण्ड के जल से स्पर्श होते ही मृत व्यक्ति में प्राणों का संचार हो उठता था। यहाँ एक प्रवाद प्रसिद्ध[2] है कि कर्नाटक देश का राजा था जिसके कान भैंसे के कान के समान थे। अतः वह 'महिषकर्ण' कहलाता था। वह काश्मीर में अपने शरीर दोष के निवारण के लिए आया, परन्तु राजकन्या के अकारण कोप का भाजन बन जाने से उसे अपने प्राणों से हाथ धोने की नौबत आ गई। उसका अङ्ग छिन्न-भिन्न कर दिया गया, परन्तु एक भक्त सेवक उन्हें बटोरकर कुण्ड के पास ले गया जिसके जल के स्पर्श मात्र से ही उनमें जीवनी-शक्ति का संचार हो आया—राजा जी उठा।

---

[1] सहोदराः कुंकुमकेसराणां भवन्ति नूनं कवितविलासाः।
न शारदादेशमपास्य दृष्टस्तेषां यदन्यत्र मया प्ररोहः॥

—विक्रमांकदेवचरित्र १।१२

[2] राजेन्द्रघोष—शङ्कर और रामानुज, पृ० ३४७-३४८

इसी शारदा के मन्दिर में सर्वज्ञपीठ था जिस पर वह पुरुष आरोहण कर सकता था जो सकल ज्ञान-विज्ञान-कला तथा शास्त्र का निष्णात पण्डित होता था। बिना सर्वज्ञ के कोई पुरुष उस पर अधिरोहण का अधिकारी न था। इस मन्दिर में प्रत्येक दिशा की ओर चार दरवाजे थे। मन्दिर में भगवती शारदा का साक्षात् निवास था। कोई भी अपवित्र व्यक्ति मन्दिर में प्रवेश नहीं कर सकता था। दक्षिण में रहते हुए शङ्कराचार्य ने यह बात सुनी कि शारदा मन्दिर के पूरब, पश्चिम तथा उत्तर के द्वार तो खुले रहते हैं, परन्तु दक्षिण का द्वार कभी नहीं खुलता। उन दरवाजों से होकर वही व्यक्ति प्रवेश कर सकता है जो सर्वज्ञ हो। दक्षिण भारत में सर्वज्ञ के अभाव से मन्दिर का दक्षिण द्वार कभी खुलता ही नहीं, हमेशा बन्द ही रहता है। आचार्य ने दाक्षिणात्यों के[1] नाम से इस कलंक को धो डालने की इच्छा से शिष्यों के साथ काश्मीर की यात्रा की। शारदा मन्दिर में पहुँचकर उन्होंने अपनी सुनी बातें सच्ची पाईं। आत्मबल तथा चरित्रबल के तो वे निकेतन ही थे। उन्होंने बलपूर्वक दक्षिण द्वार को धक्का देकर खोल दिया और उसमें प्रवेश करने का ज्योंही उद्योग किया, त्योंही चारों ओर से पण्डितों की मण्डली उन पर टूट पड़ी और जोर से चिल्लाने लगी—"पहले अपनी सर्वज्ञता की परीक्षा दे दीजिए, तब इस द्वार से प्रवेश करने का साहस कीजिए।" शङ्कराचार्य ने यह बात सहर्ष स्वीकार की। इसके लिए तो वे बद्धपरिकर थे ही। वहाँ प्रत्येक शास्त्र के पण्डितों का जमाव था। वे लोग अपने शास्त्र की बातें उनसे पूछने लगे। शङ्कर ने उन प्रश्नों का यथार्थ उत्तर देकर सब पण्डितों को चमत्कृत कर दिया। वे परीक्षा में खरे उतरे। विभिन्न दर्शनों के पेचीदे प्रश्नों का यथार्थ उत्तर देकर आचार्य ने अपने सर्वज्ञ होने की बात सप्रमाण सिद्ध कर दी। मन्दिर के भीतर जाकर उन्होंने सर्वज्ञपीठ की ओर दृष्टि डाली। साहस कर वे उस पीठ पर अधिरोहण करने का ज्यों ही प्रयत्न करने लगे, ठीक उसी समय शारदा की भावना आकाशवाणी के रूप में प्रकट हुई। आकाशवाणी ने कहा—"इस पीठ पर अधिरोहण करने के लिए सर्वज्ञता ही एक मात्र कारण नहीं है, पवित्रता भी उसका सहायक साधन है। आप संन्यासी हैं—संसार के प्रपञ्च का सर्वथा परित्याग कर चुके हैं। संन्यासी होकर मृतक शरीर में प्रवेश कर कामिनियों के साथ रमण करना तथा कामकला सीखना क्या संन्यासी का न्यायानुमोदित आचरण है? ऐसा पुरुष पवित्र चरित्र होने का अधिकारी कैसे हो सकता है?"

शंकर ने उत्तर दिया—"मैंने इस शरीर से जन्म लेकर अब तक कोई पातक नहीं किया। कामकला का रहस्य मैंने अवश्य सीखा है परन्तु अब दूसरे शरीर को धारण कर लिया है। उस कर्म से यह भिन्न शरीर किसी प्रकार लिप्त नहीं हो

[1] द्रष्टव्य—माधव, शं० दि०

सकता।"[1] शारदा ने आचार्य की युक्ति मान ली और उन्हें पीठ पर अधिरोहण करने की अनुमति देकर उनकी पवित्रता पर मुहर लगा दी। पण्डित मण्डली के हृदय को आश्चर्यसागर में डुबाते हुए सर्वज्ञ शङ्कर ने इस पवित्र शारदापीठ के सर्वज्ञपीठ पर अधिरोहण किया।

नैपाल में शङ्कर

इस घटना के अनन्तर शङ्कराचार्य ने सुना कि नैपाल में पशुपतिनाथ की पूजा यथार्थरूप से नहीं हो रही है। नैपाल तो बौद्धधर्म का प्रधान केन्द्र ही था। यहाँ के निवासी अधिकांश बौद्ध-मत के मानने वाले थे, अतः पशुपतिनाथ की वैदिक पूजा की उपेक्षा करना नितान्त स्वाभाविक था। पशुपतिनाथ का अष्टमूर्ति शङ्कर में अन्यतम स्थान है। वे यजमान मूर्ति के प्रतिनिधि हैं। इसीलिये उनकी मूर्ति मनुष्याकृति है। स्थान प्राचीन काल से ही बड़ा पवित्र तथा गौरवशाली माना जाता था। यह पवित्रता आज भी अक्षुण्ण रूप से बनी हुई है। परन्तु शङ्कर के समय में बौद्धधर्म के बहुत प्रचार के कारण पशुपतिनाथ की पूजा में शैथिल्य आ गया था। इसी को दूर करने के लिये शङ्कर अपनी शिष्य-मण्डली के साथ नैपाल में पहुँचे।

उस समय नैपाल में ठाकुरी वंश (या राजपूत वंश) के राजा राज्य करते-थे। तत्कालीन राजा का नाम था शिवदेव (या वरदेव)। ये नरेन्द्रदेव वर्मा के पुत्र थे। उस समय नैपाल और चीन का घनिष्ठ राजनैतिक सम्बन्ध था। चीन के सम्राट् ने नरेन्द्रदेव को नैपाल का राजा स्वीकृत किया था।[2] नैपाल नरेश ने शङ्कर की बड़ी अभ्यर्थना की और आचार्य-चरण के आगमन से अपने देश को धन्य माना। आचार्य ने बौद्धों को परास्त कर उस स्थान को उनके प्रभाव से उन्मुक्त कर दिया।

---

[1] नास्मिन् शरीरे कृतकिल्विषोऽहं जन्मप्रभृत्यम्ब न संदिहेऽहम्।
व्यधायि देहान्तरसंश्रयाद्यत्तेन लिप्येत हि कर्मणाऽन्यः॥

शं० दि०—१६।८६

[2] शङ्कर के समकालीन नैपाल नरेश के विषय में भिन्न-भिन्न मत हैं। 'नैपाल वंशावली' के अनुसार शङ्कर की नैपाल यात्रा के समय सूर्यवंशी वृषदेव नामक राजा राज्य कर रहे थे। शङ्कर के रहते ही समय उन्हें पुत्र उत्पन्न हुआ जिसका नाम उन्होंने आचार्यशङ्कर के ही नाम पर रक्खा। डाक्टर फ़्लीट के अनुसार वृषदेव का काल ६३० –६१५ ई० है। ऐतिहासिक लोग इस वंशावली को विशेष महत्त्व नहीं देते। द्रष्टव्य—Indian Antiquary Vol. 16 (1837) pp. 41.
अन्य प्रवादों के लिए देखिए—शङ्कर और रामानुज ३८५—८६

पशुपतिनाथ की वैदिक पूजा की व्यवस्था उन्होंने ठीक ढंग से कर दी। इस कार्य के लिए उन्होंने अपने ही सजातीय नम्बूद्री ब्राह्मण को इस कार्य के निमित्त रख दिया। यह प्रथा आज भी उसी अक्षुण्ण रूप से चल रही है। नम्बूद्री ब्राह्मण के कुछ कुटुम्ब नेपाल में ही बस गये हैं। ये आपस में विवाह शादी भी किया करते हैं। परन्तु इस विवाह की सन्तान पूजा के अधिकारी नहीं माने जाते हैं। खास मालावार देश की कन्या से जो पुत्र उत्पन्न होता है वही यहाँ की पूजा का अधिकारी बनता है। आज भी पशुपतिनाथ के मन्दिर के पास ही शङ्कराचार्य का मठ है और थोड़ी ही दूर पर शङ्कर और दत्तात्रेय की मूर्तियाँ आज भी श्रद्धा तथा भक्ति से पूजी जाती हैं।

गौड़पाद का आशीर्वाद

इस घटना के पहले ही आचार्य को अपने परम गुरु गौड़पाद-आचार्य का आशीर्वाद प्राप्त हो गया था, एक दिन यह विचित्र घटना घटी थी। गौड़पाद ने दर्शन देकर अपने प्रशिष्य को कृतार्थ किया। शङ्कर के गुरु थे भगवत् गोविन्दपाद और उनके गुरु थे ये गौड़पाद। इस प्रकार शङ्कर इनके प्रशिष्य लगते थे। आचार्य ने इनकी माण्डूक्यकारिका पर लिखे गये अपने भाष्य को पढ़ सुनाया। वे अत्यन्त प्रसन्न हुये और आशीर्वाद दिया कि यह शङ्कर का भाष्य सर्वत्र प्रसिद्ध होगा क्योंकि इसमें अद्वैत के सिद्धान्तों का परिचय सम्प्रदाय के अनुकूल ही किया गया है। जिन रहस्यों को मैंने शुकदेव जी से सुन कर गोविन्द मुनि को बतलाया था उन्हीं का यथार्थ उद्घाटन इन भाष्यों में भली-भाँति किया गया है। माण्डूक्यकारिका लिखने में जो मेरा अभिप्राय था उसकी अभिव्यक्ति कर तुमने मेरे हृदय को इस भाष्य में रख दिया है। मैं आशीर्वाद देता हूँ कि तुम्हारे भाष्य इस पृथ्वी-तल पर अलौकिक प्रभा सम्पन्न हो कर जगत् का वास्तव में मंगल-साधन करेगें।

इस प्रकार, सुनते हैं कि आचार्य शङ्कर के भाष्यों को वेदव्यास तथा गौड़पाद जैसे ब्रह्मवेत्ता मुनियों का आशीर्वाद प्राप्त हुआ।

आचार्य का तिरोधान

शृंगेरी की परम्परा

आचार्य शङ्कर ने अपना अन्तिम जीवन किस स्थान पर बिताया तथा सर्वज्ञ पीठ पर अधिरोहण किस स्थान पर किया, यह एक विचारणीय प्रश्न है। जिस प्रकार शङ्कर के जीवनवृत्त के विषय में सर्वांश में सर्वत्र एकमत नहीं दीख पड़ता, उसी प्रकार उनके शरीरपात के विषय में भी प्राचीन काल से ही मतभेद चला आता है। हमने काश्मीर में सर्वज्ञ पीठ पर आचार्य के अधिरोहण की जो बात ऊपर लिखी है, उसका आधार माधव कृत शङ्कर-दिग्विजय ही है। अधिरोहण के

[1] माधव, शं० दि०, सर्ग १६।३३—५४

अनन्तर आचार्य ने अपने शिष्यों को विभिन्न मठों में मठकार्य निरीक्षण के लिए भेज दिया और स्वयं वहाँ से बदरीनारायण की ओर चले गये। यह भी प्रसिद्ध है कि वहाँ कुछ दिन भगवान् नारायण की पूजा-अर्चा में बिता कर वे दत्तात्रेय के दर्शन के निमित्त उनके आश्रम में गये और उनकी गुफा में उन्हीं के साथ कुछ दिन तक निवास किया। दत्तात्रेय ने शङ्कर की उनके विशिष्ट कार्य के लिए उनकी प्रचुर प्रशंसा की। इसके बाद वे कैलास पर्वत पर गये और वहीं अपना स्थूल शरीर छोड़कर वे सूक्ष्म शरीर में विलीन हो गये। यह वृत्तान्त शृंगेरी पीठानुसारी ग्रन्थों में उपलब्ध होता है और अधिकांश सन्यासी लोग इसी बात को प्रामाणिक मानते हैं। 'गुरुवंश काव्य' में लक्ष्मण शास्त्री ने यही बात लिखी है।[1] चिद्विलास यति ने भी इसी मत की पुष्टि की है।[2] माधव ने इस घटना का उल्लेख किया है।[3] संन्यासियों की यह दृढ़ धारणा है कि आचार्य ने अपना लौकिक कार्य समाप्त कर कैलाश पर्वत पर शरीर छोड़ा।

चिद्विलास ने माधव के मत को तिरोधान के विषय में स्वीकृत किया है परन्तु अधिरोहण के विषय में उनका कहना है कि शङ्कराचार्य ने काञ्ची में सर्वज्ञ पीठ पर अधिरोहण किया था, काश्मीर में नहीं। माधवाचार्य ने जिन दो श्लोकों में (१६। ५१—५२) शङ्कर के काश्मीर में सर्वज्ञ-पीठारोहण की घटना लिखी है, वे दोनों श्लोक राजचूड़ामणि दीक्षित के 'शंकराभ्युदय' के ही हैं (८। ६८,६९) परन्तु 'शङ्कराभ्युदय' में लिखा है कि यह घटना काञ्ची में हुई थी काश्मीर में नहीं—यहीं दोनों में भेद है।

केरल की परम्परा इससे नितान्त भिन्न है। गोविन्दनाथ यति लिखित

---

[1] दत्तात्रेयं भुवनविनुतं वीक्ष्य नत्वान्वगादीत्
वृत्तं स्वीयं सकलमपि तान्प्रेषितान् दिक्षु शिष्यान्
सोऽपि श्रुत्वा मुनिपतिरदादाशिषो विश्वरूपा—
चार्यादिभ्यः सुखमवसतां तत्र तौ भाषमाणौ ॥ ३।७०

[2] इत्युक्त्वा शङ्कराचार्यकरपल्लवमादरात्।
अवलम्ब्य कराग्रेण दत्तात्रेयः सतापसः ॥ ४९
प्रविवेश गुहाद्वारं दत्वाज्ञां जनसन्ततेः।
क्रमाज्जगाम कैलासं प्रमथैः परिवेष्टितम् ॥ ५०
शङ्करविजयविलास—३० (अ०)

[3] शं० दि०, सर्ग १६, श्लो० १०२—३

'शङ्कराचार्य चरितम्' के अनुसार आचार्य के मृत्यु केरल देश में ही हुई। काञ्ची में सर्वज्ञपीठ पर अधिरोहण करने के अनन्तर आचार्य ने वहाँ कुछ दिनों तक निवास किया। अनन्तर रामेश्वर में महादेव का दर्शन और पूजन कर शिष्यों के साथ घूमते-घामते वे वृषांचल पर आये। यह स्थान केरल में है और बड़ा पवित्र है। इसीलिए यह दक्षिण कैलास कहा जाता है। यहीं रहते उन्हें मालूम पड़ा कि उनका अन्त-काल अब आ गया है। उन्होंने विधिवत् स्नान किया और शिवलिंग का पूजन किया। अनन्तर श्रीमूल नामक स्थान में उन्होंने भगवान् कृष्ण और भगवान् भार्गव की विधिवत् पूजा की। कहा जाता है कि आचार्य ने अपने अन्तिम दिन त्रिचूर के मन्दिर में बिताये थे और उनका शरीर इसी मन्दिर के विशाल प्राङ्गण में समाधि रूप में गाड़ा गया था। केरल देश में आज भी त्रिचूर के मन्दिर की बड़ी प्रतिष्ठा है। जिस स्थान पर यह घटना घटी थी उस स्थान पर महाविष्णु के चिह्नों के साथ एक चबूतरा बनवा दिया गया है। त्रिचूर के पास एक ब्राह्मणवंश आज भी निवास करता है जो अपने को मण्डन मिश्र या सुरेश्वराचार्य का वंशज बतलाता है। त्रिचूर के मन्दिर की केरल भर में ख्याति पाने का यही कारण माना जाता है कि शङ्कराचार्य की समाधि उसी मन्दिर के पास है।[1]

केरल देश की मान्यता

कामकोटिपीठ (काञ्ची) की परम्परा पूर्वोक्त दोनों परम्पराओं से भिन्न है। इस मठ की मान्यता है कि शङ्कराचार्य ने अपने शिष्यों को तो चारों मठों का अध्यक्ष बना दिया और अपने लिए उन्होंने काञ्ची को पसन्द किया। यहीं कम्पातीरवासिनी भगवती कामेश्वरी अथवा कामकोटि देवी की निरन्तर अर्चना करते हुए आचार्य शङ्कर ने अपने अन्तिम दिन बिताये। काञ्ची नगरी के निर्माण में शङ्कर का विशेष हाथ था, ऐसा कहा जाता है। शिवकाञ्ची और विष्णुकाञ्ची की रचना उन्हीं के आज्ञानुसार राजसेन नामक राजा ने, जो उनका परम भक्त था, किया। कामाक्षी के मन्दिर को विष्णु-स्थान मानकर श्रीचक्र की कल्पना के अनुसार नगरी बसा दी गयी। सदाशिव ब्रह्मेन्द्र कृत 'गुरुरत्नमालिका टीका' तथा 'गुरुपरम्परास्तोत्र' में लिखा है कि भगवान् शङ्कर अपने जीवन के अन्तिम समय तक काञ्ची में ही विराजमान् थे।[2] आनन्दगिरि ने शङ्करविजय में काञ्ची में ही

काञ्ची में देहपात

---

[1]इस परम्परा के लिए द्रष्टव्य—पं० बलदेव उपाध्याय, 'शङ्कर दिग्विजय' का अनुवाद, परिशिष्ट पृ० ५८३—८६

[2]तत्र संस्थाप्य कामाक्षीं जगाम परमं पदम्।
विश्वरूपयतिं स्थाप्य स्वाश्रमस्य प्रचारणे॥

आचार्य के शरीरपात होने की बात लिखी है।[1] एक विलक्षण बात यह है कि काञ्ची के मन्दिर कामाक्षी के मन्दिर का सामना करते हुए खड़े हैं अर्थात् सब मन्दिरों का मुँह कामाक्षी के मन्दिर की ओर ही हैं। बिना बुद्धिपूर्वक रचना किये हुए ऐसी घटना हो नहीं सकती।

पांच प्रसिद्ध लिङ्ग

प्रसिद्धि है कि शङ्कराचार्य कैलास से पाँच स्फटिक लिंग लाये थे जिनमें चार लिंगों की स्थापना उन्होंने चार प्रसिद्ध तीर्थों में की। शृंगेरी में उन्होंने भोगलिंग की स्थापना की। चिदम्बरम् में मोक्षलिंग की प्रतिष्ठा की। तीर्थयात्रा के प्रसङ्ग में वे दक्षिण भारत के त्रिचनापल्ली के समीप स्थित जम्बुकेश्वर तीर्थ में पहुँचे और वहाँ की देवी अखिलाण्डेश्वरी के कानों में ताटंक के स्थान पर श्रीचक्र रखकर उन्होंने भगवती की उग्रकला को मृदु बना दिया। तोटकाचार्य को ज्योतिर्मठ का अधिपति बना कर बदरीनारायण के पास मुक्तिलिंग की प्रतिष्ठा की। नेपाल क्षेत्र में (जिसका प्राचीन नाम नीलकण्ठ क्षेत्र है) उन्होंने वीरलिंग की स्थापना कर उसके पूजा-अर्चा की व्यवस्था की। इस प्रकार चार लिंगों की स्थापना शृंगेरी, चिदम्बरम्, नेपाल तथा बदरीनारायण में क्रमशः करके शङ्कर ने अपने पास सर्वश्रेष्ठ पञ्चम लिंग रखा। वह योगलिंग नाम से प्रसिद्ध था। काञ्ची में शङ्कर इसी लिंग की पूजा किया करते थे।[2] देहत्याग के समय उन्होंने इस लिंग को सुरेश्वर के हाथ में समर्पित किया और काञ्चीपीठ तथा वहाँ के शारदामठ का भार भी उन्हीं को दे दिया। स्मरण रखना चाहिए कि यह शारदामठ शृंगेरी के शारदा पीठ से भिन्न है और शिवकाञ्ची में ही स्थित है। 'शिव रहस्य' में भी काञ्ची में योगलिंग की स्थापना तथा आचार्य के अन्तर्धान होने की बात लिखी है।[3] मार्कण्डेय संहिता (काण्ड ७२, परिस्पन्द ७) में लिखा है कि शङ्कर ने कामकोटि-

---

[1] काञ्चीनगरे कदाचिदुपविश्य सूक्ष्मशरीरं स्थूले अन्तर्धाय सद्रूपो भूत्वा सूक्ष्मं कारणे विलीनं कृत्वा चिन्मात्रोभूत्वा .... सर्वजगद्व्यापकं चैतन्यमभवत्। तत्रत्याः ब्राह्मणाः सर्वे शिष्याः प्रशिष्याश्च उपनिषद्गीताब्रह्मसूत्राणि सम्यक् पठन्तः अत्यन्तशुचिस्थले गर्तं कृत्वा तत्र गन्धाक्षतबिल्वपत्रतुलसीप्रसूनादिभिः सम्पूज्य तच्छरीरं समाधिं चक्रुः। आनन्दगिरि—शङ्कर विजय ७४ प्रकरण।

[2] आनन्द गिरि—शङ्कर विजय प्रकरण ६५

[3] तद्योग भोगवरमुक्तिसुमोक्षयोग—
लिंगार्चनाप्राप्तजयस्वकाश्रमे
तान् वै विजित्य तरसा क्षतशास्त्रवादे-
मिश्रान् स काञ्च्यामथ सिद्धिमाप ॥—शिवरहस्ये।

पीठ में योगलिंग की प्रतिष्ठा की और उसके पूजन के लिए सुरेश्वराचार्य की नियुक्ति की।[१] रामभद्र दीक्षित कृत पतञ्जलिचरित (८।७१) से भी प्रतीत होता है कि शङ्कर का देहावसान काञ्ची में ही हुआ था। काञ्ची के लिंग के नाम के विषय में कहीं यागेश्वर और कहीं योगेश्वर पाठ मिलता है परन्तु पूर्वापर का अच्छी तरह समन्वय कर योगेश्वर पाठ ही ठीक प्रतीत होता है। नैषध में (१२।३८) काञ्ची स्थित जिस स्फटिकलिंग का वर्णन है, वह शङ्कर द्वारा स्थापित योगेश्वरलिंग ही है।[२]

इस प्रकार कामकोटि पीठ से सम्बद्ध ग्रन्थों के कथनानुसार आचार्य का देहावसान काञ्ची में हुआ था। इन ग्रन्थकारों का कहना है कि माधवाचार्य के अनुसार जो वर्णन मिलता है वह कामकोटि पीठ के ३८ वें शङ्कराचार्य के जीवन का वृत्त है, आदि शङ्कराचार्य का नहीं। इनका नाम 'धीर शङ्कर' था। इन्होंने आदिशङ्कर के समान समस्त भारत का विजय किया। इन्होंने ही काश्मीर में सर्वज्ञपीठ पर अधिरोहण किया था तथा कैलास में ब्रह्मपद में लीन हो गये थे। उन्हीं के जीवन की घटनाएँ आदिशङ्कर के ऊपर आरोपित कर दी गयी हैं; वस्तुतः ये घटनाएँ 'धीर शंकर' की हैं। आदि शंकर ने तो काञ्ची में अपना शरीर छोड़ा था और यहीं वे ब्रह्मपद में लीन हो गये थे।[३]

इस प्रकार आचार्य के तिरोधान के विषय में तीन प्रधान मत हैं—(१) केरल की परम्परा, आचार्य का तिरोधान केरल के 'त्रिचूर' नामक स्थान पर मानती है; (२) कामकोटि पीठ के अनुसार शङ्कर ने अपनी ऐहिक-लीला का संवरण काञ्ची में किया। वहीं भगवती कामाक्षी की पूजा-अर्चा में वे अपना अन्तिम दिन बिताते थे। सर्वज्ञ पीठ पर यहीं अधिरोहण किया तथा उनकी समाधि काञ्ची में ही दी गई; (३) शृंगेरी मठ के अनुसार उन्होंने कैलास में जाकर इस

---

[१] काञ्च्यां श्रीकामकोटौ तु योगलिंगमनुत्तमम्।
प्रतिष्ठाप्य सुरेशार्यं पूजार्थं युयुजे गुरुः॥

[२] सिन्धोर्जैत्रमयं पवित्रमसृजत् तत्कीर्तिपूताद्भुतं।
यत्र स्नान्ति जगन्ति, सन्ति कवयः के वा न वाचं यमाः॥
यद्बिन्दुश्रियमिन्दुरञ्चति जलं चाविश्य दृश्येतरो।
यस्यासौ जलदेवतास्फटिकभूर्जागर्ति योगेश्वरः॥
—नैषध, सर्ग १२, श्लो० ३८

[३] विशेष द्रष्टव्य Prof. Venkteshan—The Last days of Shankaracharya—Journal of Oriental Research, Madras. Vol. I.

स्थूल शरीर को छोड़ा। ये ही तीन मत हैं। प्रथम मत के पोषक प्रमाण अन्यत्र नहीं मिलते। द्वितीय मत के पोषक प्रमाण बहुत अधिक हैं जिनका उल्लेख प्रथमतः किया गया है। तृतीय मत ही सर्वत्र प्रसिद्ध है तथा समग्र संन्यासियों का इसी मत में विश्वास है। दिग्विजयों के कथन इस विषय में एकरूपात्मक नहीं हैं। ऐसी विषम स्थिति में किसी सिद्धान्त पर पहुँचना बहुत ही कठिन है। जो कुछ हो, इतना तो बहुमत से निश्चित है कि शंकराचार्य ने भारतभूमि में वैदिक धर्म की रक्षा की और उनकी सुन्दर व्यवस्था कर ३२ वर्ष की आयु में इस धराधाम को छोड़ा। उनके निधन की तिथि भी भिन्न-भिन्न मानी जाती है। कुछ लोग उनका अवसान वैशाख शु० ११ को, कुछ वैशाख शुक्ल पूर्णिमा को और कुछ लोग कार्तिक शुक्ल ११ को मानते हैं।

शंकराचार्य के तिरोधान के विषय में एक प्रवाद प्रसिद्ध है जिसका यहाँ उल्लेख करना उचित है। प्रवाद यह है कि शंकराचार्य जब दिग्विजय के लिये बाहर जाते थे तब एक बड़ा भारी लोहे का कड़ाहा साथ ले चलते थे। बौद्धों के साथ जब शास्त्रार्थ करने लगते थे तब उस कड़ाहे में तेल भर कर आग के ऊपर गरम करने के लिये रख देते थे। विपक्षी से यह प्रतिज्ञा करा लेते थे कि यदि वह शास्त्रार्थ में हार जायेगा तो उसी खौलते हुये तेल में फेंक दिया जायेगा। एक बार शंकर महाचीन (तिब्बत) में बौद्धों से शास्त्रार्थ करने के लिये गये और तांत्रिक बौद्धों को शास्त्रार्थ में परास्त भी किया। उनके शिष्य आनन्दगिरि ने और आगे बढ़ने से रोका—भगवन् आगे बढ़ने की अब आवश्यकता नहीं है। जगत् की सीमा नहीं है। आप शास्त्रार्थ कहाँ तक करते चलियेगा ? गुरु ने शिष्य की बात मान ली और उस कड़ाहे को वहीं अपने दिग्विजय की सीमा निर्धारण करने के लिये छोड़ कर वहाँ से लौटे। तिब्बत में सुनते हैं कि वह स्थान 'शंकर-कटाह' के नाम से आज भी प्रसिद्ध है। नैपाल और तिब्बत में यह किम्बदन्ती प्रचलित है कि शंकर तिब्बत के किसी लामा से शास्त्रार्थ में पराजित हुये थे और अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार खौलते हुए तेल में अपने को फेंक कर प्राणत्याग किया था। कुछ लोग यह भी कहते हैं कि किसी लामा ने तान्त्रिक प्रयोग से शंकर को मार डाला था। ये तरह-तरह की निर्मूल किम्बदन्तियाँ हैं जिनमें हम सहसा विश्वास नहीं कर सकते। इन्हें केवल पाठकों की जानकारी के लिये यहाँ उद्धृत किया गया है।

इस प्रकार परम ज्ञानी यतिराज शंकर के जीवन का ३२वाँ वर्ष समाप्त हुआ। वे निर्विकल्पक समाधि का आश्रय लेकर इस धराधाम से चले गये। परब्रह्म से विकीर्ण होने वाली वह परम ज्योति जगत् को आलोकित कर फिर उसी परब्रह्म में विलीन हो गई। ओम् तत् सत्।

———

तृतीय खण्ड

रचना खण्ड

(१) शंकर के ग्रन्थ

(२) शिष्य-पारचय

(३) मठों का विवरण

चतुर्दश परिच्छेद
शंकराचार्य के ग्रन्थ

आदिशंकराचार्य के द्वारा लिखे गये ग्रन्थों का निर्णय करना एक विषम पहेली है। यह कहना अत्यन्त कठिन है कि उन्होंने कितने तथा किन-किन ग्रन्थों की रचना की थी। शंकराचार्य की कृति के रूप में दो-सौ से भी अधिक ग्रन्थ उपलब्ध होते हैं। परन्तु प्रश्न तो यह है कि क्या इन समस्त ग्रन्थों का निर्माण गोविन्द प्रश्न के भगवत्पूज्यपाद के शिष्य श्री शङ्कराचार्य के द्वारा सम्पन्न हुआ था? इस प्रश्न के कठिन होने का कारण यह है कि आदि शंकर के द्वारा प्रतिष्ठापित मठों के अधिपति भी शङ्कराचार्य के नाम से ही प्रख्यात हैं। यह पद्धति प्राचीन काल से चली आ रही है और आधुनिक काल में भी प्रचलित है। शंकराचार्य नामधारी इन आचार्यों ने भी बहुत ग्रन्थों की रचना की है। अतः इस नाम की समता के कारण यह निश्चित करना अत्यन्त कठिन हो जाता है कि किस शंकराचार्य ने किस ग्रन्थ-विशेष का निर्माण किया है। आदि शंकराचार्य ने अपने ग्रन्थों की पुष्पिका में अपने को गोविन्द भगवत्पूज्यपाद का शिष्य लिखा है। इस पुष्पिका के सहारे इनके ग्रन्थों का अन्य शंकराचार्य के ग्रन्थों से पार्थक्य किया जा सकता था परन्तु दुःख के साथ लिखना पड़ता है कि इन परवर्ती शंकराचार्यों ने भी अपने ग्रन्थों में अपने असली गुरु के नामों का निर्देश कर के गोविन्दपाद को ही अपने गुरु के स्थान में रखा है। अतः इन पुष्पिकाओं के आधार पर भी इन शंकराचार्यों का पता लगाना कठिन है।

हमारे सामने दूसरी कठिनाई यह उपस्थित होती है कि आदिशंकराचार्य के ग्रन्थों में भी परस्पर निर्देशों का नितान्त अभाव है। प्रायः देखा जाता है कि ग्रन्थकार अपने एक ग्रन्थ में पूर्वलिखित अपने दूसरे ग्रन्थ या ग्रन्थों का प्रसङ्गवश उल्लेख किया करते हैं। परन्तु शंकराचार्य ने इस पद्धति का अनुसरण नहीं किया, अतः उनके ग्रन्थों की छान-बीन करने का कोई भी साधन उपलब्ध नहीं होता।

ग्रन्थों की अन्तरंग परीक्षा ही इस निर्णय का एकमात्र साधन है। आचार्य की रचना-शैली नितान्त प्रौढ़ अथ च अत्यन्त सुबोध है। वे सरल प्रसादमयी रीति के उपासक हैं जिसमें स्वाभाविकता ही परम भूषण है। इस शैली की विशिष्टता को ध्यान में रख कर हम आद्य शंकर की रचनाओं का निर्णय कर सकते हैं; परन्तु यह भी अन्तिम निर्णय नहीं कहा जा सकता। जब तक समस्त

ग्रन्थ छप कर प्रकाशित नहीं हो जाते और उनकी विशिष्ट समीक्षा तथा अध्ययन नहीं किया जाता, तब तक इसी मत पर हमें आस्था रखनी पड़ेगी।

भाष्य-ग्रन्थ

आदि शङ्कराचार्य के द्वारा लिखित ग्रन्थों को हम तीन भागों में विभक्त कर सकते हैं :—

(१) भाष्य (२) स्तोत्र तथा (३) प्रकरण ग्रन्थ

भाष्य-ग्रन्थों को हम दो श्रेणियों में बाँट सकते हैं—(१) एक तो प्रस्थानत्रयी का भाष्य (२) इतर ग्रन्थों के भाष्य। साधारणतया यह प्रसिद्ध है शंकर, रामानुज तथा अन्यान्य आचार्यों ने प्रस्थानत्रय (श्रुति, स्मृति तथा सूत्र) की व्याख्या की है तथा ऐसा करते समय उन्होंने दश प्रधान उपनिषदों पर भी भाष्य लिखा है। परन्तु यह जनश्रुति वस्तुतः सत्य नहीं है; क्योंकि रामानुज का लिखा हुआ कोई भी उपनिषद् भाष्य नहीं है। ब्रह्मसूत्र का भाष्य लिखते समय रामानुज ने प्रसंगवश उपनिषदों की अनेक श्रुतियाँ उद्धृत की हैं तथा उनकी व्याख्या भी की है। 'प्रस्थान' शब्द का साधारण अर्थ है 'गमन'। परन्तु 'प्रस्थानत्रय' में प्रस्थान का अर्थ है मार्ग, जिसके द्वारा गमन किया जाय। वेदान्त के तीन प्रस्थान या मार्ग ये हैं :—(१) श्रुति अर्थात् उपनिषद् (२) स्मृति अर्थात् गीता और (३) सूत्र अर्थात् ब्रह्मसूत्र। इन तीनों स्थानों से यात्रा करने पर आध्यात्मिक मार्ग का पथिक ब्रह्म तक पहुँच सकता है। प्रस्थान का गमन अर्थ मानने में भी कोई विशेष क्षति नहीं है। ये तीनों ग्रन्थ ब्रह्म की ओर ले जाने वाले हैं। अतः इनकी गति ब्रह्म की ओर है।

इस प्रस्थानत्रयी की जो सबसे प्राचीन तथा आदि टीकायें उपलब्ध होती हैं वे शङ्कराचार्य के द्वारा ही लिखित हैं। शंकराचार्य के पहले भी कतिपय प्रसिद्ध वेदान्ताचार्यों ने इन ग्रन्थों पर टीकायें लिखी थीं तथा इन टीकाओं का पता शंकराचार्य और उनके शिष्यों के द्वारा लिखित ग्रन्थों के निर्देशों से चलता है। भर्तृप्रपञ्च ने कठोपनिषद् तथा बृहदारण्यक उपनिषद् पर भाष्यरचना की थी। आचार्य उपवर्ष ने ब्रह्मसूत्र तथा मीमांसा सूत्रों पर वृत्तियाँ लिखी थीं। इसके विषय में यथेष्ट प्रमाण उपलब्ध होते हैं। परन्तु ये वृत्तिग्रन्थ अकाल ही में कालकवलित हो गये, जिसके कारण इनके रचयिताओं के कतिपय मतों का ही साधारण रूप से हमें परिचय मिलता है। उनके पूर्ण तथा मौलिक सिद्धान्तों का पता हमें नहीं चलता। आचार्य शंकर के भाष्य इतने पूर्ण, प्रौढ़ तथा पाण्डित्यपूर्ण थे कि पिछले विद्वानों का ध्यान इन्हीं के भाष्यों के अध्ययन और अनुशीलन तक सीमित रह गया। इन प्राचीन आचार्यों के टीका-ग्रन्थों की शङ्कर के ग्रन्थों के सामने सर्वत्र अवहेलना होने लगी। जो कुछ भी कारण हो, इतना तो

निश्चित है कि शङ्कर के ही भाष्य-ग्रन्थ प्रस्थानत्रयी के उपलब्ध भाष्य-ग्रन्थों में प्राचीनतम हैं।

(क) प्रस्थानत्रयी भाष्य—

१—ब्रह्मसूत्र भाष्य—

आचार्य शंकर की सबसे सुन्दर तथा प्रौढ़ रचना मानी जाती है। ब्रह्मसूत्र इतने लघु अक्षर वाले तथा संक्षिप्त रूप में लिखे गये हैं कि बिना भाष्य की सहायता से उनका अर्थ समझना नितान्त कठिन है। शंकर ने बड़ी सरल, सुबोध तथा प्रौढ़ भाषा में इन सूत्रों के अर्थों को विस्तृत रूप से प्रकाशित किया है। इस भाष्य को पढ़कर साहित्य के पाठ करने का आनन्द आता है। सारा भाष्य इतनी मधुर, कोमल तथा प्रसन्न शैली में लिखा गया है कि उसे पढ़कर मन मुग्ध हो जाता है। इतने कठिन दार्शनिक विषय को इस सुन्दरता तथा सरलता से समझाया गया है जिसका वर्णन करना कठिन है। वाचस्पति मिश्र जैसे प्रौढ़ दार्शनिक ने इस भाष्य को केवल 'प्रसन्न-गम्भीर' ही नहीं कहा है, प्रत्युत् इसे गंगाजल के समान पवित्र बतलाया है। उनका कहना है कि जिस प्रकार गलियों का जल गंगा की धारा में पड़ने से पवित्र हो जाता है उसी प्रकार हमारी व्याख्या (भामती) भी इस भाष्य के संसर्ग से निश्चित ही पवित्र हो जायेगी :–

> नत्वा विशुद्धविज्ञानं, शङ्करं करुणाकरम्।
> भाष्यं प्रसन्नगम्भीरं तत्प्रणीतं विभज्यते॥
> आचार्यकृतिनिवेशनमप्यवधूतं वचोस्मदादीनाम्।
> रथ्योदकमिव गङ्गाप्रवाहपातः पवित्रयति॥
>
> —भामती का मंगल श्लोक ६।७

इस भाष्य को शारीरक भाष्य भी कहते हैं। 'शारीरक' शब्द का अर्थ है शरीर में रहने वाला आत्मा। इन सूत्रों में आत्मा के स्वरूप का विचार किया गया है। अतः इन सूत्रों को शारीरक सूत्र और इस भाष्य को शारीरक भाष्य कहते हैं।

२—गीता-भाष्य

भगवद्गीता का यह प्रख्यात भाष्य है। यह भाष्य दूसरे अध्याय के ११ वें श्लोक से प्रारम्भ होता है। आरम्भ में आचार्य ने अपने भाष्य के दृष्टिकोण को भली-भाँति समझाया है। प्राचीन टीकाकारों के गीता के सम्बन्ध में जो विभिन्न मत थे उनकी इन्होंने विशेष रूप से पर्य्यालोचना की है। इनके गीता भाष्य के लिखने की यह शैली है कि श्लोक में जो शब्द जिस क्रम से आये है उनकी व्याख्या उसी क्रम से की गयी है। आदि और अन्त में उस श्लोक के तात्पर्य को दिखलाने

का प्रयत्न किया गया है। इस भाष्य में शंकर ने गीता की ज्ञान-परक व्याख्या की है अर्थात् इन्होंने यह दिखलाया है कि गीता में मोक्ष प्राप्ति केवल तत्व-ज्ञान से ही बतायी गयी है, ज्ञान और कर्म के समुच्चय से नहीं[१]। गीता के प्राचीन टीकाकारों के मत में सर्व कर्मों के संन्यास पूर्वक आत्मज्ञान मात्र से ही मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो सकती, प्रत्युत् अग्निहोत्रादि श्रौत और स्मार्त कर्मों के साथ ज्ञान का समुच्चय करने पर ही मोक्ष की प्राप्ति होती है। वे लोग यह भी कहते हैं कि हिंसा आदि से युक्त होने के कारण वैदिक कर्मों को अधर्म का कारण मानना कथमपि उचित नहीं है। क्योंकि भगवान् ने स्वयं शास्त्र कर्म को जिसमें गुरु, भ्राता, पुत्र आदि की हिंसा होना अनिवार्य है, स्वधर्म बतलाकर प्रशंसा की है। परन्तु शंकराचार्य ने इस मत का पर्याप्त खण्डन कर ज्ञानपरक अर्थ की युक्तिमत्ता प्रदर्शित की है।

३—उपनिषद्-भाष्य

आचार्य के द्वारा लिखित उपनिषद् भाष्य ये हैं– (१) ईश (२) केन—पद भाष्य तथा वाक्य भाष्य (३) कठ (४) प्रश्न (५) मुण्डक (६) माण्डूक्य (७) तैत्तिरीय (८) ऐतरेय (९) छान्दोग्य (१०) बृहदारण्यक (११) श्वेताश्वतर (१२) नृसिंहतापिनी।

इन उपनिषद् भाष्यों की रचना आदि शंकराचार्य के द्वारा निष्पन्न हुई मानी जाती है। पर इस विषय में विद्वानों में ऐकमत्य नहीं है। केन उपनिषद् के दो भाष्य—पद वाक्य तथा वाक्य भाष्य—शंकर के नाम से उपलब्ध हैं। अब विचारणीय विषय यह है कि क्या इन दोनों भाष्यों की रचना शंकराचार्य ने स्वयं की थी अथवा इन दोनों में से कोई एक दूसरे किसी की रचना है। कुछ विद्वानों का कहना है कि एक बात को ग्रन्थकार ने दो विभिन्न प्रणालियों से व्याख्या करने के लिए दो भाष्य लिखा है। एक में है पदों का भाष्य और दूसरे में है वाक्यों का भाष्य। परन्तु इन दोनों भाष्यों की अन्तरंग परीक्षा करने से यह बात स्पष्ट विदित हो जाती है कि इनके द्वारा प्रदर्शित युक्तियाँ भी भिन्न-भिन्न हैं। वाक्य भाष्य में शंकर के अत्यन्त प्रसिद्ध मत भी कभी भिन्न रूप में तथा कभी विरुद्ध रूप में वर्णित किये गये हैं। शब्दों की व्याख्या भी दोनों भाष्यों में भिन्न-भिन्न रूप से प्रदर्शित की गयी मिलती है। उदाहरण के लिये देखिये—

केन-भाष्य

१—गीतासु केवलादेव तत्वज्ञानात् मोक्षप्राप्तिः, न कर्मसमुच्चितात् इति निश्चितोऽर्थः।—गीताभाष्य का उपोद्घात।

"उपनिषदं भो ब्रूहि इति। उक्ता त उपनिषद्, ब्राह्मीं वाव त उपनिषदमब्रूम इति"—(४,७)

इसकी व्याख्या पद-भाष्य में जितनी स्वाभाविक रीति से की गयी है उतनी वाक्यभाष्य में नहीं है। 'ब्राह्मी' और 'अब्रूम' पद की व्याख्या दोनों भाष्यों में इस प्रकार है :—

"पदभाष्य—ब्राह्मीं ब्रह्मणः परमात्मन इयं ब्राह्मी तां परमात्मविषयत्वात् अतीतविज्ञानस्य वाव एव ते उपनिषदं अब्रूम इति। उक्तामेव परमात्मविषयां उपनिषदमब्रूम इति। अवधारयति उत्तरार्थम्।

वाक्य भाष्य—ब्राह्मीं ब्रह्मणो ब्राह्मणजातेः उपनिषदं अब्रूम वक्ष्यामः इत्यर्थः। वक्ष्यतिः ब्राह्मीनोक्ता, उक्ता तु आत्मोपनिषद्। तस्मात् न भूताभिप्रायो अब्रूम इवि शब्दः।"

पद भाष्य के अनुसार ब्राह्मी शब्द का अर्थ है ब्रह्म से सम्बन्ध रखने वाली उपनिषद् तथा 'अब्रूम' का अर्थ है 'कहा'। इसके विपरीत वाक्यभाष्य में इन शब्दों के क्रमशः अर्थ है, ब्राह्मण जाति से सम्बन्ध रखने वाली उपनिषद् तथा 'अब्रूम' का अर्थ है 'कहूँगा'। 'अब्रूम' भूतकालिक क्रिया है। उसका 'वक्ष्यति' अर्थ कितना अनुचित तथा विरुद्ध है, इसे विद्वान् पाठकों को बतलाने की आवश्यकता नहीं है। इस प्रकार शब्दों की व्याख्या में ही अन्तर नहीं है, प्रत्युत् मूल के पाठ में भी पर्याप्त भेद है। केन (२, २) का पाठ है 'नाहं मन्ये सुवेदेति'। पदभाष्य में मूल में 'अहं' शब्द मानकर उसकी व्याख्या की गयी है, परन्तु वाक्य भाष्य में 'नाहम्' के स्थान पर 'नाह' पाठ माना गया है। इस मन्त्र की जो व्याख्या दोनों भाष्यों में की गयी है, वह पर्याप्त रूप से विभिन्न है। अतः यह निश्चित है कि इन दोनों भाष्यों का एक लेखक नहीं हो सकता। पदभाष्य शंकराचार्य की भाष्य शैली के अनुगमन करने के कारण तथा अधिक तर्कयुक्त होने के कारण निश्चित ही आदि शंकराचार्य की रचना है। वाक्य-भाष्य के लेखक कोई दूसरे शंकराचार्य होंगे। विद्याशंकर नाम के शृङ्गेरी मठ के एक आचार्य थे। विद्वानों की सम्मति में इन्होंने ही इस वाक्य-भाष्य की रचना संभवतः की थी।

श्वेताश्वतर उपनिषद् पर जो भाष्य आचार्य के नाम से उपलब्ध है, उसकी रचना-शैली और व्याख्या-पद्धति ब्रह्मसूत्र-भाष्य की अपेक्षा भिन्न तथा निकृष्ट है।

श्वेताश्वतर उपनिषद्

इसमें पुराणों के लम्बे-लम्बे उद्धरण मिलते हैं। उदाहरण के लिये विष्णु पुराण, लिङ्ग पुराण, वायुपुराण के लम्बे उद्धरणों के सिवाय योगवाशिष्ठ तथा शिवधर्मोत्तर एवं विष्णुधर्मोत्तर के भी उद्धरण इस भाष्य में मिलते हैं[1]। इस प्रकार पुराणों से

[1] श्वेताश्वतर उपनिषद् भाष्य—उपोद्घात।

लम्बे-लम्बे उद्धरण देना शंकराचार्य के भाष्य की शैली नहीं है। दूसरा प्रमाण इस विषय में यह है कि श्वेताश्वतर के भाष्यकार ने १।८ की व्याख्या में माण्डूक्य कारिका (३।५) का उद्धरण दिया है और उसके लेखक का उल्लेख करते हुये उन्हें 'शुकशिष्यो गौडपादाचार्यः' लिखा है। यहाँ विचारणीय बात यह है कि आचार्य शंकर ने अपने परम गुरु (गोविन्दपाद के गुरु) गौडपाद के लिये सदा भगवान् तथा सम्प्रदायवित् आदि आदरणीय शब्दों का प्रयोग किया है[1]। यदि वे ही इस भाष्य के भी रचयिता होते तो इस 'शुकशिष्य' जैसे निरादर-सूचक शब्द से अपने परम गुरु का उल्लेख कदापि नहीं करते। अतः इन प्रमाणों से सिद्ध है आदि शंकराचार्य इस उपनिषद् भाष्य के कर्ता नहीं हो सकते।

माण्डूक्य भाष्य की रचना के विषय में विद्वानों को बड़ा संदेह है। शंका की बात है भाष्य के आरम्भ में मंगलाचरण की। आचार्य शंकर के भाष्य के आरम्भ में श्लोकात्मक मंगल की रचना नहीं मिलती। तैत्तिरीय भाष्य के आदि में जो श्लोक मिलते हैं उन्हें भी आचार्यकृत होने में संदेह है। माण्डूक्यभाष्य के मंगलाचरण के द्वितीय श्लोक में छंददोष भी है। इस पद्य में आरम्भ के तीन चरण मन्दाक्रान्ता के हैं और अंतिम चरण स्रग्धरा का। इस प्रकार का मिश्रण छन्दःशास्त्र के नियम से अनुमोदित नहीं है। भाष्य के भीतर भी कतिपय बातें शांकर-मत से बिल्कुल ही नहीं मिलतीं। इसीलिए इस भाष्य को शंकराचार्य रचित मानने में विद्वान् लोग शंका करते हैं।

माण्डूक्य भाष्य

नृसिंहतापनीय के विषय में भी विद्वानों का अंतिम निर्णय नहीं हुआ है। इस उपनिषद् में तान्त्रिक सिद्धान्तों का विशेष वर्णन है। तन्त्र को अर्वाचीन मानने वाले लोग इस उपनिषद् को ही संदेह की दृष्टि से देखते हैं। कुछ लोग नृसिंह-तापनीय और प्रपंचसार के रचयिता को एक ही व्यक्ति मानते हैं और उसे आदिशंकर से भिन्न मानते हैं। नृसिंहतापनीय-भाष्य में प्रपञ्चसार से ६ श्लोक उद्धृत किये गये हैं और वे सब श्लोक वर्तमान प्रपञ्चसार में उपलब्ध होते हैं। नृसिंहभाष्य में व्याकरण सम्बन्धी अशुद्धियाँ भी विशेषतः पाई गई हैं, परन्तु माण्डूक्य भाष्य से कम। इन्हीं कारणों से इन भाष्यों को शंकर रचित मानने में विद्वान् लोग हिचकते हैं।

[1] ब्रह्मसूत्र १।४।१४ में शंकराचार्य ने 'मृल्लोहविस्फुलिङ्गाद्यैः' माण्डूक्यकारिका ३।५ का उद्धरण देते हुये गौड़पाद को 'सम्प्रदायविदो वदन्ति' कहा है। ब्रह्मसूत्र २।१।९ के भाष्य में शंकर ने 'अनादिमायया सुप्तो' माण्डूक्यकारिका १।१६ का उद्धरण देते हुये लिखा है "अत्रोक्तं वेदान्तार्थसम्प्रदायविद्भिराचार्यैः।"

उपनिषद् के भाष्यों में वही शैली तथा वही सरलता उपलब्ध होती है जो आचार्य के अन्य भाष्यों में है। शंकर ने प्रत्येक भाष्य के आरम्भ में उपोद्घात के रूप में अनेक मन्तव्यों का सुन्दर प्रतिपादन किया है। स्थान-स्थान पर प्राचीन वेदान्ताचार्यों के सिद्धान्तों को अपने मत की पुष्टि के लिए उद्धृत किया है तथा खण्डन करने के लिए भी कहीं-कहीं निर्देश किया है। इस विषय में बृहदारण्यक का भाष्य सब से अधिक विद्वत्तापूर्ण, व्यापक तथा प्राञ्जल है। इसी भाष्य के ऊपर आचार्य के पट्ट-शिष्य सुरेश्वराचार्य ने अपना विपुलकाय वार्तिक ग्रन्थ लिखा है। शंकराचार्य ने ब्रह्मप्राप्ति के साधक उपायों में कर्म की उपादेयता का खण्डन बड़ी प्रबल युक्तियों के बल पर किया है। उनके प्रबल खण्डन को देखकर प्रतीत होता है कि उस समय इस मत का कितना प्राबल्य था। साहित्यिक दृष्टि से इन भाष्यों का समधिक महत्त्व है। प्रौढ़ शास्त्रीय गद्य के ये उत्कृष्ट नमूने हैं। इस प्रस्थानत्रयी के भाष्यों में समरसता है—वही विशुद्ध विषय प्रतिपादन शैली है, वही सरल सुबोध शब्दों के द्वारा गम्भीर अर्थों का विवेचन है। आचार्य के सिद्धान्तों को समझने के लिए इन भाष्यों का अध्ययन नितान्त आवश्यक है।

(ख) इतर ग्रन्थों पर भाष्य

प्रस्थानत्रयी के अतिरिक्त अन्य ग्रन्थों पर भी शंकराचार्य विरचित भाष्य उपलब्ध हैं। इनमें कुछ उनकी निःसन्दिग्ध रचनायें हैं, परन्तु अन्य भाष्य वस्तुतः किसी अन्य शङ्कर द्वारा विरचित हैं :—

असन्दिग्ध भाष्य—

(१) विष्णुसहस्रनामभाष्य—सुप्रसिद्ध विष्णुसहस्र नाम पर भाष्य। इसमें प्रत्येक नाम की युक्तियुक्त व्याख्या है तथा उसकी पुष्टि में उपनिषद्, पुराण आदि ग्रन्थों का प्रमाण उद्धृत किया गया है।

(२) सनत्सुजातीय भाष्य—धृतराष्ट्र के मोह को दूर करने के लिए सनत्सुजात ऋषि ने जो आध्यात्मिक उपदेश दिया था वह महाभारत के उद्योग पर्व (अध्याय ४२—अध्याय ४६) में वर्णित है। इसे 'सनत्सुजातीय पर्व' कहते हैं। इसी पर्व का यह भाष्य है।

(३) ललितात्रिशती भाष्य—भगवती ललिता के तीन-सौ नामों पर विस्तृत पाण्डित्यपूर्ण भाष्य। आचार्य ललिता के उपासक थे। इस ग्रन्थ में उपनिषद् तथा तन्त्रों का प्रमाण उद्धृत कर नामों की बड़ी ही अभिराम तथा हृदयंगम व्याख्या की गई है।

(४) माण्डूक्य कारिका भाष्य – शङ्कर के परमगुरु गौडपादाचार्य ने माण्डूक्य उपनिषद् के ऊपर कारिकायें लिखी हैं। उन्हीं के ऊपर यह भाष्य है। कतिपय विद्वान् इसे आचार्य की रचना होने में संशय करते हैं, परन्तु उनकी युक्तियाँ उतनी प्रबल तथा उचित नहीं हैं।

निम्नलिखित भाष्यों को शंकर रचित मानने में सन्देह बना हुआ है—

(क) कौषीतकि-उपनिषद् भाष्य
(ख) मैत्रायणीय ” ”
(ग) कैवल्य ” ”
(घ) महानारायण ” ”
(ङ) हस्तामलक स्तोत्र भाष्य—आचार्य के शिष्य हस्तामलक के द्वारा रचित द्वादशपद्यात्मक स्तोत्र का विस्तृत भाष्य। शिष्य के ग्रन्थ पर गुरु का भाष्य लिखना असंगत-सा प्रतीत होता है। आचार्य ग्रन्थावली—(श्रीरंगम्, १६वाँ खण्ड, पृ० १६३—१६३) में प्रकाशित।
(च) अध्यात्मपटल भाष्य—आपस्तम्बधर्म सूत्र के प्रथम प्रश्न के आठवें पटल की टीका—अनन्तशयन संस्कृत ग्रन्थावली में प्रकाशित।
(छ) गायत्री भाष्य
(ज) सन्ध्या भाष्य

नीचे लिखित टीकायें शंकर की रचना कथमपि नहीं हो सकती। उनकी रचना शैली तथा विषय का पार्थक्य नितान्त स्पष्ट है :—

(१) अपरोक्षानुभव व्याख्या
(२) अमरुशतक टीका
(३) आनन्दलहरी टीका
(४) आत्मबोध टीका (अध्यात्मविद्या—उपदेश विधि तथा संक्षिप्तवेदान्तशास्त्र प्रक्रिया के नाम से प्रख्यात)
(५) उत्तरगीता टीका
(६) उपदेश साहस्री-वृत्ति
(७) एक श्लोक व्याख्या
(८) गोपालतापनीय भाष्य
(९) दक्षिणामूर्ति अष्टक टीका
(१०) पञ्चपदीप्रकरणी टीका
(११) पञ्चीकरण प्रक्रिया व्याख्या
(१२) परमहंस उपनिषद् हृदय
(१३) पातञ्जलयोगसूत्र भाष्य-विवरण

(१४) ब्रह्मगीता-टीका
(१५) भट्टिकाव्य-टीका
(१६) राजयोग-भाष्य
(१७) लघुवाक्य वृत्ति-टीका
(१८) ललितासहस्रनाम भाष्य
(१९) विजृम्भित योगसूत्र भाष्य
(२०) शतश्लोकी व्याख्या
(२१) शाकटायन उपनिषद् भाष्य
(२२) शिवगीता भाष्य
(२३) षट्पदी टीका (वेदान्त सिद्धान्त दीपिका)
(२४) संक्षेप शारीरक भाष्य
(२५) सूतसंहिता भाष्य

(२६) सांख्य कारिका-टीका (जयमङ्गला टीका—कलकत्ता ओरियन्टल सीरीज़' नं० १८ में प्रकाशित) लेखन शैली की भिन्नता होने से शंकर-कृत नहीं है। 'शङ्करार्य' नामक पण्डित की लिखी टीकायें 'जयमंगला' के नाम से विख्यात हैं। इनमें दो प्रसिद्ध हैं—(१) कामन्दकनीति सार की व्याख्या (अनन्तशयन ग्रन्थमाला, नं० १४) तथा (२) वात्स्यायन कामसूत्र की व्याख्या (काशी से प्रकाशित)। यह सांख्यटीका नाम से ही नहीं, प्रत्युत् रचनाशैली में भी इन टीकाओं से मिलती जुलती है। अतः यह जयमङ्गला शङ्कराचार्य रचित न होकर शङ्करार्य (लगभग १४०० ई०) की रचना है[1]।

(ग) स्तोत्र-ग्रन्थ

आचार्य परमार्थतः अद्वैतवादी होने पर भी व्यवहार भूमि में नाना देवताओं की उपासना तथा सार्थकता को खूब मानते थे। सगुण की उपासना निर्गुण की उपलब्धि का प्रधान साधन है। जब तक साधक सगुण ईश्वर की उपासना नहीं करता, तब तक वह निर्गुण ब्रह्म को कभी भी नहीं प्राप्त कर सकता। अतः सगुण ब्रह्म की उपासना का विशेष महत्व है। आचार्य स्वयं लोक-संग्रह के निमित्त इसका आचरण करते थे। उनका हृदय विशाल था। उसमें साम्प्रदायिक क्षुद्रता के लिए कहीं स्थान न था। यही कारण है कि उन्होने शिव, विष्णु, गणेश, शक्ति आदि देवताओं से सुन्दर स्तुतियों की रचना की है। इन स्तोत्रों का साहित्यिक

---

[1] द्रष्टव्य, महामहोपाध्याय गोपीनाथ कविराज—जयमङ्गला की भूमिका पृ० ८—९ (कलकत्ता ओरियण्टल सीरीज में प्रकाशित)।

महत्व कम नहीं है। दर्शन-शास्त्र की उच्चकोटि में विचरण करने वाले विद्वान् की रचना इतनी ललित, कोमल, रसभाव से सम्पन्न तथा अलंकारों की छटा से मण्डित होगी, यह देखकर आलोचक के आश्चर्य का ठिकाना नहीं रहता। शंकर के नाम से सम्बद्ध मुख्य स्तोत्रों की नामावली पहले दी जाती है। अनन्तर उन पर विचार किया जावेगा।

(१) गणेश-स्तोत्र

(१) गणेश पञ्चरत्न (६ श्लोक) (२) गणेश भुजंग प्रयात (९ श्लोक) (३) गणेशाष्टक (८॥) (४) वरद गणेशस्तोत्र।

(२) शिव-स्तोत्र

(१) शिव भुजंग (४० श्लोक) (२) शिवानन्द लहरी (१०० श्लोक) (३) शिवपादादि केशान्त स्तोत्र (४१ श्लोक) (४) शिवकेशादिपादान्त स्तोत्र (२९ श्लोक) (५) वेदसार शिवस्तोत्र (११ श्लोक) (६) शिवापराधक्षमापण (१५ श्लो०) (७) सुवर्णमाला स्तुति (५० श्लो०) (८) दक्षिणामूर्ति वर्णमाला (३५ श्लो०) (९) दक्षिणा मूर्ति अष्टक (१० श्लो०) (१०) मृत्युञ्जय मानसिक पूजा (४६ श्लो०) (११) शिवनामावल्यष्टक (९ श्लो०) (१२) शिव पञ्चाक्षर (५ श्लो०) (१३) उमामहेश्वर (१३ श्लो०) (१४) दक्षिणामूर्ति स्तोत्र (१९ श्लो०) (१५) कालभैरवाष्टक (८ श्लो०) (१६) शिवपञ्चाक्षर नक्षत्रमाला (२८ श्लो०) (१७) द्वादशलिङ्ग स्तोत्र (१३ श्लो०) (१८) दशश्लोकी स्तुति (१० श्लो०)।

(३) देवी-स्तोत्र

(१) सौन्दर्य लहरी (१०० श्लो०) (२) देवी भुजङ्गस्तोत्र (२८ श्लो०) (३) आनन्द लहरी (२० श्लो०) (४) त्रिपुर सुन्दरी-वेदपाद (११० श्लो०) (५) त्रिपुर सुन्दरी मानसपूजा (१२७ श्लो०) (६) देवीचतुःषष्ट्युपचार पूजा (७२ श्लो०) (७) त्रिपुर सुन्दर्यष्टक (८ श्लो०) (८) ललिता-पञ्चरत्न (६ श्लो०) (९) कल्याण वृष्टिस्तव (१६ श्लो०) (१०) नवरत्न मालिका (१० श्लो०) (११) मंत्रमात्रिका पुष्पमाला (१७ श्लो०) (१२) गौरी-दशक (११ श्लो०) (१३) भवानी भुजंग (१७ श्लो०) (१४) कनकधारा (१८ श्लो०) (१५) अन्नपूर्णाष्टक (१२ श्लो०) (१६) मीनाक्षी पञ्चरत्न (५ श्लो०) (१७) मीनाक्षी स्तोत्र (८ श्लो०) (१८) भ्रमराम्बाष्टकम् (८ श्लो०) (१९) शारदाभुजङ्गप्रयाताष्टक (८ श्लो०)।

(४) विष्णु-स्तोत्र

(१) कामभुजंगप्रयात (१९ श्लो०) (२) विष्णुभुजंगप्रयात (१४ श्लो०)

(३) विष्णुपादादि केशान्त (५२ श्लो०) (४) पाण्डुरंगाष्टक (८ श्लो०) (५) अच्युताष्टक (८ श्लो०) (६) कृष्णाष्टक (८ श्लो०) (७) हरिमीडे-स्तोत्र (४३ श्लो०) (८) गोविन्दाष्टक (८ श्लो०) (९) भगवन्-मानस-पूजा (१७ श्लो०) (१०) जगन्ननाथाष्टक (८ श्लो०) ।

(५) युगलदेवता-स्तोत्र

(१) अर्धनारीश्वर स्तोत्र (९ श्लो०) (२) उमामहेश्वर स्तोत्र (१३ श्लो०) (३) लक्ष्मीनृसिंह पञ्चरत्न (५ श्लो०) (४) लक्ष्मीनृसिंह करुणारसस्तोत्र (१७ श्लोक) ।

(६) नदीतीर्थ विषयक-स्तोत्र

(१) नर्मदाष्टक (८ श्लो०) (२) गङ्गाष्टक (८ श्लो०) (३) यमुनाष्टक दो प्रकार का (८ श्लो०) (४) मणिकर्णिकाष्टक (८ श्लो०) (५) काशीपंचक (५ श्लो०) ।

(७)साधारण-स्तोत्र

(१) हनुमत् पञ्चरत्न (६ श्लो०) (२) सुब्रह्मण्यभुजंग (३३ श्लो०) (३) प्रातःस्मरण स्तोत्र (४ श्लो०) (४) गुर्वष्टक (९ श्लोक) ।

शंकराचार्य के नाम से ऊपर जिन ६४ स्तोत्रों का उल्लेख किया गया है उन्हें शृङ्गेरी मठ के शंकराचार्य की अध्यक्षता में श्रीवाणीविलास प्रेस से प्रकाशित शंकर-ग्रन्थावली में स्थान दिया गया है। परन्तु शंकर के नाम से कम से कम २४० स्तोत्र छपे या हस्तलिखित रूप से उपलब्ध होते हैं। इन स्तोत्रों की शैली, तथा विषय के अनुशीलन करने से स्पष्ट प्रतीत होता है कि अधिकांश स्तोत्र विचित्र कृत्रिमता धारण किये हुए है। अतः उन्हें शंकर कृत मानने में हमें विशेष सन्देह है। कम से कम पन्द्रह स्तोत्र 'भुजङ्गप्रयात' छन्द में लिखे गए हैं और गणेश गण्डकी, दक्षिणामूर्ति, दत्त, देवी, नरसिंह, भवानी, राम, विष्णु, साम्ब, शिव, सुब्रह्मण्य तथा हनुमान् आदि देवताओं की स्तुति में निबद्ध है। इन किसी के ऊपर प्राचीन ग्रन्थकार की व्याख्या उपलब्ध नहीं होती। अतः शिवभुजंगप्रयात को छोड़कर अन्य स्तोत्रों के आदिशंकर रचित मानने में हमें पर्याप्त आपत्ति है। इसके अनन्तर लगभग ३५ 'अष्टक' है जिनमें अच्युत, अन्नपूर्णा, अम्बा,

५ १५

अर्धनारीश्वर, काल भैरब, कृष्ण, गङ्गा, गणेश, गोविन्द, चिदानन्द, जगन्नाथ,

१५

त्रिपुरसुन्दरी, दक्षिणामूर्ति, नर्मदा, पाण्डुरंग, बालकृष्ण, विन्दुमाधव, भवानी,

२० २५

भैरव, भ्रामराम्बा, मणिकर्णिका, यमुना, राघव, राम, लिङ्ग, शारदाम्बा,

३०

शिव, श्रीचक्र, सहजा, हालास्य, आदि देवताओं के विषय उपलब्ध होते हैं।

इनमें दो अटकों को हम निश्चित रूप से आदि शंकराचार्य की रचना मान सकते हैं क्योंकि इन दोनों के ऊपर प्राचीन वेदान्ताचार्यों के द्वारा लिखित टीकायें उपलब्ध हैं। इनमें एक है 'दक्षिणामूर्ति स्तोत्र' और दूसरा है 'गोपालाष्टक'। इन दोनों के अतिरिक्त अन्य अष्टक किसी अन्य शंकराचार्य की रचना प्रतीत होते हैं। इनके अतिरिक्त लगभग ३० स्तोत्र तो ऐसे मिलते हैं जो स्तोत्र के पद्यों की संख्या के कारण (जैसे ५, ६, ७, ९, १०, १२, १४, १६, ५०, ६४, ७०, १००, १०८) विशिष्ट नाम धारण करने वाले हैं। इनमें से प्राचीन आचार्यों के टीका से मण्डित होने के कारण षट्पदी और दशश्लोकी के यथार्थ आचार्य शङ्कर की रचना होने में हमें किसी प्रकार का सन्देह नहीं है। अन्य छोटे-छोटे स्तोत्रों में रचना की बड़ी कृत्रिमता दीख पड़ती है जो शंकराचार्य की निसन्दिग्ध रचनाओं में नहीं है।

इस समीक्षा के अनुसार निम्नलिखित स्तोत्र आदि शङ्कर की यथार्थ रचनायें हैं :—

(१) आनन्द-लहरी—इसमें शिखरिणी वृत्त में बीस पद्य हैं। इसके ऊपर ३० टीकायें उपलब्ध होती हैं जिनमें एक टीका तो स्वयं शंकराचार्य की बतलाई जाती है। भगवती की इस सुन्दर स्तुति पर प्राचीन काल से रसिक समाज रीझता आता है। इस स्तोत्र के पद्य बड़े ही सरस, चमत्कारपूर्ण, तथा मर्म-स्पर्शी हैं। अपर्णा की यह स्तुति कितनी भव्य है :—

सपर्णामाकीर्णां कतिपयगुणैः सादरमिह
श्रयन्त्यन्ये वल्लिं मम तु मतिरेवं विलसति।
अपर्णैका सेव्या जगति सकलैर्यत्परिवृतः
पुराणोऽपि स्थाणुः फलति किल कैवल्यपदवीम्॥

(२) गोविन्दाष्टक—इस पर आनन्दतीर्थ की व्याख्या उपलब्ध होती है। वाणीविलास की शंकर ग्रन्थावली (भाग १८, पृ० ५६-५८) में प्रकाशित है।

(३) दक्षिणामूर्तिस्तोत्र—दस शार्दूलविक्रीडित पद्यों में निबद्ध हैं। इसके ऊपर सुरेश्वराचार्य ने 'मानसोल्लास' नामक टीका लिखी है। विद्यारण्य, स्वयंप्रकाश, या प्रकाशात्मन्, पूर्णानन्द, नारायण तीर्थ के द्वारा लिखित टीकायें मिलती हैं। इस स्तोत्र में वेदान्त के साथ तन्त्र का भी विशेष प्रभाव दीख पड़ता है। तन्त्र के पारिभाषिक शब्द यहाँ उपलब्ध होते हैं। शंकर के तान्त्रिक मत जानने के लिए यह स्तोत्र उपादेय है।

(४) दश श्लोकी—इसी का दूसरा नाम चिदानन्द दशश्लोकी या चिदानन्द स्तवराज है। प्रत्येक श्लोक का अन्तिम चरण है 'तदेकोऽवशिष्टः शिवः केवलोऽहम्'। इसका दूसरा नाम 'निर्वाण दशक' है। इन श्लोकों की पाण्डित्यपूर्ण व्याख्या मधुसूदन सरस्वती ने की है जिसका नाम सिद्धान्त बिन्दु है।

(५) चर्पट पञ्जरिका—१७ श्लोकों में गोविन्द भजन का रसमय उपदेश है। प्रत्येक श्लोक का टेक पद है—

भज गोविन्दं भज गोविन्दं गोविन्दं भज मूढ़मते।

इसके पद्य नितान्त सरस, सुबोध तथा गीतिमय हैं। प्रसिद्ध नाम मोह मुद्गर है। अन्य नाम 'द्वादश मञ्जरी' या 'द्वादश पञ्जरिका' है।

(६) द्वादश पञ्जरिका—इसमें बारह पद्य हैं। प्रथम पद्य का आरम्भ 'मूढ़ जहीहि धनागमतृष्णां' से होता है। इन पद्यों की सुन्दरता नितान्त श्लाघनीय है।

(७) षट्पदी—इसका दूसरा नाम विष्णुषट्पदी है। इसके ऊपर लगभग छः टीकायें मिलती हैं जिनमें एक टीका स्वयं शङ्कराचार्य की है दूसरी टीका रामानुज मत के अनुसार की गई है। इस स्तोत्र का यह पद्य विशेष लोक-प्रिय है :—

सत्यपि भेदापगमे नाथ ! तव हं न मामकीनस्त्वम्।
सामुद्रो हि तरङ्गः क्वचन समुद्रो न तारङ्गः॥

(८) हरिमीडे स्तोत्र—इसके ऊपर विद्यारण्य, स्वयंप्रकाश, आनन्दगिरि तथा शङ्कराचार्य के द्वारा लिखित टीकायें उपलब्ध होती हैं। स्वयंप्रकाश की टीका मैसूर से प्रकाशित हुई है। विष्णु की प्रशस्त स्तुति इसमें की गई है :—

सर्वज्ञो यो यश्च हि सर्वः सकलो
यो यश्चानन्दोऽनन्तगुणो यो गुणधामा।
यश्चाव्यक्तो व्यस्तसमस्तः सह सद्यः
तं संसारध्वान्तविनाशं हरिमीडे॥

(९) मनीषा पञ्चक—इस स्तोत्र से सम्बद्ध एक विचित्र घटना हुई है। काशी में चाण्डाल वेशधारी विश्वनाथ के पूछने पर शङ्कर ने आत्मस्वरूप का वर्णन इन पद्यों में किया है। अन्तिम पाँच पद्यों के अंत में 'मनीषा' शब्द आता है। इसीलिए इसे 'मनीषा पञ्चक' कहते हैं, यद्यपि पूरे स्तोत्र में नव श्लोक मिलते हैं—

जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तिषु स्फुटतरा या संविदुज्जृम्भते,
या ब्रह्मादिपिपीलिकान्ततनुषु प्रोक्ता जगत्साक्षिणी।
सैवाहं न च दृश्यवस्त्विति दृढप्रज्ञापि यस्याऽस्ति चेत्,
चाण्डालोऽस्तु स तु द्विजोऽस्तु गुरुरित्येषा मनीषा मम॥

इसके ऊपर सदाशिवेन्द्र की टीका तथा गोपालबाल यति रचित 'मधुमंजरी' नामक व्याख्या मिलती है।

(१०) सोपान पञ्चक—इसी का दूसरा नाम 'उपदेश पञ्चक, है। इन पाँच पद्यों में वेदान्त के आचरण का सम्यक् उपदेश है। (वाणी विलास, शङ्कर ग्रन्थावली, भाग १६ पृ० १२७)।

(११) शिवभुजंग प्रयात—इसमें चौदह पद्य हैं। माधवाचार्य का कथन है (शङ्कर दिग्विजय १४।३७) कि इन्हीं पद्यों के द्वारा शङ्कर ने अपनी माता के अन्तकाल में भगवान् शङ्कर की स्तुति की थी जिससे प्रसन्न होकर उन्होंने अपने दूतों को भेजा था—

महादेव देवेश देवादिदेव,
स्मरारे पुरारे यमारे हरेति।
ब्रुवाणः स्मरिष्यामि भक्त्या भवन्तं
ततो मे दयाशील देव प्रसीद॥

(घ) प्रकरण ग्रन्थ

शङ्कराचार्य ने बहुसंख्यक छोटे-छोटे ग्रन्थों का निर्माण किया है जिनमें वेदान्त के विषय का वर्णन बड़ी ही सुन्दर भाषा में किया गया है। वेदान्त तत्त्व, प्रतिपादक होने से ये 'प्रकरण ग्रन्थ' कहलाते हैं, जिनमें वेदान्त के साधनभूत वैराग्य, त्याग, शमदमादि सम्पत्ति का तथा अद्वैत के मूल सिद्धान्तों का बड़ा ही विशद विवेचन है। आचार्य का अभिप्राय सर्वसाधारण जनता तक अद्वैत का सन्देश पहुँचाना था और इसी उद्देश्य की सिद्धि के लिए उन्होंने यह मनोरम साहित्यिक प्रयत्न किया। भाष्यों की भाषा तो नितान्त प्राञ्जल है, परन्तु उनकी तर्कशैली कठिन है, अतः वे विद्वानों की वस्तु हैं। सर्वसाधारण को इन भाष्यों के परिनिष्ठित सिद्धान्तों तथा उपादेय उपदेशों से परिचित कराने के लिए इन प्रकरण-ग्रन्थों का निर्माण किया गया है। ऐसे प्रकरण ग्रन्थों की संख्या बहुत अधिक है। इनमें से कुछ ग्रन्थों की शैली आचार्य के निःसन्दिग्ध ग्रंथों की शैली से इतनी भिन्न है कि उन्हें आचार्य की कृति मानना नितान्त अनुचित है। किन्हीं ग्रंथों में वेदान्त के मान्य विषयों का—आत्मा, अद्वैत, विषयनिन्दा—आदि का विशद प्रतिपादन है परन्तु अनेक ग्रन्थों में अद्वैत विरोधी सिद्धान्त भी उपलब्ध होते हैं। यथा—'अनादेरपि विध्वंसः प्रागभावस्य विक्षितः'—जिसमें आचार्य की मान्यता के विरुद्ध न्यायसम्मत अभाव के भेदों का निर्देश है। कहीं व्याकरण की अशुद्धियाँ भी मिलती हैं (यथा 'गाणापत्यैः' जीवन्मुक्तानन्दलहरी श्लोक १४ में तथा 'रमन्तः' यतिपञ्चक के चौथे पद्य में)। इन ग्रन्थों के कर्तृत्व का विचार करते समय आचार्य की लेखन-शैली, सिद्धान्त तथा पदविन्यास आदि पर ध्यान देने की बड़ी आवश्यकता है।

शङ्कराचार्य के नाम से प्रसिद्ध मुख्य-मुख्य प्रकरण-ग्रंथों का परिचय पहिले दिया जाता है। अनन्तर उनकी तुलनात्मक समीक्षा की जायगी। ग्रंथों के नाम वर्णक्रम से दिये जाते हैं:—

(१) अद्वैतपञ्चरत्न—अद्वैत के प्रतिपादक ५ श्लोक। प्रत्येक पद्य के अन्त में 'शिवोऽहम्' आता है। इस पुस्तक का नाम 'आत्मपञ्चक' तथा 'अद्वैतपञ्चक' भी है। पञ्चक नाम होने पर भी कहीं-कहीं एक श्लोक अधिक मिलता है।

(२) अद्वैतानुभूति—अद्वैततत्त्व का ८४ अनुष्टुपों में वर्णन।

(३) अनात्मश्रीविगर्हण प्रकरण—आत्मतत्त्व के साक्षात् न करने वाले तथा विषय-वासना में ही जीवन बिताने वाले व्यक्तियों की निन्दा प्रदर्शित की गई है। श्लोकसंख्या १८। प्रत्येक पद्य के अन्त में आता है—येन स्वात्मा नैव साक्षात् कृतोऽभूत्। उदाहरणार्थ पद्य दिया जाता है—

अब्धिः पद्भ्यां लंघितो वा ततः किं
वायुः कुम्भे स्थापितो वा ततः किम्।
मेरुः पाणावुद्धृतो वा ततः किं
येन स्वात्मा नैव साक्षात्कृतोऽभूत्॥

❀ (४) अपरोक्षानुभूति—अपरोक्ष अनुभव के साधन तथा स्वरूप का वर्णन। १४४ श्लोक। सिद्धान्त का प्रतिपादन बड़े ही सुन्दर दृष्टान्तों के सहारे किया गया है—

यथा मृदि घटो नाम कनके कुण्डलाभिधा।
शुक्तौ हि रजतख्यातिर्जीवशब्दस्तथापरे॥

'अपरोक्षानुभवामृत' नामक ग्रंथ इससे भिन्न प्रतीत होता है। इसके ऊपर प्राचीन आचार्यों की लिखी अनेक टीकायें हैं जिनमें एक आचार्य शङ्कर रचित है और दूसरी विद्यारण्य[1] रचित।

❀ (५) आत्मबोध—६८ श्लोकों में आत्मा के स्वरूप का विशद विवरण है। नाना उदाहरण देकर आत्मा को शरीर, मन तथा इन्द्रियादिकों से पृथक् सिद्ध किया गया है। बोधेन्द्र (गीर्वाणेन्द्र के शिष्य) ने इस ग्रन्थ के ऊपर 'भाव प्रकाशिका' टीका लिखी है। गुरु गीर्वाणेन्द्र किसी अद्वैत मठ के अधिपति थे और शिष्य बोधेन्द्र त्रिपुरसुन्दरी के उपासक थे[2]। इस पर आचार्य की तथा मधुसूदन सरस्वती की टीका का भी उल्लेख मिलता है। इसका १३ वाँ श्लोक 'वेदान्त परिभाषा' में उद्धृत किया गया है।

---

[1]यह टीका मैसूर से १८६८ में प्रकाशित शङ्करग्रन्थावली के द्वितीय भाग में है। टीका विद्यारण्य स्वामी की निःसन्दिग्ध रचना है, यह कहना कठिन है।

[2]द्रष्टव्य—तञ्जोर की हस्तलिखित पुस्तकों की सूची। परिचय संख्या ७१७४।

(६) उपदेश पञ्चक—पांच पद्यों में वेदान्त के आचरण का सम्यक् उपदेश।

* (७) उपदेशसाहस्री—इस ग्रन्थ का पूरा नाम है—सकल वेदोपनिषत्—सारोपदेशसाहस्री। इस नाम की दो पुस्तकें हैं—(१) गद्यप्रबन्ध—जिसमें गुरुशिष्य के संवाद रूप में वेदान्त के तत्त्व गद्य में विशदरूपेण वर्णित हैं। (२) पद्यप्रबन्ध—जिसमें वेदान्त के नाना विषयों पर १९ प्रकरण हैं। इसके अनेक पद्यों को सुरेश्वराचार्य ने 'नैष्कर्म्यसिद्धि' में उद्धृत किया है। अतः इसके आचार्यकृत होने में सन्देह नहीं किया जा सकता। इसकी शङ्कर रचित वृत्ति सम्भवतः आचार्य की कृति नहीं है। आनन्दतीर्थ तथा बोधनिधि की टीकायें मिलती है। रामतीर्थ ने गद्य-पद्य उभय प्रबन्धों पर अपनी सरल व्याख्या लिखी है। वेदान्तदेशिक (१२५० ई०) ने 'शतदूषणी' में 'गद्य प्रबन्ध' का भी उल्लेख किया है। कतिपय विद्वान् 'गद्य प्रबन्ध' को आचार्य शङ्कर की रचना नहीं मानते।

(८) एक श्लोकी सब ज्योतियों से विलक्षण परम ज्योति का एक श्लोक में वर्णन। इस नाम से दो श्लोक प्रसिद्ध हैं जिनमें से एक के ऊपर 'गोपाल योगीन्द्र' के शिष्य 'स्वयंप्रकाश' यति का 'स्वात्मदीपन' नामक व्याख्यान है।

(९) कौपीनपञ्चक—वेदान्त तत्त्व में रमण करने वाले ज्ञानियों का वर्णन। प्रत्येक श्लोक का अन्तिम चरण 'कौपीनवन्तः खलु भाग्यवन्तः' है। इसी का नाम 'यतिपञ्चक' है।

(१०) जीवन्मुक्तानन्द लहरी—शिखरिणी वृत्त के १७ पद्यों में जीवन्मुक्त पुरुष के आनन्द का ललित वर्णन। प्रत्येक पद्य का अन्तिम चरण है—'मुनिर्न व्यामोहं भजति गुरुदीक्षाक्षततमाः'। उदाहरण के लिए यह पद्य पर्याप्त होगा—

> कदाचित् सत्त्वस्थः क्वचिदपि रजोवृत्तिसुगत—
> स्तमोवृत्तिः क्वापि त्रितयरहितः क्वापि च पुनः।
> कदाचित् संसारी श्रुतिपथविहारी क्वचिदहो॥
> मुनिर्न व्यामोहं भजति गुरुदीक्षाक्षततमाः॥

(११) तत्त्वबोध—वेदान्त के तत्त्वों का प्रश्नोत्तर रूप से संक्षिप्त गद्यात्मक वर्णन।

(१२) तत्त्वोपदेश—'तत्' तथा 'त्वं' पदों का अर्थ वर्णन और गुरूपदेश से आत्मतत्त्व की अनुभूति। ८७ अनुष्टुप्। 'तत् त्वमसि' वाक्य के समझने के लिए त्रिविध—जहती, अजहती तथा जहदजहती—लक्षणा का सांग प्रदर्शन है।

> सामानाधिकरण्यं हि पदयोस्तत्त्वयोर्द्वयोः।
> सम्बन्धस्तेन वेदान्तैर्ब्रह्मैक्यं प्रतिपाद्यते॥

(१३) धन्याष्टक—ब्रह्मज्ञान से अपने जीवन को धन्य मानने वाले पुरुषों का रमणीय वर्णन । अष्टक होने पर भी कहीं-कहीं इसके अन्त में दो श्लोक और भी मिलते हैं ।

सम्पूर्णं जगदेव नन्दनवनं सर्वेऽपि कल्पद्रुमाः,
गाङ्गं वारि समस्तवारिनिवहः पुण्याः समस्ताः क्रियाः ।
वाचः प्राकृतसंस्कृताः श्रुतिगिरो वाराणसी मेदिनी,
सर्वावस्थितिरस्य वस्तुविषया दृष्टे परे ब्रह्मणि ॥

(१४) निर्गुण मानस पूजा—गुरु-शिष्य के संवाद रूप में निर्गुण तत्त्व की मानसिक पूजा का विवरण । इसमें ३३ अनुष्टुप् है । सगुण ईश्वर की उपासना के लिए पुष्पानुलेपन आदि वाह्य उपकरणों की आवश्यकता रहती है, परन्तु निर्गुण की उपासना के लिए नाना मानसिक भावनाएँ की बाहरी साधनों का काम करती हैं । इसी विषय का विस्तृत वर्णन इस ग्रन्थ में है ।

रागादिगुणशून्यस्य शिवस्य परमात्मनः ।
सरागविषयाभ्यासत्यागस्ताम्बूलचर्वणम् ॥
अज्ञानध्वान्तविध्वंसप्रचण्डमतिभास्करम् ।
आत्मनो ब्रह्मतोज्ञानं नीराजनमिहात्मनः ॥

(१५) निर्वाण मंजरी--१२ श्लोकों में शिवतत्व के स्वरूप का विवेचन । अद्वैत, व्यापक, नित्य तथा शुद्ध आत्मा का कमनीय वर्णन । प्रत्येक श्लोक के अन्त में कहीं 'शिवोऽहं' और कहीं 'तदेवाहमस्मि' आता है—

अहं नैव मन्ता न गन्ता न वक्ता
न कर्त्ता न भोक्ता न मुक्ताश्रमस्थः ।
यथाहं मनोवृत्तिभेदस्वरूप—
स्तथा सर्ववृत्तिप्रदीपः शिवोऽहम् ॥

(१६) निर्वाण षटक्—६ श्लोकों में आत्मस्वरूप का वर्णन । प्रत्येक श्लोक के चतुर्थ चरण के रूप में 'चिदानन्दरूपः शिवोऽहम् शिवोऽहम्' आता है । नेति नेति के सिद्धान्त का दृष्टान्तों के द्वारा विशद विवरण प्रस्तुत किया गया है ।

न पुण्यं न पापं न सौख्यं न दुःखम्
न मन्त्रो न तीर्थो न वेदा न यज्ञाः ।
अहं भोजनं नैव भोज्यं न भोक्ता
चिदानन्दरूपः 'शिवोऽहं शिवोऽहम्' ॥

❀ (१७) पंचीकरण प्रकरण—पञ्चीकरण का गद्य में वर्णन । सुरेश्वराचार्य ने इसके ऊपर वार्तिक लिखा है जिस पर शिवराम तीर्थ का विवरण मिलता है । इस 'विवरण' पर 'आभरण' नामक एक और भी टीका मिलती है । गोपाल-

योगीन्द्र के शिष्य स्वयंप्रकाश की 'विवरण टीका' के अतिरिक्त आनन्द गिरि ने भी इस पर 'विवरण' नामक टीका लिखी है। इस पर कृष्णतीर्थ के किसी शिष्य ने 'तत्वचन्द्रिका' नामक व्याख्या लिखी है। ये दोनों टीकाएँ प्रकाशित हो गयी हैं।

(१८) परापूजा—छः पद्यों में परम तत्व की पूजा का वर्णन है।

※ (१९) प्रबोध सुधाकर—वेदान्त तत्व का नितान्त मञ्जुल विवेचन। इसमें २५७ आर्याएँ हैं, जिनमें विषय की निन्दा कर वैराग्य तथा ध्यान का मनोरम प्रतिपादन किया गया है। भाषा बड़ी सुबोध तथा प्राञ्जल है। शैली आचार्य के ग्रंथों की रीति से मिलती-जुलती है।

प्राणस्पन्दनिरोधात्सत्सङ्गाद्वासनात्यागात् ।
हरिचरणभक्तियोगान्मनः स्ववेगं जहाति शनैः ॥
वैराग्यभाग्यभाजः प्रसन्नमनसो निराशस्य ।
अप्रार्थितफलभोक्तुः पुंसो जन्मनि कृतार्थतेह स्यात् ॥

(२०) प्रश्नोत्तर रत्नमालिका—प्रश्न और उत्तर के द्वारा वेदान्त का उपदेश। ६७ आर्याओं का नितान्त लोकप्रिय ग्रन्थ है।

पातुं कर्णाञ्जलिभिः किममृतमिव युज्यते ? सदुपदेशः ।
किं गुरुतायाः मूलं, यदेतदप्रार्थिनं नाम ॥
किं जीवितमनवद्यं किं जाड्यं पाठतोऽप्यनभ्यासः
को जागर्ति विवेकी, का निद्रा मूढता जन्तोः ॥

(२१) प्रौढ़ानुभूति—आत्मतत्व का लम्बे-लम्बे १७ पद्यों में प्रौढ़ वर्णन।

देहो नाहमचेतनोऽयमनिशं कुड्यादिवन्निश्चितो
नाहं प्राणमयोऽपि वा दृतिधृतो वायुर्यथा निश्चितः ।
सोऽहं नापि मनोमयः कपिचलः कार्पण्यदुष्टो न वा
बुद्धिर्बुद्धिकुवृत्तिरेव कुहना नाज्ञानमन्धन्तमः ॥

(२२) ब्रह्मज्ञानावली माला—२१ अनुष्टप् श्लोकों में ब्रह्म का सरल वर्णन। इसके कतिपय श्लोकों में 'इति वेदान्तडिण्डिमः' पद आता है जिसमें वेदान्त के मूल तत्वों का वर्णन किया गया है।

अहं साक्षीति यो विद्यात्, विविच्यैव पुनः पुनः ।
स एव मुक्तो विद्वान् स, इति वेदान्तडिण्डिमः ॥

(२३) ब्रह्मानुचिन्तन -- २८ पद्यों में ब्रह्मस्वरूप का वर्णन।

अहमेव परं ब्रह्म न चाहं ब्रह्मणः पृथक् ।
इत्येवं समुपासीत ब्राह्मणो ब्रह्मणि स्थितः ॥

(२४) मणिरत्नमाला—३२ श्लोकों में प्रश्नोत्तर के रूप से सुन्दर उपदेश।

पशोः पशुः को न करोति धर्मम्
प्राचीनशास्त्रेऽपि न चात्मबोधः ।
किं तद् विषं भाति सुधोपमं स्त्री
के शत्रवो मित्रवदात्मजाद्याः ।

(२५) मायापञ्चक—पाँच पद्यों में माया के स्वरूप का वर्णन ।

(२६) मुमुक्षु पञ्चक—पाँच शिखरिणी छन्दों में मुक्तिकामी पुरुष के स्वरूप का सुन्दर वर्णन किया गया है । छन्दों में प्रवाह आचार्य के अन्य ग्रन्थों की अपेक्षा बहुत ही कम है ।

(२७) योगतारावली—२९ पद्यों में हठयोग तथा राजयोग का प्रामाणिक वर्णन । इस ग्रंथ से केवल नामसाम्य रखने वाली दूसरी भी एक 'योगतारावली' है जिसके निर्माता का नाम 'नन्दिकेश्वर' है । शङ्कर ने इस ग्रन्थ में चक्रों का, बन्धों का तथा कुण्डलिनी को जागृत करने का बड़ा ही भव्य विवेचन किया है—

बन्धत्रयाभ्यासविपाकजातां विवर्जितां रेचकपूरकाभ्याम् ।
विशोधयन्तीं विषयप्रवाहां विद्यां भजे केवल कुम्भरूपाम् ॥

❀ (२८) लघुवाक्यवृत्ति—१८ अनुष्टुप् पद्यों में जीव और ब्रह्म की एकता का प्रतिपादन । इस पर अनेक टीकाओं की रचना की गई है, जिनमें एक तो स्वयं आचार्य शङ्कर की ही है और दूसरी रामानन्द सरस्वती की है । इस पर 'पुष्पाञ्जलि' नामक टीका भी मिलती है, जिसमें 'विद्यारण्य' का नाम उल्लिखित है । अतः इसका निर्माणकाल १४वीं शताब्दी से पीछे है ।

❀ (२९) वाक्यवृत्ति—'तत्वमसि' नाम के पदार्थ और वाक्यार्थ का विशद विवेचन । इसमें ५३ श्लोक हैं, जिनके द्वारा तत्, त्वं पदों के अर्थ—वाच्यार्थ और लक्ष्यार्थ का—निरूपण भली-भाँति किया गया है—

घटद्रष्टा घटाद्भिन्नः सर्वथा न घटो यथा ।
देहद्रष्टा तथा देहो नाहमित्यवधारय ॥

इसके ऊपर महायोगी माधवप्राज्ञ के शिष्य विश्वेश्वर पण्डित की 'प्रकाशिका' टीका है ।[1]

× (३०) वाक्यसुधा—४३ श्लोकों का विद्वत्तापूर्ण ग्रन्थ है जिसमें आत्मा के स्वरूप का वर्णन मार्मिक ढंग से किया गया है जिसका आरम्भ इस पद्य से होता है—

रूपं दृश्यं लोचनं दृक् तद् दृश्यं दृष्टमानसम्
दृश्याधीवृत्तयः साक्षी दृगेव न तु दृश्यते ॥

---

[1] इस टीका के साथ यह ग्रन्थ आनन्दाश्रम संस्कृतमाला में प्रकाशित हुआ है ।

दोनों का अपूर्व सामंजस्य दिखलाया है। आरम्भ के ४१ पद्यों में तान्त्रिक रहस्य का प्रतिपादन है तथा अन्त के ५९ पद्यों में भगवती त्रिपुरी सुन्दरी के अंग प्रत्यङ्ग का सरस तथा चमत्कारपूर्ण वर्णन है। षट् चक्रों में विराजमान भगवती के नाना मूर्तियों का वर्णन आचार्य ने बड़े पाण्डित्य के साथ किया हैं।[1]

इस ग्रन्थ के रचयिता के विषय में टीकाकारों में भी पर्याप्त मतभेद है। लक्ष्मीधर, भास्कर राय, कैवल्याश्रम आदि टीकाकारों ने शङ्कर भगवत्-पाद को ही सौन्दर्य-लहरी का रचयिता माना है। वल्लभदेव ने—जिनका समय १५वीं शताब्दी माना जाता है—अपनी 'सुभाषितावलि' में "जपो जल्पः शिल्पं सरलमपि मुद्राविरचना"—(सौ० ल०, श्लोक २७) को शङ्कराचार्य के नाम से उद्धृत किया है। अतः टीकाकारों के सम्प्रदायानुसार सौन्दर्यलहरी को आचार्य की निःसंदिग्ध रचना मानना उचित है। इस लहरी के पद्य में किसी द्रविड शिशु का उल्लेख है जिसे भगवती ने अपने स्तन का दुग्धपान स्वयं कराया था और जो इस दैवी कृपा के कारण कमनीय कवि बन गया था।[2] इस द्रविड शिशु के व्यक्तित्व के विषय में नाना मत हैं। अधिकांश टीकाकारों के मत में यह द्रविड़ शिशु तमिल देश के प्रसिद्ध शैव सन्त 'श्री ज्ञान सम्बन्ध' थे। तमिल देश के जिन चार शैव सन्तों ने शैव मत का विपुल प्रचार किया उनमें इनका स्थान महत्त्वपूर्ण है। 'ज्ञानसम्बन्ध' का समय विक्रम की छठी या सातवीं शताब्दी है। इस उल्लेख से प्रतीत होता है कि आचार्य शङ्कर का समय इसके पूर्व कभी भी नहीं हो सकता।

(२) प्रपञ्चसार—यह ग्रन्थ तान्त्रिक परम्परा से आदिशङ्कर की ही रचना माना जाता है। यद्यपि आधुनिक आलोचकों की दृष्टि में यह बात सन्दिग्ध है, तथापि प्राचीन परम्परा तथा ऐतिहासिक अनुशीलन से यह आचार्य की ही कृति ज्ञात होता है। इसकी 'विवरण' नामक टीका भी है जिसके रचयिता पद्मपाद हैं। पद्मपाद के

---

[1] इनमें से कतिपय टीकाओं तथा अंग्रेजी अनुवाद के साथ यह ग्रन्थ मद्रास से हाल में प्रकाशित हुआ है। अड्यार (मद्रास) वाले संस्करण में अनुवाद के साथ अंग्रेजी में व्याख्या भी है।

[2] तव स्तन्यं मन्ये धरणिधरकन्ये ! हृदयतः
पयः पारावारः परिवहति सारस्वत इव।
दयावत्या दत्तं द्रविडशिशुरास्वाद्य तव यत्
कवीनां प्रौढानामजनि कमनीयः कवयिता ॥

—सौन्दर्य लहरी, पद्य ७५

व्याख्याता होने का तात्पर्य है कि यह ग्रन्थ वस्तुतः आचार्य-कृत ही है। टीकाकार की सम्मति में इस ग्रन्थ के रचयिता सुप्रसिद्ध शङ्कराचार्य ही हैं, जिन्होंने किसी 'प्रपञ्चागम' नामक प्राचीन तन्त्र का सार इस ग्रन्थ में रक्खा है।[1] इस सिद्धान्त की पुष्टि अन्य प्रमाणों से की जा सकती है।[2]

अमरप्रकाश के शिष्य उत्तमबोधाचार्य ने 'प्रपञ्चसार-सम्बन्ध-दीपिका' टीका में लिखा है कि 'प्रपञ्चसार' प्रपञ्चागम नामक किसी प्राचीन ग्रन्थ का सारमात्र है। यह शङ्कर का कोई अभिनव ग्रन्थ नहीं है (मद्रास की सूची न० ५२६६)। प्रपञ्चसार विवरण की एक व्याख्या भी मिली है जिसका नाम है 'प्रयोगक्रमदीपिका'। इस टीका का स्पष्ट कथन है कि विवरण के कर्ता प्रपञ्चसार ने अपने गुरु शङ्कर के प्रति आदर प्रकट करने के लिए ही भगवान् पद का प्रयोग किया है—(भगवान् इति पूजा स्वगुर्वनुस्मरणं ग्रन्थारम्भे क्रियते)। प्रपञ्चसार का मंगल श्लोक शारदा की स्तुति में है। इसका भी रहस्य क्रमदीपिका में बतलाया गया है। दीपिका के रचयिता का कहना है कि शङ्कराचार्य ने इस ग्रन्थ की रचना काश्मीर रहते समय ही की। काश्मीर की अधिष्ठात्री देवी शारदा जी हैं। अतः उन्हीं भगवती शारदा की स्तुति शङ्कर ने इस ग्रंथ के आरम्भ में की है। यह प्रसिद्ध बात है कि आदि शङ्कराचार्य ने इस देवी के मंदिर में सर्वज्ञपीठ पर अधिरोहण किया था। अतः 'क्रमदीपिका' का यह मत 'शारदा तिलक' के टीकाकार राघवभट्ट, 'षट्चक्र-निरूपण' के टीकाकार कालीचरण आदि तंत्रनिष्णात पण्डितों की सम्मति से बिलकुल सामञ्जस्य रखता है।

अद्वैत वेदांत के पंडितों ने भी इसे आदिशङ्कर की कृति माना है। अमलानंद ने वेदान्त कल्पतरु (१। ३। ३३) में इसे आचार्यकृत माना है—तथा चावोचन्नाचार्याः प्रपञ्चसारे—

> अवनिजलानलमारुतविहायसां शक्तिभिश्च तद्बिम्बैः।
> सारूप्यमात्मनश्च प्रतिनीत्वा तत्तदाशु जयति सुधीः ॥

ब्रह्मसूत्र १। ३। ३३ के भाष्य के अंत में आचार्य ने श्रुति द्वारा योग माहात्म्य के प्रतिपादन करने के निमित्त, 'पृथिव्यप्तेजोऽनिलखे समुत्थिते' (श्वेता० २। १४)

[1] इह खलु भगवान् शङ्कराचार्यः समस्तागमसारसंग्रहप्रपञ्चागमसारसंग्रहरूपं ग्रन्थं चिकीर्षुः।

[2] काश्मीर मण्डले प्रसिद्धेयं देवता। तत्र निवसता आचार्येण अयं ग्रन्थः कृतः इति तदनुस्मरणोत्पत्तिः सकलागमानामधिदेवतेयमिति—(पृ० ३८२)। उक्त प्रपञ्चसारविवरण तथा प्रयोगक्रमदीपिका के साथ कलकत्ते से 'तान्त्रिक टेक्स्ट्स' नामक ग्रन्थमाला (नं० १८। १९) में दो भागों में प्रकाशित हुआ है।

को उद्धृत किया है। इसी मंत्र का अर्थ करने के लिए अमलानंद ने प्रपञ्चसार का श्लोक उद्धृत किया है।[1] इतना ही नहीं नरसिंहपूर्वतापिनी के भाष्य में भी शङ्कर ने प्रपञ्चसार से अनेक श्लोक ही नहीं उद्धृत किए हैं, प्रत्युत् 'प्रपञ्चागमशास्त्र' को भी अपनी ही कृति बतलाया है। अतएव 'हृदयाद्यंग मंत्राणामर्थंव्याचक्षाणैरस्माभि-रुक्तं प्रपञ्चागमशास्त्रे हृदयं बुद्धिगम्यत्वात्। (प्रपञ्चसार ६।७ पृ० ८०)। इस उद्धरण में ग्रंथ का नाम 'प्रपञ्चागम' दिया गया है। परंतु उपनिषद्भाष्य में (४।२) इसे 'प्रपञ्चसार' ही कहा गया है। इन प्रमाणों के आधार पर, आदि शङ्कर को ही प्रपञ्चसार का रचयिता मानना युक्तियुक्त प्रतीत होता है।

---

[1] प्रपञ्चसार के १९वें पटल में यह ५७वां श्लोक है। (पृ० २३२)। अन्तर इतना है कि 'तद् बिम्बैः' के स्थान पर' तद्बीजैः' पाठ है। विवरण में इस पद्य की व्याख्या नहीं है पर अमलानन्द तथा अप्पय दीक्षित ने अर्थ किया है।

पञ्चदश परिच्छेद

शिष्य-परिचय

आचार्य शङ्कर ने वैदिक धर्म के प्रसार के निमित्त अनेक शिष्यों को तैयार किया था। इन शिष्यों की संख्या के विषय में प्रचलित मत यही है कि इनके प्रधान शिष्य चार थे और ये चारों ही संन्यासी थे। आचार्य ने ही उन्हें संन्यास आश्रम में दीक्षित किया था। श्री विद्यार्णवतन्त्र में उल्लिखित मत इससे भिन्न पड़ता है। उसके अनुसार शङ्कराचार्य के चौदह शिष्य थे जो सब देवी के उपासक तथा निग्रहानुग्रह सम्पन्न अलौकिक व्यक्ति थे। इनमें केवल ५ शिष्य संन्यासी थे और अन्य ९ शिष्य गृहस्थ थे। इन शिष्यों का विवरण आगे दिया जायगा।

प्रधान चारों शिष्यों के नाम थे—सुरेश्वराचार्य, पद्मपादाचार्य, हस्तामलकाचार्य तथा त्रोटकाचार्य। इनमें सुरेश्वर तथा पद्मपाद अपने गुरु के समान ही अलौकिक पुरुष थे। उनकी रचनाओं से इनकी असाधारण विद्वत्ता तथा असामान्य प्रतिभा का पर्याप्त परिचय मिलता है। हस्तामलक तथा त्रोटकाचार्य के विषय में ज्ञातव्य बातों का पता नहीं मिलता। शङ्कर दिग्विजय के अनुसार इनके पूर्व चरित का सामान्य ज्ञान हमें प्राप्त है, परन्तु इनकी रचनाओं के विषय में हमारी जानकारी बिल्कुल ही कम है। आचार्य शङ्कर ने भारत के चारों धाम में चार पीठ स्थापित कर इन्हीं शिष्यों को उनका अध्यक्ष बना दिया। इनमें पद्मपाद गोवर्धनमठ के अध्यक्ष बनाये गए, सुरेश्वर शृंगेरी मठ के, हस्तामलक शारदापीठ के तथा त्रोटकाचार्य ज्योतिर्मठ (जोशी मठ) के। इन शिष्यों के विषय में ज्ञातव्य बातें यहाँ संगृहीत की जाती हैं।

सुरेश्वराचार्य

आचार्य सुरेश्वर का व्यक्तिगत परिचय हमें नहीं मिलता। इनके ग्रन्थ ही इनके अलौकिक पाण्डित्य के ज्वलन्त दृष्टान्त हैं। हमने दिखलाया है कि ये ही ब्रह्मसूत्र पर आचार्य के भाष्य की वृत्ति लिखने वाले थे। शङ्कर ने इन्हें इस कार्य के लिए नितान्त उपयुक्त समझा था, परन्तु शिष्यों के विरोध करने पर इन्हें स्वतन्त्र ग्रन्थ तथा वार्तिक लिखने का शङ्कर ने आदेश दिया। गुरु की आज्ञा मानकर इन्होंने शारीरक भाष्य पर वृत्ति न लिखी, प्रत्युत् उपनिषद् भाष्य पर वार्तिक बनाये। नैष्कर्म्य सिद्धि' तैत्तिरीयोपनिषद् भाष्य वार्तिक, बृहदारण्यक भाष्य वार्तिक, दक्षिणामूर्ति स्तोत्र-वार्तिक (अथवा मानसोल्लास), पञ्चीकरण वार्तिक, काशीमृतिमोक्षविचार आदि ग्रन्थ सुरेश्वर की विख्यात रचनायें हैं। वेदान्त शास्त्र के इतिहास में 'वार्तिककार'

पद से केवल सुरेश्वराचार्य का ही बोध होता है। ये केवल वेदान्त के ही विद्वान् न थे, प्रत्युत् धर्मशास्त्र में भी इनका पाण्डित्य अगाध था।

याज्ञवल्क्य स्मृति पर 'बाल क्रीडा' नामक विख्यात टीका उपलब्ध होती है। इसके रचयिता का नाम विश्वरूपाचार्य है। विद्वानों का मत है कि विश्वरूप सुरेश्वर का ही नामान्तर था। माधवाचार्य ने पराशरस्मृति की अपनी सुप्रसिद्ध टीका 'पराशर-माधव' में बृहदारण्यकभाष्य-वार्तिक के वचन उद्धृत कर उसे विश्वरूपाचार्य की रचना माना है—

विश्वरूपाचार्य

वार्तिके विश्वरूपाचार्य उदाजहार—
'आम्रे फलार्थे' इत्यादि ह्यापस्तम्बस्मृतेर्वचः
फलभावत्वं समाचष्टे नित्यानामपि कर्मणाम्।

बालक्रीडा के अतिरिक्त धर्मशास्त्र में उनके और भी दो ग्रन्थों का परिचय मिलता है। उनमें से एक का नाम है 'श्राद्ध कलिका' जिसमें श्राद्ध का विशेष रूप से वर्णन है। दूसरा गद्यपद्यात्मक निबन्ध है जिसमें आचार्य आदि का विशेष रूप से प्रतिपादन किया गया है। रघुनन्दन भट्टाचार्य ने अपने 'उद्वाह तत्त्व' में जो 'विश्वरूप-समुच्चय' नामक एक संग्रह ग्रन्थ का उल्लेख किया है, संभव है वह ग्रन्थ यही हो।

अद्वैतवेदान्त के इतिहास में यह बात नितान्त प्रसिद्ध है कि सुरेश्वराचार्य का गृहस्थाश्रम का नाम मण्डन मिश्र था।[1] यह भी प्रसिद्ध है कि सुरेश्वर पहले कुमारिल के शिष्य थे तथा कर्मकाण्ड के प्रतिष्ठापक-मीमांसक थे। शङ्कराचार्य ने जब उन्हें परास्त कर अपने मत में दीक्षित किया तब उनका नाम सुरेश्वर पड़ गया और संन्यासी की अवस्था में उन्होंने जिन ग्रन्थों का प्रणयन किया उनका विषय ज्ञान काण्ड ही है, कर्म-काण्ड नहीं। सुरेश्वर और मण्डन की एकता शङ्कर-दिग्विजय के आधार पर अवलम्बित है। माधवाचार्य ने स्पष्ट लिखा है कि सुरेश्वर के द्वारा ब्रह्मसूत्र पर व्याख्या लिखने का विरोध आचार्य की शिष्य-मण्डली ने इसी कारण किया कि वे गृहस्थाश्रम में एक प्रसिद्ध मीमांसक थे जिनका आग्रह कर्मकाण्ड के ऊपर बहुत ही अधिक था। आचार्य के सामने सुरेश्वर ने इस बात का प्रतिवाद किया कि उनका आग्रह ज्ञान-काण्ड के ऊपर किसी भी अन्य संन्यासी शिष्य से घट कर था, तथापि आचार्य के समझाने पर उन्होंने व्याख्या लिखने का विचार सदा के लिये छोड़ ही दिया। केवल वार्तिकों की रचना कर उन्होंने अद्वैतवेदान्त को पुष्ट तथा लोकप्रिय बनाने का उद्योग

[1] द्रष्टव्य, माधव—शं० दि०; सर्ग ३, १—३६ इनका नाम 'विश्वरूप' भी बतलाया गया है ३।४२। श्री विश्वरूपगुरुणा प्रहितौ द्विजाती आदि।

किया। दिग्विजयों के इसी आधार पर पण्डित समाज सुरेश्वर और मण्डन को एक ही अभिन्न व्यक्ति मानता आ रहा है। परन्तु आजकल के नवीन पण्डितों ने विशेष रूप से आलोचना कर यह बात प्रायः सिद्ध कर दी है कि सुरेश्वर मण्डन से बिलकुल भिन्न थे। ये भिन्न ही व्यक्ति न थे बल्कि इनका समय भी एक नहीं था। मण्डन मिश्र प्राचीन हैं और सुरेश्वर उनसे अर्वाचीन। दोनों के सिद्धान्त अनेक अंशों में भिन्न-भिन्न प्रतीत होते हैं। ऐसी दशा में दोनों की अभिन्नता मानने के लिये विचारशील विद्वान् प्रस्तुत नहीं हैं।

अद्वैत वेदान्त के उच्चकोटि के माननीय ग्रन्थों तथा द्वैत संप्रदाय की पुस्तकों के अनुशीलन से यह बात बिलकुल स्पष्ट हो जाती है कि ये ग्रन्थकार सुरेश्वर को मण्डन मिश्र से सदा भिन्न मानते आये हैं—(१) संक्षेप शारीरक में सर्वज्ञात्म मुनि तथा उनके टीकाकार ने दोनों में भेद बतलाया है। इतना ही नहीं, वे मानते हैं कि मण्डन मिश्र भी अद्वैतवादी हैं, परन्तु उनका अद्वैत प्रस्थान शङ्कराचार्य के प्रस्थान से बिलकुल भिन्न है। (२) प्रकाशात्म यति ने अपने ग्रन्थों—विवरण तथा शब्द निर्णय— में सुरेश्वर के मत का मण्डन किया है और मण्डन के मत का खण्डन किया है। जब कभी मण्डन मिश्र को अपने सिद्धान्त की पुष्टि के लिये उद्धृत किया है तब उन्हें ब्रह्मसिद्धकार कहा है, सुरेश्वर नहीं। (३) आनन्दबोध ने अपने 'न्यायमकरन्द' में ब्रह्मसिद्धि से अनेक उद्धरण दिये हैं और उसके मत को स्वीकार भी किया है। अन्य स्थानों पर उन्होंने सुरेश्वर के मत को स्वीकृत किया है। ग्रन्थ के अनुशीलन से साफ मालूम पड़ता कि है ग्रन्थकार सुरेश्वर और मण्डन को भिन्न-भिन्न व्यक्ति मान रहा है।

अद्वैत ग्रन्थों का मत

(४) आनन्दानुभव-- वेदान्त के माननीय आचार्य हैं। इन्होंने अपने ग्रन्थ 'न्यायरत्नदीपावली' में इस विषय में जो कुछ लिखा है, वह इतना स्पष्ट है कि मण्डन से सुरेश्वर की भिन्नता होने में किसी प्रकार का सन्देह नहीं रह जाता। प्रसङ्ग है संन्यास का। संन्यास के विषय में दो प्रकार के मत मिलते हैं:—

(क) त्रिदण्ड-संन्यास जो भास्कर तथा उनके अनुयायियों को सम्मत है।

(ख) एकदण्ड-संन्यास जिसमें वैदिक कर्मों का संपूर्ण रूप से परित्याग कर दिया जाता है। यहाँ तक कि शिखा तथा सूत्र (यज्ञोपवीत) तक का परित्याग इसमें कर दिया जाता है। इस 'न्यायरत्न दीपावली' के पूर्वोक्त प्रकरण में आनन्दानुभव ने विश्वरूप, प्रभाकर गुरु, मण्डन, वाचस्पति तथा सुचरित मिश्र को वैदिक-धर्म का आचार्य तथा माननीय व्याख्याता लिखा है, जिन्होंने एकदण्ड संन्यास को ही प्रामाणिक स्वीकार किया है। यह भी लिखा है कि विश्वरूप और प्रभाकर स्वयं एकदण्ड संन्यासी बने थे, विश्वरूप ने गृहस्थाश्रम की दशा में लिखे गये अपने

स्मृति ग्रन्थ में ही एकदण्डि संन्यास को ग्राह्य तथा उपादेय बतलाया है। विश्वरूप का ही संन्यास ग्रहण करने पर सुरेश्वर नाम पड़ा।[1]

(५) नैष्कर्म्यसिद्धि की टीका विद्यासुरभि बड़ी प्रामाणिक व्याख्या है। इसके लेखक का नाम ज्ञानामृत है। इन्होंने इस व्याख्या में मण्डन के मत का खण्डन किया है और यह बात स्पष्ट रूप से उद्घोषित की है कि मण्डन का अद्वैत-सम्प्रदाय सत् सम्प्रदाय नहीं है। परन्तु सुरेश्वर का अद्वैत शंकराचार्य के अनुकूल होने के कारण सत् सम्प्रदाय अवश्यमेव है। यह कथन नितान्त स्पष्ट तथा सन्देह विरहित है।

इन निर्देशों से हम यही निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि प्राचीन अद्वैताचार्यों के मत में सुरेश्वर, मण्डन से बिलकुल भिन्नव्यक्ति माने जाते थे। इन दोनों ग्रंथकारों के अद्वैत विषयक मत की समीक्षा करने पर यह बात और भी स्पष्टरूप से प्रमाणित हो जाती है।

मण्डन मिश्र भी अद्वैतवादी थे। सौभाग्यवश उनका मूल ग्रंथ—ब्रह्मसिद्धि—हाल में ही मद्रास[2] से प्रकाशित हुआ है। ब्रह्मसिद्धि की प्राचीन काल में बड़ी मान्यता थी। अद्वैत, द्वैत तथा मीमांसा शास्त्र के आचार्य ने इस

ब्रह्मसिद्धि

ग्रंथ का उल्लेख खण्डन के लिए या मण्डन के लिये बड़े आदर के साथ अपने ग्रंथों में किया है। इस ग्रंथ का सम्पादन पं० कुप्पुस्वामी शास्त्री ने बड़े परिश्रम के साथ किया है और आरम्भ में एक बड़ी विद्वतापूर्ण भूमिका लिखी है जिसमें ग्रंथ के महत्त्व, सिद्धांत तथा अनेक ऐतिहासिक वृत्तों का बड़ा ही मार्मिक विवेचन है। इस ग्रन्थ पर स्वयं वाचस्पति मिश्र ने ब्रह्मतत्त्व-समीक्षा नामक व्याख्या लिखी थी जिसका निर्देश उन्होंने भामती में स्थान-स्थान पर किया है। परन्तु दुर्भाग्यवश यह ग्रन्थ अभी तक उपलब्ध नहीं हुआ है। मूल ग्रन्थ के साथ जो टीका छपी है, वह शंखपाणि की लिखी हुई है। यह व्याख्या नितान्त विशद तथा वाचस्पति की टीकानुसारिणी है। इस ग्रन्थ के

---

[1] किञ्च प्रसिद्धप्रभावैर्विश्वरूप-प्रभाकर मण्डन-वाचस्पति-सुचरितमिश्रैः शिष्टाग्रणीभिः परिगृहीतस्य कथं द्वेषमोहाभ्यां विनापलापसंभवः। ननु विश्वरूप-प्रभाकरौ भवत्पक्षपतितौ तावप्येकदण्डिनौ। गृहस्थावस्थायां विरचिते च विश्वरूप ग्रन्थे दर्शितवाक्यपरिग्रहो दृश्यते। न चासौ ग्रन्थः संन्यासिनाविरचितः। तथाहि परिव्राजकाचार्य-सुरेश्वर विरचितेति ग्रन्थे नाम लिखेत्, लिखितं तु भट्टविश्वरूप विरचितेति ॥—यह ग्रन्थ अप्रकाशित है। इसका उद्धरण कुप्पुस्वामी ने प्रसिद्धि की भूमिका में किया है।

[2] मद्रास गवर्मेण्ट मेनुस्क्रिप्ट सीरीज नं० ४, मद्रास १९३७

प्रकाशन से पहले भी मण्डन मिश्र के मत की विशिष्टता का परिचय हमें अन्य ग्रन्थों के आधार पर अवश्य था। मण्डन भी अद्वैतवादी हैं परन्तु उनका अद्वैतवाद शङ्कर के अद्वैतवाद से नितान्त भिन्न है। शङ्कर-शिष्य सुरेश्वर ने नैष्कर्म्यसिद्धि तथा उपनिषद् भाष्यवार्तिक में जिस अद्वैतवाद का प्रतिपादन तथा प्रतिष्ठापन किया है उससे भी यह सर्वथा भिन्न है।

नैष्कर्म्यसिद्धि का खण्डन

नैष्कर्म्यसिद्धि में सुरेश्वराचार्य ने तीन प्रकार के समुच्चयवाद का खण्डन किया है। इनमें से पहला मत ब्रह्मदत्त का है जो शङ्कर-पूर्व काल के एक प्रौढ़ तथा प्रकाण्ड वेदान्ताचार्य थे। यह बात नैष्कर्म्यसिद्धि की विद्या-सुरभि टीका (१।६७) में कही गई है तथा आनन्दज्ञान ने सम्बन्ध वार्तिक (७।६७) में इसका समर्थन किया है। दूसरा मत मण्डन मिश्र का है जिसका खण्डन सुरेश्वर ने वार्तिक (४।४।७८६—८१०) में किया है। तीसरा मत भेदाभेदवादी भर्तृप्रपंच का है। ध्यान देने की बात यह है कि शङ्कराचार्य के समान ही ब्रह्मदत्त तथा मण्डन मिश्र अद्वैतवादी हैं परन्तु फिर भी मुक्ति का साधन ज्ञान है या कर्म या दोनों का समुच्चय, इस विषय को लेकर तीनों आचार्यों में पर्याप्त मतभेद है। ब्रह्मदत्त भी अद्वैतवादी हैं। मण्डन भी अद्वैत के पक्षपाती हैं। दोनों ज्ञान कर्म के समुच्चयवादी हैं परन्तु फिर भी इन दोनों का मत एक नहीं है। आचार्य तो सदा से समुच्चयवाद के विरोधी रहे हैं। उनका तो परिनिष्ठित मत है कि कर्म से ही स्वतः या ज्ञान के साथ मिलकर किसी प्रकार भी मुक्ति की प्राप्ति नहीं हो सकती। मोक्ष की प्राप्ति तो ज्ञान से ही होती है। सुरेश्वर भी इसी मत को मानते हैं परन्तु मण्डन मिश्र का मत इससे भिन्न है।

मण्डन का समुच्चयवाद

मण्डन के मत में क्रिया अथवा उपासना में ही उपनिषद् वाक्यों का तात्पर्य है। तत्त्वमसि आदि वाक्यविधि वाक्य के ही अधीन हैं। उपनिषद् वाक्यों के श्रवण से जो ज्ञान उत्पन्न होता है वह मण्डन की दृष्टि में परोक्ष होता है और वाक्य में आये हुए शब्दों के साथ संसर्गयुक्त (संश्लिष्ट विषय) होता है। इस श्रावण ज्ञान के अनन्तर उपासना अर्थात् ध्यान की अत्यन्त आवश्यकता है क्योंकि वेदान्त वाक्यों से जो 'अहं ब्रह्म' इत्याकारक ज्ञान होता है वह संसर्गात्मक होता है, अतः उससे आत्मा के स्वरूप की ठीक-ठीक प्रतिपत्ति नहीं होती। साधारण वाक्यों से जो शाब्दी प्रमा उत्पन्न होती है वह उस वाक्य में आये हुए इतर पदों के साथ सम्बन्ध अवश्य रखती है। उपनिषद् वाक्यों की भी मण्डन की दृष्टि में यही दशा है। इस प्रमा के संश्लिष्ट तथा परोक्ष रूप को विशुद्ध करने के लिए यह आवश्यक है कि उसके अर्थ का बार-बार मनन किया जाय—अभ्यास किया

जाय। इसी अभ्यास का नाम उपासना या प्रसंख्यान है। इस उपासना से विशुद्ध होने पर उपनिषद् वाक्य अज्ञान को निवृत्ति करते हैं- तथा ब्रह्म साक्षात्कार कराने में समर्थ होते हैं। इस विषय में श्रुति का प्रमाण स्पष्ट है—'विज्ञाय प्रज्ञां कुर्वीत ब्राह्मणः'[1]। इसका अभिप्राय यह है कि विज्ञान के अनन्तर प्रज्ञा का साधन करना चाहिए, अर्थात् संश्लिष्ट रूप ब्रह्म को जानकर असंसर्गात्मक ज्ञान का निरन्तर अभ्यास करना चाहिए। इस प्रकार मण्डन के मत में ज्ञान और प्रसंख्यान का समुच्चय है। उनके मत में लौकिक तथा वैदिक सब प्रकार के वाक्यों से संसर्गात्मक वाक्यार्थं बोध होता है। इसीलिए 'तत्त्वमसि' आदि वाक्यों से 'अहं ब्रह्म' कारक संसर्गात्मक ज्ञान पहले होता है। अन्तर उपासना करने से असंसर्गात्मक ज्ञान का उदय होता है। यही ज्ञान मोक्ष का प्रधान साधन है। इसी से कैवल्य का आविर्भाव होता है।

मण्डन मिश्र का यही समुच्चयवाद है जिसे सुरेश्वर ने नैष्कर्म्यसिद्धि[2] तथा वार्तिक[3] में बड़े आग्रह तथा उत्साह के साथ किया है। अमलानन्द ने अपने 'कल्पतरु' में उक्त प्रसंख्यान मत को वाचस्पति का बतलाया है। वस्तुतः यह मण्डन का ही मत है। सुरेश्वर के ग्रन्थ के सिवाय 'ब्रह्मसिद्धि' में भी यह मत[4] मिलता है। इससे हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि मण्डन प्रसंख्यान के पक्षपाती थे, परन्तु सुरेश्वर आचार्य शङ्कर की भाँति ज्ञान को मोक्ष का प्रधान साधन मानते थे। इस मत-वैषम्य से स्पष्ट मालूम पड़ता है कि मण्डन और सुरेश्वर दो व्यक्ति थे, एक ही अभिन्न व्यक्ति नहीं।

'ब्रह्मसिद्धि' के सम्पादक पण्डित कुप्पुस्वामि शास्त्री इस प्रश्न की विशद समीक्षा कर इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि (१) 'ब्रह्मसिद्धि' के रचयिता मण्डन न तो

निष्कर्ष

शङ्कर के शिष्य थे न उन्होंने कभी संन्यास ग्रहण किया था। वह सुरेश्वर से भिन्न व्यक्ति थे। उनका अद्वैत 'प्रस्थान' से

---

[1] बृहदारण्यक ४।४।२१

[2] नैष्कर्म्यसिद्धि, पृष्ठ ३८,१५९—१६२ तृतीय परिच्छेद, श्लोक ८८—९३ तथा १२३—१२६

[3] बृहदारण्यकभाष्यवार्तिक—भाग १, श्लोक ८१८—४९ तथा तृतीय भाग, पृ० १८५२—७८ तथा श्लोक ७९६—९६१

[4] परोक्षरूपं शाब्दं ज्ञानं, प्रत्यक्षरूपः प्रपञ्चावभासः तेन तयोरविरोधेन प्रपञ्चावभासो नात्मा संस्पर्शी नाकिञ्चित्करः ननु बन्धः. . . .उपासनादिना साक्षात्कृतात्मतत्त्वस्य तु विरोधात् सन्नपि प्रपञ्चावभासो नात्मसंस्पर्शी . . . . नित्यश्च आत्मतत्त्वप्रकाशः तत्र न पुनर्विपर्ययावकाशोऽस्ति शाब्दं तु प्रमाणाधीनं क्षणिकं ज्ञानं तत्र पुनरपि विपर्ययावकाशः। —ब्रह्मसिद्धि, पृ० १३४

भिन्न था। (२) सुरेश्वर का ही गृहस्थाश्रम का नाम विश्वरूप था, वे उस समय कुमारिल भट्ट के शिष्य थे। शङ्कर के सम्पर्क में आकर वे उनके शिष्य और संन्यासी हुए। उन्होंने अपने वार्तिक और नैष्कर्म्यसिद्धि में मण्डन मिश्र के द्वारा 'ब्रह्मसिद्धि' में निर्दिष्ट तथा व्याख्यात अनेक अद्वैत सिद्धान्तों का खण्डन किया है। सुरेश्वर शाङ्कर प्रस्थान के पक्के अनुयायी थे जिसका तिरस्कार उन्होंने अपने ग्रन्थों में नहीं किया है।

'ब्रह्मसिद्धि' के अब प्रकाशित हो जाने पर यह स्पष्ट मालूम होता है कि सुरेश्वर और मण्डन भिन्न व्यक्ति हैं। शङ्कराचार्य के साथ मण्डन मिश्र का बड़ा शास्त्रार्थ हुआ। प्रत्येक दिग्विजय यह बात आग्रहपूर्वक कहता है। हमारा अनुमान है कि शङ्कर ने भिन्न प्रकार के अद्वैतवाद के समर्थक होने के कारण ही मण्डन के खण्डन में इतना आग्रह दिखलाया है। शङ्कर मण्डन के मत को उपनिषद् की सरणि से भिन्न समझते थे। यही कारण है कि उन्होंने अपने प्रतिद्वन्द्वी के मत का प्रबल खण्डन किया।

पद्मपाद

इनका यथार्थ नाम सनंदन था। ये चोल देश के निवासी थे। बाल्यकाल में ही अध्ययन के लिए काशी आये। यहीं पर आचार्य से इनकी भेंट हुई। आचार्य ने इन्हें संन्यास-दीक्षा देकर अपना शिष्य बनाया। ये आचार्य के प्रथम शिष्य हुए। अद्वैत-वेदान्त के प्रचार में इन्होंने आचार्य की बड़ी सहायता की। ये बड़े भक्त शिष्य थे। शङ्कर ने शिष्य-मण्डली के द्वेषभाव को दूर करने के लिए जो परीक्षा ली थी, उसका उल्लेख पीछे किया जा चुका है। शङ्कर की करुण पुकार सुनकर उनके पास शीघ्र पहुँचने के लिए ये अलकनन्दा को पार करने के लिये पुल की उपेक्षा कर सीधे ही चल पड़े। नदी में प्रविष्ट होते इनके चरण न्यास से क्रमशः कमल उत्पन्न होने लगे और उन्हीं पर पाँव रखते हुए ये अनायास पार पहुँच गये। तभी से इनका नाम पद्मपाद (वह पुरुष जिसके पैर के नीचे कमल हो) पड़ा।

चिद्विलास[1] यति ने इनका कुछ भिन्न ही वृत्तान्त दिया है। इनके पिता का नाम माधवाचार्य था जो बड़े विद्वान् तथा धनाढ्य व्यक्ति थे। माता का नाम लक्ष्मी था। ये लोग अहोबल नामक दक्षिण के प्रसिद्ध क्षेत्र में रहते थे और नरसिंह के बड़े अच्छे उपासक थे। नरसिंह की ही कृपा से पद्मपाद का जन्म हुआ था। इनका पूर्व नाम विष्णु शर्मा[2] था। ये भी अपने पिता के समान नरसिंह के बड़े भारी उपासक थे। अपने इसी इष्ट देवता की प्रेरणा से आचार्य से मिलने के लिए ये

---

[1] चिद्विलास 'शङ्कर विजयविलास' अध्याय १०, श्लोक १२-२०

[2] प्रसन्नः सोऽप्यदात् पुत्रं विष्णुशर्माणमेतयोः—श० वि० वि० १०।१७

काशी आये थे। काशी से तो ये सदा आचार्य के साथ ही साथ रहते थे। मठाम्नाय के अनुसार पद्मपाद पुरी स्थित गोवर्धनमठ[1] के प्रथम अधिष्ठाता थे। ये काश्यपगोत्रीय ऋग्वेदी ब्राह्मण थे। मठाम्नाय में भी इनके पिता का नाम माधव बतलाया गया है। इस प्रकार मठाम्नाय चिद्विलास के कथन को पुष्ट कर रहा है।

इनके निम्नलिखित ग्रन्थ उपलब्ध होते हैं—

पद्मपाद के ग्रन्थ

१. पंचपादिका—ब्रह्मसूत्रभाष्य की प्रथम वृत्ति यही है। आचार्य के साक्षात् शिष्य की लिखी हुई वृत्ति होने से यह नितान्त महत्त्वपूर्ण है, यह कथन पुनरुक्ति मात्र है। इसके जलाये जाने तथा उद्धार किये जाने की बात हम पीछे लिख आये हैं। यह वृत्ति केवल भाष्य के चतुः- सूत्री अंश पर ही है। इसी के ऊपर प्रकाशात्मयति ने अपना विवरण लिखा था। यही ग्रन्थ वेदान्त में प्रसिद्ध विवरण प्रस्थान का मूल है। इस विवरण के ऊपर दो प्रसिद्ध टीकाएँ प्रकाशित हुई हैं—विद्यारण्य स्वामी का 'विवरणप्रमेयसंग्रह' तथा अखण्डानन्द का 'तत्त्वदीपन'।

२. विज्ञानदीपिका—यह ग्रन्थ हाल ही में प्रयाग विश्वविद्यालय से प्रकाशित हुआ है। इसमें कर्म का विवेचन बड़ा ही साङ्गोपाङ्ग है। साथ ही साथ कर्म निवृत्ति के उपाय का विस्तृत आलोचन है।

३. विवरण टीका—आचार्य लिखित सुप्रसिद्ध तन्त्रग्रन्थ 'प्रपञ्चसार' की यह टीका है। कलकत्ता के 'तान्त्रिक टेक्स्ट सिरीज' से प्रकाशित हुई है।

४. पञ्चाक्षरी भाष्य—शिव के पञ्चाक्षर मन्त्र की यह विशद व्याख्या है। पद्मपाद ने प्रत्येक अक्षर को लेकर श्लोकबद्ध व्याख्या लिखी है। इस भाष्य की भी काशी के ख्यातनामा संन्यासी रामनिरञ्जन स्वामी ने बड़ी विद्वत्तापूर्ण व्याख्या लिखी है जो 'पञ्चाक्षरी भाष्य तत्वप्रकाशिका' के नाम से विख्यात है। यह व्याख्या भी काशी से प्रकाशित हुई है।

इस प्रकार पद्मपादाचार्य का हाथ अद्वैत-वेदान्त के प्रचार में बहुत ही अधिक है। अद्वैत वेदान्त के अतिरिक्त तन्त्रशास्त्र के भी ये प्रकाण्ड पण्डित प्रतीत होते हैं।

हस्तामलक

हस्तामलक आचार्य के तृतीय पट्टशिष्य थे। इनका दूसरा नाम पृथ्वीधराचार्य था। इनके बाल्यजीवन तथा आचार्य के शिष्य बनने की कथा शंकरदिग्विजयों

---

[1] गोवर्धनमठे रम्ये विमलापीठसंज्ञके।
पूर्वाम्नाये भोगवारे श्रीमत्काश्यपगोत्रजः॥
माधवस्य सुतः श्रीमान् सनन्दन इति श्रुतः।
प्रकाश ब्रह्मचारी च ऋग्वेदी सर्वशास्त्रवित्॥

में विस्तार के साथ दी गई है। इससे प्रतीत होता है कि ये जन्मना विरक्त थे—इतने अलौकिक थे कि संसार के किसी भी प्रपञ्च में बँधे न थे। ये उन्मत्त की तरह रहते थे। इनके पिता नितान्त चिन्ताग्रस्त थे। माधव ने इनके पिता का नाम 'प्रभाकर' दिया है तथा दक्षिण का निवासी बतलाया[१] है। चिद्‌विलास के अनुसार इनके पिता का नाम दिवाकर अध्वरी था जिन्होंने अपने पुत्र की दशा सुधारने के लिए प्रयाग में आचार्य से भेंट की।[२] पुत्र के उन्मत्तभाव से व्याकुल पिता उसे शङ्कर के पास लाया। शङ्कर ने देखते ही उससे पूछा ;—

कस्त्वं शिशो कस्य कुतोऽसि गन्ता
किं नाम ते त्वं कुत आगतोऽसि।
एतद् वद त्वं मम सुप्रसिद्धं
मत्प्रीतये प्रीतिविवर्धनोऽसि॥

[हे शिशु, तुम कौन हो ? किसके हो ? कहाँ से आये हुए हो ? तेरा नाम क्या है ? कहाँ जाओगे ? तुम्हें देखकर मेरा प्रेम उमड़ रहा है; इन बातों का उत्तर तो दो।]

प्रश्न का सुनना था कि बालक के मुख से आध्यात्मिक धारा श्लोकरूप से बह चली—

नाहं मनुष्यो न च देवयक्षो, न ब्राह्मणक्षत्रियवैश्यशूद्राः।
न ब्रह्मचारी न गृही वनस्थो, भिक्षुर्न चाहं निजबोधरूपः॥

[न तो मैं मनुष्य हूँ, न देव हूँ, न यक्ष हूँ। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र भी नहीं हूँ; न ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ, संन्यासी हूँ। मैं तो केवल ज्ञानरूप हूँ।]

आत्मस्वरूप का यथार्थ वर्णन बालक के मुख से सुनते ही आचार्य गद्‌गद् हो गए—वे समझ गये कि यह जीवन्मुक्त महात्मा है जो शेष कर्मों को जीर्ण करने के लिए भूतल पर अवतीर्ण हुआ है। उसके पिता से कहा—भाई, यह तुम्हारे काम का नहीं है। यदि मुझे सौंप दो, तो हमारा विशेष कार्य सिद्ध हो। पिता ने बात मान ली। शङ्कर ने उसे अपना शिष्य बनाया और उसका नाम 'हस्तामलक' रखा। इस नामकरण का कारण यह[3] है कि इस बालक ने आत्मस्वरूप का

---

[१] माधव—शं० दि०, सर्ग १२, श्लोक ४३

[२] तदन्तरं तु संख्यावान् प्रयागक्षेत्रमागतः,
दिवाकराध्वरीत्येव नाम्ना सर्वत्र विश्रुतः।
अनेडमूकस्तस्यासीत् पुत्रः स्थाणुरिवापरः॥ —शं० वि० वि० ११।१८

[3] आत्मस्वरूपमेतेन हस्तामलकसम्मितम्।
दर्शितं पुरतस्तस्मान्मुदितो देशिकेश्वरः।
हस्तामलक इत्येव दत्तवानभिधामपि॥ —शं० वि० वि० ११।३४

अनुभव उसी प्रकार कर लिया था जिस तरह हाथ पर आँवला रखा हो। इसी समता से यह नाम रखा गया था। ये आचार्य के साथ ही दिग्विजय यात्रा में रहते थे। इन्हें द्वारिका मठ का प्रथम अध्यक्ष शङ्कर ने बनाया।

इनकी केवल एकमात्र रचना 'हस्तामलक-स्तोत्र' है जिसे इन्होंने शङ्कर के प्रश्न के उत्तर में कहा था। इसमें केवल १२ पद्य हैं। आचार्य-कृत भाष्य भी इस पर उपलब्ध हुआ है जो श्रीरङ्गम् वाली शङ्कर-ग्रंथावली में प्रकाशित भी हुआ है। परन्तु विद्वानों को इस भाष्य के शङ्कर रचित होने में पर्याप्त मतभेद है। इस स्तोत्र की 'वेदान्त सिद्धान्तदीपिका' नाम्नी एक टीका भी प्रसिद्ध है जो अभी तक अप्रकाशित ही है। इसके अतिरिक्त इनकी किसी रचना का पता नहीं चलता।

हस्तामलक-स्तोत्र

कस्त्वं शिशो कस्य कुतोऽसि गन्ता किं नाम ते त्वं कुत आगतोऽसि।
एतन्मयोक्तं वद चार्भक त्वं मत्प्रीतये प्रीतिविवर्धनोऽसि ॥१॥
नाहं मनुष्यो न च देवयक्षो न ब्राह्मणक्षत्रियवैश्यशूद्राः।
न ब्रह्मचारी न गृही वनस्थो भिक्षुर्न चाहं निजबोधरूपः ॥२॥
निमित्तं मनश्चक्षुरादिप्रवृत्तौ निरस्ताखिलोपाधिराकाशकल्पः।
रविर्लोकचेष्टानिमित्तं यथा यः स नित्योपलब्धिस्वरूपोऽहमात्मा ॥३॥
यमग्न्युष्णवन्नित्यबोधस्वरूपं मनश्चक्षुरादीन्यबोधात्मकानि।
प्रवर्तन्त आश्रित्य निष्कम्पमेकं स नित्योपलब्धिस्वरूपोऽहमात्मा ॥४॥
मुखाभासको दर्पणे दृश्यमानो मुखत्वात्पृथक्त्वेन नैवास्ति वस्तु।
चिदाभासको धीषु जीवोऽपि तद्वत्स नित्योपलब्धिस्वरूपोऽहमात्मा ॥५॥
यथा दर्पणाभाव आभासहानौ मुखं विद्यते कल्पनाहीनमेकम्।
तथा धीवियोगे निराभासको यः स नित्योपलब्धिस्वरूपोऽहमात्मा ॥६॥
मनश्चक्षुरादेर्वियुक्तः स्वयं यो मनश्चक्षुरादेर्मनश्चक्षुरादिः।
मनश्चक्षुरादेरगम्यस्वरूपः स नित्योपलब्धिस्वरूपोऽहमात्मा ॥७॥
य एको विभाति स्वतः शुद्धचेताः प्रकाशस्वरूपोऽपि नानेव धीषु।
शरावोदकस्थो यथाभानुरेकः स नित्योपलब्धिस्वरूपोऽहमात्मा ॥८॥
यथाऽनेक चक्षुः प्रकाशो रविर्न क्रमेण प्रकाशीकरोति प्रकाश्यम्।
अनेका धियो यस्तथैकः प्रबोधः स नित्योपलब्धिस्वरूपोऽहमात्मा ॥९॥
विवस्वत्प्रभातं यथारूपमक्षं प्रगृह्णाति नाभातमेवं विवस्वान्।
यदाभात आभासयत्यक्षमेकः स नित्योपलब्धिस्वरूपोऽहमात्मा ॥१०॥
यथा सूर्य एकोऽप्स्वनेकश्चलासु स्थिरास्वप्यनन्तद्विभाव्यस्वरूपः।
चलासु प्रभिन्नः सुधीष्वेक एव स नित्योपलब्धिस्वरूपोऽहमात्मा ॥११॥

घनच्छन्नदृष्टिर्घनच्छन्नमर्कं यथा निष्प्रभं मन्यते चातिमूढः ।
तथा बद्धवद्भाति यो मूढदृष्टेः स नित्योपलब्धिस्वरूपोऽहमात्मा ॥१२॥
समस्तेषु वस्तुषु अनुस्यूतमेकं समस्तानि वस्तूनि यन्न स्पृशन्ति ।
वियद्वत्सदा शुद्धमच्छस्वरूपं स नित्योपलब्धिस्वरूपोऽहमात्मा ॥१३॥
उपाधौ यथा भेदता सन्मणीनां तथा भेदता बुद्धिभेदेषु तेऽपि ।
यथा चन्द्रिकाणां जले चञ्चलत्वं तथा चंचलत्वं तवापीह विष्णोः ॥१४॥

तोटकाचार्य

तोटकाचार्य (या त्रोटकाचार्य) आचार्य के चतुर्थ शिष्य थे जिन्हें ज्योतिर्मठ का प्रथम अध्यक्ष बनाया गया था। इनका प्रसिद्ध नाम 'आनन्दगिरि' था। मठाम्नाय में इसीलिए कहा है—'तोटकं चानन्दगिरिं प्रणमामि जगद्गुरुम्'। माधव ने इनका उल्लेख संक्षिप्तनाम 'गिरि' से ही किया है परन्तु शाङ्कर-भाष्यों के व्याख्याता आनन्दगिरि इनसे बहुत पीछे हुए हैं। इन आनन्दगिरि का नाम 'आनन्दज्ञान' था। दोनों भिन्न-भिन्न समय के आचार्य हैं। गिरि की गुरुभक्ति का उज्ज्वल निदर्शन माधव के ग्रन्थ में दिया गया है[1]।

गिरि जी अपना कौपीन धोने के लिए तुङ्गभद्रा के किनारे गये हुए थे। तब इनकी प्रतीक्षा में शङ्कर ने पाठ बन्द कर रखा। गिरि स्वभावतः अल्पज्ञ थे, बुद्धि भी कुण्ठित थी। शिष्यों को यह बहुत बुरा लगा कि गुरु ऐसे बज्रमूर्ख शिष्य पर इतनी अनुकम्पा रखते हैं। आचार्य ने शिष्यों की भावना जान ली। अपनी अलौकिक शक्ति से इनमें चतुर्दश विद्यायें संक्रमित कर दीं। फिर क्या था ? आते ही इन्होंने तोटक वृत्तों में अध्यात्म का विवेचन करना आरम्भ किया। आचार्य की अनुकम्पा का सद्यः फल देखकर शिष्य मण्डली आश्चर्य से चकित हो गई। उसी दिन से इनका नाम 'तोटकाचार्य' रखा गया।

इनके नाम से अनेक ग्रन्थ मिलते हैं जिनमें 'तोटक-श्लोक' ही मुख्य हैं। इनकी व्याख्या भी इन्होंने लिखी थी। 'काल-निर्णय' नामक ग्रन्थ भी इनकी रचना बतलाया जाता है।

श्रुतिसार समुद्धरण—यह बड़ा ग्रन्थ है जिसमें १७९ तोटक उपलब्ध होते हैं। इसे ब्रह्मर्षि हरिराम शर्मा ने 'वेदान्त समुच्चय' में (पृष्ठ २०७-२२२) प्रकाशित किया है। इस ग्रन्थ में श्रुति के अद्वैत विषयक सिद्धान्त का परिचय बड़े ही सुबोध श्लोकों में दिया गया है। इसकी शैली जानने के लिए एक-दो पद्य पर्याप्त हैं।

वन्दनं नमनं च तथा श्रवणं मन एव च येन मतं सततम् ।
अवगच्छ तदेव पदं परमं त्वमिति श्रुतिदीक्षितुरुक्तवती ॥

[1] माधव—शं० दि० १२।७०८—९

परमात्मपदस्य इयं च मया श्रुतिरल्पकयोक्तिरिहाभिहिता ।
अणिमादिगुणं सदिति प्रकृतं वदसि त्वमिति श्रुतिरभ्यवदत ।

तोटकाचार्य का लिखा हुआ एक बड़ा गद्य-ग्रन्थ भी है । इसकी एक प्रति हिन्दू विश्वविद्यालय के संस्कृत कालेज के अध्यक्ष म० मा० पण्डित बालकृष्ण मिश्र जी के पास थी, परन्तु दो वर्ष हुए पण्डित जी का स्वर्गवास हो गया । अब पता नहीं यह हस्तलिखित प्रति कहाँ गई । इसकी विशेष छान-बीन करने से अनेक तथ्यों का पता चलेगा, ऐसी आशा है ।

आनन्दगिरि[1] तथा चिद्विलास[2] यति के 'शंकर विजय' में पूर्वोक्त चार शिष्यों के अतिरिक्त इन अन्य शिष्यों के भी नाम दिये हैं—चित्सुखाचार्य, समित्याण्याचार्य, विष्णुगुप्ताचार्य, शुद्धकीर्त्याचार्य, भानुमरीच्याचार्य, कृष्णदर्शनाचार्य, बुद्धिवृद्ध्याचार्य, विरञ्चिपाद, शुद्धानन्द गिरि, मुनीश्वर, धीमान्, लक्ष्मण आदि । इनकी प्रामाणिकता के विषय में हम कुछ नहीं कह सकते ।

शङ्कर की गुरु-परम्परा

आचार्य शङ्कर के सम्प्रदाय का वर्णन उपलब्ध ग्रन्थों में एक समान ही नहीं मिलता, प्रत्युत इन वर्णनों में पर्याप्त भिन्नता दृष्टिगोचर होती है । अद्वैतमतावलंबी ग्रन्थकारों के प्रामाण्य पर ऊपर विवरण प्रस्तुत किया गया है, परन्तु आचार्य के विषय में तान्त्रिक ग्रन्थ एक विचित्र ढंग की कहानी सुनाते हैं, जिससे परिचय पा लेना हमारा कर्त्तव्य है । इसमें कितनी बातें इतिहास की कसौटी पर कसी जाकर खरी निकलेंगी, इसका निर्णय ऐतिहासिक विद्वान् करेंगे । परन्तु इतना तो निश्चित मालूम पड़ता है कि इन तान्त्रिक ग्रन्थों का विवरण किसी प्राचीन परम्परा के ऊपर अवलम्बित होगा ।

शाक्त तन्त्र-साहित्य में 'श्रीविद्यार्णव' नामक एक नितान्त विख्यात पुस्तक है । इस विशालकाय ग्रन्थ के भिन्न-भिन्न अंश भारत के विभिन्न प्रान्तों के पुस्तकालयों में हस्तलिखित रूप से उपलब्ध होते थे; पूरा ग्रन्थ जम्मू के रघुनाथ मन्दिर के पुस्तकालय में था । उसी प्रति के आधार पर यह महत्वपूर्ण ग्रन्थ काश्मीर से इसी वर्ष दो जिल्दों में प्रकाशित हुआ है । इसमें तन्त्रशास्त्र के सम्पूर्ण सिद्धान्तों का विवेचन श्रीविद्या की उपासना के क्रम को अवलम्बन कर भलीभाँति किया गया है । प्रसङ्गवश इसमें आचार्य शङ्कर की गुरु-परम्परा और शिष्य-परम्परा का कुछ वर्णन मिलता है । श्रीविद्या की उपासना के साथ आचार्य शङ्कर का बड़ा घनिष्ठ सम्बन्ध था । इसका परिचय हमें केवल तान्त्रिक ग्रन्थों से ही नहीं मिलता, प्रत्युत

[1] आनन्दगिरि,—शं० वि०,४ प्रकरण, पृ० १६

[2] चिद्विलास—शं० वि० वि०

आचार्य के द्वारा स्थापित पीठों की पूजा पद्धति के निरीक्षण से भी चलता है। आचार्य के विशिष्ट मठों में 'श्रीयन्त्र' है जिसकी पूजा मठाधीश के कार्यों में एक विशेष स्थान रखती है। शङ्कर के द्वारा विरचित ग्रन्थों से भी इसकी पर्याप्त पुष्टि होती है। सौन्दर्य लहरी तथा प्रपञ्चसार ऐसे ही तान्त्रिक ग्रन्थ हैं जिनकी रचना के साथ आचार्य का नाम संश्लिष्ट है। ये सब त्रिपुरा-तन्त्र के ग्रन्थ हैं। इतना ही नहीं, आचार्य ने जिस 'ललितात्रिशती' का पाण्डित्यपूर्ण भाष्य लिखा है वह भी इसी तन्त्र से सम्बद्ध है। ऐसी दशा में हमें आश्चर्य न करना चाहिए यदि त्रिपुरा सम्प्रदाय के ग्रन्थ में आचार्य शङ्कर के जीवनचरित की कतिपय घटनायें उपलब्ध होती हैं।

गुरु-परम्परा—प्रचलित ग्रन्थों के आधार पर शङ्कर सम्प्रदाय की गुरु-परम्परा भगवान् विष्णु से आरम्भ होती है :—
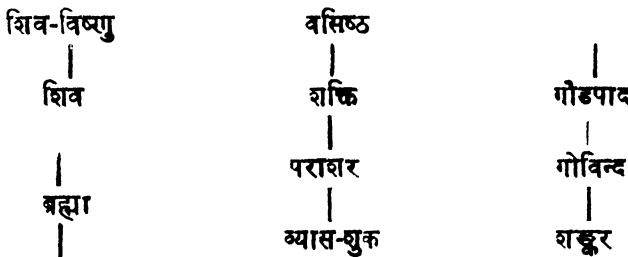
इस परम्परा के अनुसार शङ्कर गौडपाद के प्रशिष्य थे और ये गौडपाद शुकदेव जी के शिष्य थे। आचार्य की गुरु-परम्परा तथा शिष्य-परम्परा की सूचना इन प्रसिद्ध पद्यों में है—

नारायणं पद्मभवं वसिष्ठं शक्तिं च तत्पुत्रपराशरं च।
व्यासं शुकं गौडपदं महान्तं गोविन्दयोगीन्द्रमथास्य शिष्यम् ॥
श्रीशंकराचार्यमथास्य पद्मपादं च हस्तामलकं च शिष्यम्।
तत् तोटकं वार्तिककारमन्यान् अस्मद्गुरुं सन्ततमानतोऽस्मि ॥

परन्तु 'श्री विद्यार्णव' के अनुसार शङ्कर गौडपाद के प्रशिष्य न थे, प्रत्युत दोनों के बीच में पाँच पुरुषों के नाम मिलते हैं। शङ्कर की गुरु-परम्परा इस प्रकार क्रमशः है—गौडपाद, पावक, पराचार्य, सत्यनिधि, रामचंद्र, गोविन्द और शङ्कर इससे यह सिद्ध होता है कि शङ्कर के गोविन्द शिष्य होने में कोई विप्रतिपत्ति नहीं है, परन्तु गौडपाद से उनका निकट सम्बन्ध न था। प्रचलित मतानुसार गौडपाद का शुकदेव के साथ गुरु-शिष्य सम्बन्ध था; परन्तु इन दोनों आचार्यों में दीर्घकाल का व्यवधान होने के कारण ऐतिहासिक लोग इस सम्बन्ध को मानने में संकोच करते हैं। कतिपय विद्वानों की सम्मति में इस सम्बन्ध के भीतर एक गहरा ऐतिहासिक तथ्य छिपा हुआ है। बहुत सम्भव है कि अद्वैतवाद की प्राचीन धार

किसी कारणवश शुकदेवजी के बाद एकदम उच्छिन्न हो गई और कालान्तर में किसी अलौकिक उपाय से आविर्भूत होने वाले शुकदेव जी की दिव्यमूर्ति से गौडपाद ने अद्वैतवाद के रहस्य को सीखकर उसे पुनः प्रवर्तित किया। परन्तु ऐसी अलौकिक व्याख्या पर ठोस ऐतिहासिक लोग कब आस्था रखेंगे ? किन्तु अब ऐतिहासिकों को इस बात की जानकारी से सन्तोष हुए बिना न रहेगा कि 'श्रीविद्यार्णव' के अनुसार गौडपाद शुकदेव के साक्षात् शिष्य न थे, प्रत्युत् दोनों के बीच में आचार्यों की एक दीर्घ परम्परा विद्यमान थी। इस ग्रन्थ का मत है कि शङ्कर सम्प्रदाय की प्रवृत्ति आदि विद्वान् महर्षि कपिल से हुई है। कपिल से गौडपाद तक गुरुओं के नाम क्रमशः इस प्रकार हैं—कपिल, अत्रि, वशिष्ठ, सनक, (५) सनन्दन, भृगु, सनत्सुजात, वामदेव, नारद, (१०) गौतम, शौनक, शक्ति, मार्कण्डेय, कौशक, (१५) पराशर, शुक, अङ्गिरा, कण्व, जाबालि, (२०) भारद्वाज, वेदव्यास, ईशान, रमण, कपर्दी, (२५) भूधर, सुभट, जलज, भूतेश, परम, (३०) विजय, मरण (भरत) पद्मेश, सुभग, विशुद्ध, (३५) समर, कैवल्य, गणेश्वर, सपाय, विबुध, (४०) योग, विज्ञान, अनङ्ग, विभ्रम, दामोदर, (४५) चिदाभास, चिन्मय, कलाधर, विश्वेश्वर, मन्दार, (५०) त्रिदश, सागर, मृड, हर्ष, सिंह, (५५) गौड, वीर, अघोर, ध्रुव, दिवाकर, (६०) चक्रधर, प्रमथेश, चतुर्भुज, आनन्दभैरव, धीर, (६५) गौडपाद। आदि गुरु कपिल से लेकर शङ्कर तक ७१ गुरु हुए तथा गौडपाद और शङ्कर के बीच में सात गुरु हुए[1]।

इस नामावली के क्रम में विलक्षणता दीख पड़ती है। (१२) शक्ति तथा (१५) पराशर का सम्बन्ध पिता-पुत्र का है। अतः इन दोनों में आनन्तर्य का होना स्वाभाविक था, परन्तु यहाँ दो नामों से इनमें व्यवधान हो गया है। (१६) शुक के पिता वेदव्यास का नाम अपने पुत्र से पहले न होकर उनके चार शिष्यों के अनन्तर है !! इस नामसूची के अनुसार (१७) शुक तथा गौड़पाद के बीच उनचास आचार्यों के नाम उल्लिखित हैं। इस प्रकार इन दोनों में पर्याप्त व्यवधान है।

शिष्य-परम्परा

प्रचलित मत के अनुसार आचार्य शङ्कर के चार प्रधान शिष्य थे और वे चारों ही संन्यासी थे, परन्तु इसके विपरीत श्रीविद्यार्णव की सम्मति में आचार्य

---

[1] गौडादिशङ्करान्ताश्च सप्तसंख्याः समीरिताः।
एकसप्ततिसंख्याश्च गुरवः शिवरूपिणः ॥११९॥
तच्छिष्याणां क्रमं ज्ञात्वा स्वगुरूक्तविधानतः।
स्मरणात् सिद्धिमाप्नोति साधकस्तु न संशयः ॥१२०॥—प्रथम श्वास

के १४ शिष्य थे जो सब के सब देवी के उपासक और परमसिद्ध थे[1]। परन्तु इन शिष्यों के दो प्रकार थे—५ शिष्य थे संन्यासी और ९ शिष्य थे गृहस्थ। संन्यासी शिष्यों के नाम हैं—(१) पद्मपाद, (२) बोध, (३) गीर्वाण, (४) आनन्दतीर्थ और (५) गुरु के नाम के समान ही पञ्चम शिष्य का नाम था शङ्कर। गृहस्थ शिष्यों के नाम हैं—(६) सुन्दर, (७) विष्णुशर्मा, (८) लक्ष्मण, (९) मल्लिकार्जुन, (१०) त्रिविक्रम, (११) श्रीधर, (१२) कपर्दी (१३) केशव और (१४) दामोदर। इन प्रधान शिष्यों की शिष्य-परम्परा भी पर्याप्त विस्तृत थी।

(१) पद्मपाद—इनके छः शिष्य थे—माण्डल, परिपावक, निर्वाण, गीर्वाण, चिदानन्द और शिवोत्तम जो सबके सब संन्यासी थे।

(२) बोधाचार्य—इनके बहुत से शिष्य थे जो केरल देश में फैले हुए थे। गुरु के समान इनके भी शिष्य दो प्रकार के थे—गृही और सन्यासी।

(३) गीर्वाण—इनके प्रधान शिष्य थे विद्वद्गीर्वाण जिनकी शिष्य-परम्परा यों है—विद्वद्गीर्वाण→ बिबुधेन्द्र→ सुधीन्द्र→ मन्त्रगीर्वाण। इनके शिष्य गृही भी थे और संन्यासी भी।

(४) आनन्दतीर्थ—सभी शिष्य गृहस्थ थे और पादुकापीठ की आराधना करते थे।

(५) शङ्कर—इनके शिष्य मठ तथा उप-मठों के अधिपति थे।

(६) सुन्दराचार्य—तीन प्रकार के शिष्य थे—गृही, संन्यासी और पीठनायक।

(७) विष्णुशर्मा—इनके प्रधान शिष्य का नाम था प्रगल्भाचार्य। श्रीविद्यार्णव ग्रन्थ के रचयिता विद्यारण्य यति इन्हीं प्रगल्भाचार्य के शिष्य थे। यह सिद्ध ग्रन्थ सा प्रतीत होता है जिसकी समाप्ति पर जगद्धात्री ने अपने आपको भक्त के सामने प्रकट होकर वर माँगने को कहा। ग्रन्थकार की कोई सांसारिक वासना न थी जिसके लिए वह भगवती से प्रार्थना करता। उसकी यही कामना थी कि जो कोई मनुष्य इस ग्रन्थ की पद्धति देखकर उसे गुरु मानकर जप करे, उसे दीक्षा के बिना भी सिद्धि प्राप्त हो जाय। भगवती ने वर दिया और स्वयं अन्तर्ध्यान हो गईं।

(८) लक्ष्मणाचार्य—इनकी अलौकिक सिद्धि की बात ग्रन्थ में दी गई है। ये बड़े भारी सिद्ध थे। एक बार प्रौढ़देव नामक किसी राजा की राजधानी में गये। राजा ने भरी सभा में इनका सत्कार किया और बेशक़ीमती कपड़ों को उपहार में

---

[1] शंकराचार्यशिष्याश्च चतुर्दशदृढव्रताः।
देव्यात्मानो दृढात्मानो निग्रहानुग्रहक्षमा ॥१।६०॥

दिया। सिद्ध जी ने घर जाकर उन कपड़ों को हवन कर दिया। खबर पाकर राजा ने अपना वस्त्र माँगा। लक्ष्मणाचार्य ने अपनी सिद्धि के बल से इन वस्त्रों को लौटा दिया, परन्तु साथ ही साथ शाप देकर वे दक्षिण की ओर चले गये। प्रौढ़देव की बड़ी विनती करने पर वे प्रसन्न तो हुए, परन्तु कहा कि मेरा वचन अन्यथा नहीं हो सकता। पुत्र तुम्हें अवश्य होगा, पर तुम उसके सुख से वञ्चित रहोगे। हुआ भी ऐसा ही। बालक के गर्भस्थ होते प्रौढ़देव मर गये। राज्य का भार श्रीविद्यारण्य के ऊपर सौंपा गया। उन्होंने श्रीचक्र के अनुसार श्रीविद्या नगर की स्थापना की तथा अम्बदेव को राज्य समर्पित कर विरक्त लेखक ने नाना तन्त्रों का आलोडन कर इस ग्रन्थरत्न की रचना की।

(९) मल्लिकार्जुन के शिष्य विन्ध्याचल में, (१०) त्रिविक्रम के शिष्य जगन्नाथ क्षेत्र में, (११) श्रीधर के शिष्य गौड देश, बंगाल और मिथिला में; तथा (१२) कपर्दी के शिष्य काशी, अयोध्या आदि स्थानों में निवास करते थे। (१३) केशव और (१४) दामोदर के शिष्यों का विवरण ग्रन्थ में नहीं मिलता।

ग्रन्थकार ने 'कामराज विद्या' के विषय में लिखा है—

सम्प्रदायो हि नान्योऽस्ति लोके श्रीशंकराद् बहिः।
कादिशक्तिमते तन्त्रं तन्त्रराजं सुदुर्लभम् ॥६८॥
मातृकार्णवसंज्ञं तु त्रिपुरार्णवसंज्ञकम्।
योगिनीहृदयं चैव ख्यातं ग्रन्थचतुष्टयम् ॥६९॥

श्रीविद्यार्णव के वर्णन का यही सारा अंश है—(प्रथम श्वास, श्लोक ५२—९७)

आचार्य के गृहस्थ-शिष्य

शङ्कराचार्य के गृहस्थ शिष्यों का उल्लेख 'श्री विद्यार्णव' में ऊपर किया गया है। कतिपय विद्वान् इस वर्णन को सन्देह की दृष्टि से देखते हैं। आचार्य के संन्यासी ही शिष्य थे, इस प्रसिद्ध परम्परा के आगे श्रीविद्यार्णव का पूर्वोक्त वर्णन कुछ विचित्र-सा प्रतीत होता है। परन्तु बात ऐसी नहीं थी। आचार्य के गृहस्थ शिष्य भी थे, इसके समर्थक अनेक प्रमाण उपलब्ध हैं।

(१) महानुशासन[1] (१० वें श्लोक) में शङ्कर ने अपने पीठाध्यक्षों के अनेक गुणों का वर्णन किया है। यदि पीठ का नायक शुचि, जितेन्द्रिय, वेद और वेदाङ्ग में विशारद, योगज्ञ तथा शास्त्रवेत्ता हो, तो वह पीठ की अध्यक्ष पदवी को अलंकृत करने का अधिकारी है। यदि ऐसे सद्गुणों से वह विवर्जित हो, तो

---

[1] शुचिर्जितेन्द्रियो वेदवेदङ्गादिविशारदः।
योगज्ञः सर्वशास्त्राणां स महास्थानमाप्नुयात् ॥१०॥

वह मनीषियों के द्वारा निग्रह करने योग्य है—'निग्राहार्हो मनीषिणाम्' (श्लोक ११)।[1] महानुशासन की एक प्राचीन टिप्पणी के अनुसार (जो अभी तक अप्रकाशित है) 'मनीषी' शब्द का अर्थ है—आचार्य का गृहस्थ-शिष्य। प्राचीन व्यवस्था यह थी कि शङ्कर का संन्यासी शिष्य तो पीठ का अधिपति बनता था और उनका गृहस्थ शिष्य वहाँ का दीवान बनता था। विरक्त संन्यासी तो पीठ की आध्यात्मिक उन्नति में लगा रहता था पर पीठ की लौकिक तथा व्यावहारिक स्थिति की देख-रेख इसी गृहस्थ शिष्य के अधीन होती थी। वह दीवान का काम करता था। यह उसके अधिकार की बात थी कि यदि पीठाध्यक्ष संन्यासी में पीठकार्य के संचालन की योग्यता न हो, तो वह उन्हें उस पद से हटाकर दूसरे शिष्य को उस पद पर बैठावे। आचार्य की यह व्यवस्था बड़ी सुन्दर थी। पीठों में यही व्यवस्था प्रचलित थी—अध्यक्ष का पद संन्यासी शिष्य के हाथ में था और दीवान का कार्य गृहस्थ शिष्य चलाता था। प्राचीन काल में यही व्यवस्था सुचारु रूप से प्रचलित थी। अवनति काल आते ही यह व्यवस्था उच्छिन्न हो गई।

(२) यह तो प्रसिद्ध ही है कि आचार्य श्रीविद्या के उपासक थे। आजकल इस विद्या के उपासकों की जो परम्परायें उपलब्ध होती हैं, उनमें अनेक आचार्य के गृहस्थ शिष्यों से ही आरम्भ होती हैं। तन्त्रशास्त्र के रसिकों से भास्करराय का नाम अपरिचित नहीं है। ये शाक्त दार्शनिक थे जिनका सम्प्रदाय आज भी दक्षिण (महाराष्ट्र) तथा उत्तर (काशी) में प्रचलित मिलता है। ये १८ वीं शताब्दी के पूर्वार्ध में गुजरात में आविर्भूत हुए थे। इनके ग्रंथ तन्त्र-विद्या के आध्यात्मिक रहस्यों के उद्‌घाटन के लिए कुञ्जी हैं। इनकी रचनाओं में—१. वारिवस्यारहस्य, २. ललितासहस्रनाम का भाष्य (सौभाग्य भास्कर) ३. सेतु (नित्याषोडशिकार्णव की टीका) ४. गुप्तवती (दुर्गा सप्तशती की व्याख्या) तथा ५. कौल, ६. त्रिपुरा, ७. भावना उपनिषदों की व्याख्या नितान्त प्रसिद्ध है। तन्त्र-विद्या के लिए ये अत्यन्त प्रौढ़ तथा उच्च कोटि के ग्रन्थ हैं। इस सम्प्रदाय की मान्यता है कि भास्करराय ने तंत्रविद्या का अध्ययन तो नृसिंहाध्वरी नामक संन्यासी गुरु के पास रहकर किया, परन्तु जब उन्हें 'पूर्णाभिषेक' करने का अवसर आया, तब उन्होंने भास्करराय को शिवदत्त शुक्ल नामक तान्त्रिक सिद्ध के पास भेज दिया जो आचार्य के गृहस्थ-शिष्य सुन्दराचार्य की परम्परा में थे। ये शुक्लजी गुजराती ब्राह्मण थे और अपने समय के महनीय आचार्यों में थे। इन्होंने भास्करराय का 'पूर्णाभिषेक' किया जिसका उल्लेख उन्होंने अपने ग्रन्थों में किया है। ये शिवदत्त शुक्ल, सुन्दराचार्य की शिष्य-परम्परा में थे जो आचार्य

[1] उक्तलक्षणसम्पन्नः स्याच्चेन्मत्पीठभाग् भवेत्।
अन्यथा रूढपीठोऽपि निग्रहार्हो मनीषिणाम् ॥११॥

के गृहस्थ शिष्यों में अन्यतम थे। इनका नाम श्रीविद्यार्णव तन्त्र में ऊपर आया है। इसका निष्कर्ष यह है कि भास्करराय की श्रीविद्या परम्परा का प्रचलन सुन्दराचार्य से हुआ और ये शङ्कराचार्य के गृहस्थ-शिष्य थे। जिस प्रकार शङ्कर के संन्यासी शिष्यों की परम्परा अविच्छिन्न रूप से चल रही है, उसी प्रकार उनके गृहस्थ शिष्यों की भी परम्परा अक्षुण्ण रूप से विद्यमान है। साधकों की इस परम्परा के विद्यमान रहते श्रीविद्यार्णव के वर्णन में संशय करने का अवकाश नहीं है। इस प्रकार श्रीविद्या सम्प्रदाय की वास्तविक बातों को जानकर हमें विश्वास करना पड़ता है कि आचार्य के गृहस्थ शिष्य भी थे[१]।

———

[१]इस साम्प्रदायिक तथ्य की जानकारी के लिए मैं साहित्याचार्य पण्डित नारायण शास्त्री खिस्ते जी का बड़ा आभार मानता हूँ। वे श्रीविद्या के उपासक हैं और साम्प्रदायिक तथ्यों का विशेष ज्ञान रखते हैं। इस सूचना के लिए मैं उन्हें अनेक धन्यवाद देता हूँ।

षोडश परिच्छेद

मठों का विवरण

आचार्य शङ्कर ने भारतवर्ष की धार्मिक व्यवस्था को अक्षुण्ण बनाये रखने के लिये प्रख्यात तीर्थ-स्थानों में मठों की स्थापना की। चारों धाम के पास आचार्य ने चार विख्यात मठों की स्थापना की। इनमें गोवर्धनमठ भारत के पूर्वी भाग में जगन्नाथ पुरी में प्रतिष्ठापित है। ज्योतिर्मठ (प्रचलित नाम जोशी मठ) बदरिकाश्रम के पास उत्तर में स्थित है। शारदामठ काठियावाड़ में द्वारिकापुरी में वर्त्तमान है। शृङ्गेरीमठ मैसूर रियासत में दक्षिण भारत में है। उसी दक्षिण भारत में सप्तमोक्षपुरियों में अन्यतम श्रीकाञ्ची में भी मठ प्रतिष्ठापित है तथा तुङ्गभद्रा के नीर में कुडलि मठ स्थित है। इसी तरह अन्यान्य स्थानों में भी कई मठ स्थापित हैं। इन पीठों के अधिपतियों का मुख्य कर्त्तव्य अन्तर्भुक्त प्रान्तों के निवासियों को धर्मोपदेश करना तथा वैदिक मार्ग के ऊपर सुचारु रूप से चलने की व्यवस्था करना था। प्रत्येक मठ का कार्यक्षेत्र पृथक्-पृथक् रक्खा गया था, परन्तु पारस्परिक सहयोग खूब था। मठ के अध्यक्षों का आज भी यह प्रधान कार्य है। अपने क्षेत्र के अन्तर्गत वर्णाश्रम धर्मावलम्बियों में धर्म की प्रतिष्ठा को दृढ़ रखना तथा तदनुकूल उपदेश देना, ये अध्यक्ष आचार्य शंकर के प्रतिनिधि रूप हैं। इसी कारण ये भी शङ्कराचार्य कहलाते हैं।

मठों के आदि आचार्य

मठों की स्थापना के अनन्तर आचार्य ने अपने चारों पट्ट-शिष्यों को इनका अध्यक्ष नियुक्त किया, यह सर्वसम्मत बात है। परन्तु किस शिष्य को किस मठ का अध्यक्ष पद दिया गया, इस विषय में ऐकमत्य नहीं दीख पड़ता। किसी के मत में गोवर्धन मठ का अध्यक्षपद पद्मपाद को, शृङ्गेरी का पृथ्वीधर (हस्तामलक) को और शारदामठ का विश्वरूप (सुरेश्वराचार्य) को दिया गया। परन्तु मतान्तर में गोवर्धन में हस्तामलक, शारदामठ में पद्मपाद तथा शृङ्गेरी में विश्वरूप के अध्यक्ष पद पर नियुक्त किये जाने का उल्लेख है। मठाम्नाय नामक पुस्तक में इस विषय का वर्णन है परन्तु इसमें पाठभेद होने के कारण हम किसी निश्चित मत पर नहीं पहुँच पाते। इस विषय के निर्णय करने का एक विशिष्ट साधन है, जिधर विद्वानों का ध्यान यहाँ आकृष्ट किया जा रहा है।

वैदिक सम्प्रदाय में वेदों का सम्बन्ध भिन्न-भिन्न दिशाओं के साथ माना जाता है। ऋग्वेद का सम्बन्ध पूर्व दिशा से है, यजुर्वेद का दक्षिण दिशा से, सामवेद का पश्चिम से तथा अथर्ववेद का उत्तर से है। योगानुष्ठान के अवसर पर यही पद्धति प्रचलित है। शङ्कराचार्य ने शिष्यों की नियुक्ति मनमाने ढंग से नहीं की किन्तु इस चुनाव में उन्होंने एक विशिष्ट वैदिक नियम का पालन किया है। जिस शिष्य का जो वेद था, उसकी नियुक्ति उसी वेद से संबद्ध दिशा से की गयी। आचार्य पद्मपाद काश्यपगोत्रीय ऋग्वेदी ब्राह्मण थे, अतः आचार्य ने उनकी प्रतिष्ठा ऋग्वेद से संबद्ध पूर्व दिशा के गोवर्धन मठ के अध्यक्षपद पर की।

गोवर्धन मठ में पद्मपाद

इस विषय में मठाम्नाय के ये श्लोक प्रमाण रूप में उद्धृत किये जा सकते हैं :—

गोवर्धनमठे रम्ये, विमलापीठसंज्ञके।
पूर्वाम्नाये भोगवारे, श्रीमत्काश्यपगोत्रजः॥
माधवस्य सुतः श्रीमान्, सनन्दन इति श्रुतः।
प्रकाश ब्रह्मचारी च, ऋग्वेदी सर्वशास्त्रवित्॥
श्रीपद्मपादः प्रथमाचार्यत्वेनाभ्यषिच्यत॥

दक्षिण के श्रृङ्गेरी मठ में सुरेश्वराचार्य की नियुक्ति प्रमाण-संमत प्रतीत होती है। इस कारण नहीं कि प्रधान पीठ पर सर्वप्रधान शिष्य को रखना न्याय संगत था, प्रत्युत उनके वेद के कारण ही। सुरेश्वर शुक्ल यजुर्वेद के अन्तर्गत काण्व शाखाध्यायी ब्राह्मण थे। आचार्य शङ्कर ने सुरेश्वर को दो उपनिषद् भाष्यों पर वार्तिक लिखने का आदेश दिया था—एक तैत्तीरीय उपनिषद् भाष्य पर, क्योंकि शङ्कराचार्य की अपनी शाखा तैत्तीरीय थी, दूसरी वृहदारण्यक भाष्य पर, क्योंकि सुरेश्वर की शाखा काण्व शाखा थी और वृहदारण्यक उपनिषद् इसी यजुर्वेद शाखा से संबद्ध है। वृहदारण्यक उपनिषद् काण्व तथा माध्यन्दिन, दोनों शाखाओं में उपलब्ध होती है। आचार्य का बहुप्रचलित माध्यन्दिनशाखीय पाठ को छोड़कर अल्प प्रचलित काण्वशाखीय पाठ के ग्रहण करने का कारण यही शिष्यानुराग प्रतीत होता है। इस विषय में माधवाचार्य के शङ्कर-दिग्विजय के ये श्लोक प्रमाण रूप में प्रस्तुत किये जा सकते हैं—

श्रृङ्गेरी में सुरेश्वराचार्य

सत्यं यदात्थ विनयिन् मम याजुषी या,
शाखा तदन्तगतभाष्यनिबन्ध इष्टः।
तद्वार्तिकं मम कृते भवता विधेयं,
सच्चेष्टितं परहितैकफलं प्रसिद्धम्॥
नवत त्वदीया खलु कण्वशाखा,

(१) अद्वैतपञ्चरत्न—अद्वैत के प्रतिपादक ५ श्लोक। प्रत्येक पद्य के अन्त में 'शिवोऽहम्' आता है। इस पुस्तक का नाम 'आत्मपञ्चक' तथा 'अद्वैतपञ्चक' भी है। पञ्चक नाम होने पर भी कहीं-कहीं एक श्लोक अधिक मिलता है।

(२) अद्वैतानुभूति—अद्वैततत्त्व का ८४ अनुष्टुपों में वर्णन।

(३) अनात्मश्रीविगर्हण प्रकरण—आत्मतत्त्व के साक्षात् न करने वाले तथा विषय-वासना में ही जीवन बिताने वाले व्यक्तियों की निन्दा प्रदर्शित की गई है। श्लोकसंख्या १८। प्रत्येक पद्य के अन्त में आता है—येन स्वात्मा नैव साक्षात् कृतोऽभूत्। उदाहरणार्थ पद्य दिया जाता है—

अब्धिः पद्भ्यां लंघितो वा ततः किं
वायुः कुम्भे स्थापितो वा ततः किम्।
मेरुः पाणावुद्धृतो वा ततः किं
येन स्वात्मा नैव साक्षात्कृतोऽभूत्॥

❀ (४) अपरोक्षानुभूति—अपरोक्ष अनुभव के साधन तथा स्वरूप का वर्णन। १४४ श्लोक। सिद्धान्त का प्रतिपादन बड़े ही सुन्दर दृष्टान्तों के सहारे किया गया है—

यथा मृदि घटो नाम कनके कुण्डलाभिधा।
शुक्तौ हि रजतख्यातिर्जीवशब्दस्तथापरे॥

'अपरोक्षानुभवामृत' नामक ग्रंथ इससे भिन्न प्रतीत होता है। इसके ऊपर प्राचीन आचार्यों की लिखी अनेक टीकायें हैं जिनमें एक आचार्य शङ्कर रचित है और दूसरी विद्यारण्य[1] रचित।

❀ (५) आत्मबोध—६८ श्लोकों में आत्मा के स्वरूप का विशद विवरण है। नाना उदाहरण देकर आत्मा को शरीर, मन तथा इन्द्रियादिकों से पृथक् सिद्ध किया गया है। बोधेन्द्र (गीर्वाणेन्द्र के शिष्य) ने इस ग्रन्थ के ऊपर 'भाव प्रकाशिका' टीका लिखी है। गुरु गीर्वाणेन्द्र किसी अद्वैत मठ के अधिपति थे और शिष्य बोधेन्द्र त्रिपुरसुन्दरी के उपासक थे[2]। इस पर आचार्य की तथा मधुसूदन सरस्वती की टीका का भी उल्लेख मिलता है। इसका १३ वाँ श्लोक 'वेदान्त परिभाषा' में उद्धृत किया गया है।

---

[1] यह टीका मैसूर से १८९८ में प्रकाशित शङ्करग्रन्थावली के द्वितीय भाग में है। टीका विद्यारण्य स्वामी की निःसन्दिग्ध रचना है, यह कहना कठिन है।

[2] द्रष्टव्य—तञ्जोर की हस्तलिखित पुस्तकों की सूची। परिचय संख्या ७१७४।

'शारदाम्बा' की सुवर्णमयी मूर्ति यहाँ पर विराजमान है। यही शृङ्गेरी के शंकराचार्यों की उपास्यदेवी हैं। सदर दरवाजे के दाहिनी ओर व्यास जी की अभय मुद्रा में वर्तमान एक प्रस्तर-मूर्ति है। वे आचार्य शङ्कर को अद्वैत वेदान्त का उपदेश दे रहे हैं। आचार्य की भी मूर्ति दाहिनी ओर बनी हुई है। तुङ्गा के किनारे विद्यारण्यपुर में शङ्कराचार्य की एक और मूर्ति है। यह कहा जाता है कि यहीं पर शङ्कराचार्य का अन्तर्ध्यान हो गया था। इसके अतिरिक्त इस पीठ के जो अध्यक्ष हुये उनकी भी मूर्तियाँ यहाँ बनी हुई हैं।

विद्याशंकर का मन्दिर

शृङ्गेरी मठ शङ्कराचार्य के द्वारा स्थापित केवल पीठ मात्र नहीं है, प्रत्युत यह वैदिक संस्कृति का केन्द्र, वर्णाश्रम धर्म का निकेतन तथा अद्वैत वेदान्त का जीता-जागता विद्यापीठ है। यहाँ के अध्यक्ष लोग अपनी विद्या, वैदिक सदाचार, वेदान्तनिष्ठा के लिये सदा से सर्वत्र विख्यात हैं। यहाँ के शंकराचार्य का अधिकांश समय दक्षिण के भिन्न-भिन्न प्रान्तों में भ्रमण कर हिन्दू जनता के बीच वैदिक धर्म के प्रचार में बीतता है। इस मठ को एक बहुत बड़ी जागीर भी मिली है जिसकी वार्षिक आय ५०,००० रुपया है। यह स्थान पहाड़ी है, अतः प्राचीन काल में यह अपनी स्वतन्त्र सत्ता बनाये हुये था। धीरे-धीरे यह आस-पास के राजाओं के अधिकार में आने लगा। इस मठ की विशेष प्रख्याति विजयनगर साम्राज्य के समय से होती है। इस साम्राज्य के संस्थापकों के साथ इस मठ का गहरा संबंध था। वेदभाष्य के कर्त्ता सायणाचार्य के ज्येष्ठ भ्राता माधवाचार्य ने हरिहरराय तथा उनके भ्राताओं को विजयनगर की स्थापना में पर्याप्त सहायता दी थी। वे ही पीछे विद्यारण्य स्वामी के नाम से इस पीठ के अध्यक्ष नियुक्त हुये। जान पड़ता है कि माधवाचार्य की प्रेरणा से हरिहर ने अपने भाइयों के साथ इस स्थान की यात्रा की और १३४६ ई० में यह विस्तृत जागीर दी जो आज भी मठ के अधिकार में वर्तमान है और जिसकी आय ५०,००० रु० वार्षिक है। हरिहर ने ब्राह्मणों का एक अग्रहार (धर्मार्थ किसी गाँव का दान) भी स्थापित किया जो उन्हीं के नाम पर हरिहरपुर के नाम से विख्यात है। विजयनगर साम्राज्य के अनन्तर जान पड़ता है कि यह जागीर कुछ छिन्न-भिन्न होने लगी थी। अतः १६२१ ई० में बेङ्कटप्प नामक कलदी नरेश ने इसकी पुनः प्रतिष्ठा की। मैसूर नरेशों के अधीन होने पर इस पीठ की वृद्धि होती रही है। मैसूर के हिन्दू नरेशों ने ही नहीं प्रत्युत मुसलमान बादशाहों ने भी शृङ्गेरी के आचार्यों के प्रति अपनी समधिक श्रद्धा सदा दिखलायी है। यह बात इतिहास प्रसिद्ध है कि हैदर अली तथा टीपू सुल्तान ने शङ्कराचार्य के लिये सोने का मुकुट तथा परिधान वस्त्र उपहार में दिया था। आज भी मैसूर रियासत की ओर से

इस मठ के लिये एक हजार रुपया प्रति मास दक्षिणा के रूप में भेंट किया जाता है। जागीर की आय तथा दक्षिणा से मिलने वाला द्रव्य सब कुछ दीन-दु:खियों के भोजन में खर्च कर दिया जाता है। इस मठ की ओर से अनेक संस्कृत पाठशालायें चलती हैं जिनमें संस्कृत व्याकरण तथा वेदान्त की शिक्षा दी जाती है[1]।

शृङ्गेरीमठ

नं०	नाम	संन्यास ग्रहण काल	सिद्धि काल	समय
१.	श्री शङ्कराचार्य	२२ विक्रम शके	विक्रम शके ४५	२४ × जन्मा दिवय:सह३२
२.	सुरेश्वराचार्य	३० विक्रम शके	६६५	जन्मादित: ७२५
३.	बोधघनाचार्य	६८० शाली शके	८८०	२००
४.	ज्ञानघनाचार्य	७६८	८३२	६४
५.	ज्ञानोत्तमशिवाचार्य	८२७	८७५	४८
६.	ज्ञानगिर्याचार्य	८७१	९६०	८६
७.	सिंहगिर्याचार्य	९५८	१०२०	६२
८.	ईश्वर तीर्थ	१०१९	१०६८	४९
९.	नरसिंह तीर्थ	१०६७	११५०	८३
१०.	विद्यातीर्थ-विद्याशंकर	११५०	१२५५	१०५
११.	भारतीकृष्ण तीर्थ	१२५०	१३०२	५२
१२.	विद्यारण्य	१२५३	१३०८	५५
१३.	चन्द्रशेखर भारती	१२९०	१३११	२१
१४.	नरसिंह भारती	१३०९	१३३०	२१
१५.	पुरुषोत्तम भारती	१३२८	१३७०	४२
१६.	शङ्करानन्द	१३५०	१३७६	२६
१७.	चन्द्रशेखर भारती	१३७१	१३८६	१५
१८.	नरसिंह भारती	१३८६	१४०१	१५
१९.	पुरुषोत्तम भारती	१३९४	१४३९	४५
२०.	रामचन्द्र भारती	१४३०	१४८२	५२
२१.	नरसिंह भारती	१४७९	१४९५	१६

[1] शृंगेरी के लिए द्रष्टव्य—मैसूर गजेटियर (भाग २, द्वितीय संस्करण) पृ० ४०१—४०२, ४०८—४०९।

नं०	नाम	संन्यास ग्रहण काल	सिद्धि काल	समय
२२.	नरसिंह भारती	१४८५	१४९८	१३
२३.	इम्मडि नरसिंह भारती	१४९८	१५२१	२३
२४.	अभिनव नरसिंह भारती	१५२१	१५४४	२३
२५.	सच्चिदानन्द भारती	१५४४	१५८५	४१
२६.	नरसिंह भारती	१५८६	१६२७	४२
२७.	सच्चिदानन्द भारती	१६२७	१६६३	३६
२८.	अभिनव सच्चिदानन्द	१६६३	१६८९	२५
२९.	नृसिंह भारती	१६८९	१६९२	३
३०.	सच्चिदानन्द भारती	१६९२	१७३५	४३
३१.	अभिनव सच्चिदानन्द	१७३५	१७३९	४
३२.	नरसिंह भारती	१७३९	१८०१	४२
३३.	सच्चिदानन्द शिवाभिनव विद्यानरसिंह भारती	१७८८ —		
३४.	चन्द्रशेखर भारती			
३५.	अभिनव विद्यानन्दतीर्थ —			

विद्यारण्य

श्रृंगेरीमठ को प्रतिष्ठा तथा गौरव प्रदान करने वाले स्वामी विद्यारण्य ही हैं। इनके जीवन की प्रधान घटनाओं से परिचित होना नितान्त आवश्यक है। यह परिचय संक्षेप में इस प्रकार है।

सुनते हैं कि माधवाचार्य ने नब्बे साल की आयु में अपनी ऐहिक-लीला संवरण की। 'देव्यपराधक्षमास्तोत्र' विद्यारण्य के द्वारा विरचित माना जाता है। इसमें स्वामी जी ने अपने को पचासी वर्षों से भी अधिक जीने का उल्लेख किया है। वे कह रहे हैं कि विधि-विधानों के प्रपञ्चों से ऊबकर मैंने देवताओं की पूजा छोड़ दी है। अब ८५ से अधिक वर्ष बीत जाने पर, हे माता ! तुम्हारी कृपा मुझ पर न होगी, तो हे लम्बोदर-जननि ! निरालम्ब बन मैं किसकी शरण जाऊँगा ?

परित्यक्ता देवा विविधविधसेवाकुलतया।
मया पञ्चाशीतेरधिकमपनीते तु वयसि॥
इदानीं चेन्मातस्तव यदि कृपा नापि भविता।
निरालम्बो लम्बोदरजननि ! कं यामि शरणम्॥

अतः माधव के इस सुदीर्घ जीवनकाल के विषय में संशय का कोई स्थान

नहीं है। हरिहर द्वितीय के समय के एक शिलालेख से पता चलता है कि वि० सं० १४४३ (१३८६ ई०) में विजयनगर में विद्यारण्य की मृत्यु हुई। इसके अनुसार वि० सं० १३५३ तदनुसार १२९६ ई० में माधव का जन्म हुआ था।

मायण तथा श्रीमती के ये ज्येष्ठ पुत्र थे। इनके बाल्यकाल तथा यौवनकाल की घटनाओं के विषय में हमें अभी तक कोई भी साधन नहीं मिला है। शिलालेखों के आधार पर यही प्रतीत होता है कि अपने पचासवें वर्ष में माधव को हरिहर की संगति प्राप्त हो गई थी। हरिहर की मृत्यु के अनन्तर ये महाराज बुक्क के प्रधानमन्त्री के पद को सुशोभित करने लगे। बुक्क के ही शासनकाल में उनके प्रोत्साहन से माधव ने अपने समस्त ग्रन्थों की रचना की। 'कुलगुरुमन्त्री तथा माधवः' से स्पष्ट प्रतीत होता है कि ये बुक्क के मन्त्री होने के अतिरिक्त उनके कुलगुरु भी थे। बुक्क महाराज की माधवकृत प्रशस्त प्रशंसाओं से इनका इस भूपाल के प्रति विशेष आदर तथा अनुराग प्रकट होता है। बुक्क की भी इनके ऊपर विशेष भक्ति थी। वि० सं० १४१३ (१३५६ ई०) में माधव काशीपुरी में विराजमान थे। उस समय बुक्क ने इन्हें काशी से विरूपाक्ष (विजयनगर) लौट आने के लिए एक पत्र लिखा[1]। इसी पत्र के साथ राजा ने माधव के पूज्य गुरु विद्यातीर्थ के इस आशय के पत्र को भी भेजा। फलतः माधव अपने गुरु विद्यातीर्थ तथा आश्रयदाता की इच्छा के अनुसार काशी से लौट आए। कुछ काल के उपरान्त बुक्क विद्यारण्य के साथ शृंगेरी गए जहाँ पर इन्होंने अपने गुरु के नाम से दान दिया[2]। वि० सं० १४२५ (सन् १३६८) के एक शिलालेख में माधव बुक्क के मंत्री कहे गए हैं, जिससे उस साल में इनका मंत्री होना प्रमाणित होता है। बुक्क के शासनकाल के अन्तिम भाग में माधव ने संन्यास ग्रहण किया। वि० सं० १४३५ (सन् १३७८) का एक दान विद्यारण्य की आज्ञा से किया गया मिलता है। इसके एक वर्ष पहले के वि० सं० १४३४ (सन् १३७७ ई०) के शिलालेख में भी इनके नाम का उल्लेख पाया जाता है। बुक्क की मृत्यु वि० सं० १४३६ ई० (सं० १३७९) में हुई। अतः अपने आश्रयदाता की मृत्यु के दो चार साल पहले ही माधव ने प्रधानमन्त्री के पद से अवकाश ग्रहण कर लिया था तथा गृहस्थाश्रम को छोड़ कर विद्यारण्य के नाम से संन्यासी बन गए थे। हमारी गणना के अनुसार लगभग अस्सी वर्ष की उम्र में—अपने जीवन के सान्ध्य-काल में—माधवचार्य संन्यासी हुए। अतः पचास से लेकर अस्सी वर्ष तक माधव के विजयनगराधिपतियों के मन्त्रिपद पर प्रतिष्ठित होने की घटना अनुमानसिद्ध है।

---

[1] मैसूर पुरातत्व रिपोर्ट १९१६, पृ० ५७

[2] वही, पृ० ५७

तीस वर्षों तक—और सो भी वृद्धावस्था में—राज्यकार्य का सुचारु सम्पादन करना माधव की विशिष्ट राजनीतिज्ञता तथा अदम्य उत्साह का परिचायक है। इनके मायण नामक पुत्र का उल्लेख शिलालेख में मिलता है। इनका गार्हस्थ्य-जीवन नितान्त सुखकर प्रतीत होता है।

शृंगेरी के अध्यक्ष, माधव—माधव ने स्वामी भारती (कृष्ण) तीर्थ से संन्यासदीक्षा ली थी। ये शृंगेरी मठ के पूज्य अध्यक्ष पद पर अधिष्ठित थे। शृंगेरी मठ के आचार्यों के विवरण के अनुशीलन से प्रतीत होता है कि भारतीतीर्थ की ब्रह्मप्राप्ति १४३७ वि० सं० ई० सन् १३८० में हुई[1]। इसी वर्ष के महाराज हरिहर द्वितीय के—शृंगेरी ताम्रपत्रों में विद्यारण्य की विपुल प्रशंसा की गयी है। जान पड़ता है कि इसी वर्ष विद्यारण्य को शृंगेरी की गद्दी मिली थी। इस प्रकार अपने जीवन के अन्तिम छः वर्षों को विद्यारण्य ने इस पूजनीय पीठ के माननीय आचार्य पद पर रह कर बिताया। वि० सं० १४३७ के पहले ये कतिपय वर्षों तक भारतीतीर्थ के सङ्ग में शृंगेरी में निवास करते थे। जान पड़ता है कि 'पञ्चदशी', 'वैयासिक न्यायमाला' आदि प्रसिद्ध वेदान्त ग्रन्थों की (जिनके लेखक के रूप में गुरु और शिष्य दोनों के नाम सम्मिलित ही मिलते हैं) रचना इसी काल में की गई होगी। भारतीतीर्थ की अध्यक्षता में विरचित विद्यारण्य के ग्रन्थों में गुरु का नाम मिलना नितान्त उपयुक्त ही प्रतीत होता है। इस समय भी विद्यारण्य के ऊपर महाराज हरिहर द्वितीय की श्रद्धा तथा भक्ति कम नहीं थी। हरिहर ने अपने श्रद्धा भाव का प्रदर्शन अनेक शिलालेखों में किया है। वि० सं० १४४१ (सन् १३८४ ई०) के ताम्रपत्रों में लिखा है कि हरिहर ने विद्यारण्य मुनि के अनुग्रह के अन्य नरेशों से अप्राप्य ज्ञान साम्राज्य को पाया। इसके दूसरे वर्ष वि० सं० १४४२ (१३८५ में) हरिहर द्वितीय के पुत्र कुमार चिक्कराय ने, जो रियासत का शासक था, विद्यारण्य स्वामी को भूदान दिया। इसके अगले वर्ष १४४३ वि० सं० में नब्बे साल की उम्र में विद्यारण्य की मृत्यु हुई और अपने श्रद्धाभाजन गुरु की ब्रह्मप्राप्ति के उपलक्ष्य में इसी साल हरिहर ने शृंगेरी मठ को भूमिदान दिया। हरिहर के इसी वर्ष के अन्य एक शिलालेख में नारायणभूत विद्यारण्य की विशेष प्रशंसा की गई है जिसमें विद्यारण्य को वे त्रिदेवों—ब्रह्मा, विष्णु, महेश—से बढ़कर साक्षात् ज्योतिः स्वरूप बतलाया गया है[2]। इन सब प्रामाणिक उल्लेखों से गार्हस्थ्य-जीवन की भाँति माधव का सन्यासी जीवन भी महान् तथा विशिष्ट

[1] हेरास—विजयनगर हिस्ट्री, पृ० ३५, टिप्पणी ३

[2] विशेष के लिए द्रष्टव्य, बलदेव उपाध्याय—आचार्य सायण और माधव (प्रकाशक, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग)

प्रतीत होता है। इनके जीवन-चरित का अध्ययन यही प्रमाणित करता है कि ये अपने समय के एक दिव्य विभूति थे जिसमें आधिभौतिक शक्तियों के समान ही आध्यात्मिक शक्तियों का भी विशद विकास हुआ था। इस शक्तिद्वय के सहारे इन्होंने तत्कालीन दक्षिण भारत को भौतिक उन्नति तथा धार्मिक जागृति की ओर पर्याप्त मात्रा में फेरा तथा इस महान् कार्य में इन्हें विशेष सफलता भी प्राप्त हुई।

विद्यारण्य के विषय में विद्वानों ने बड़ा विचार किया है। इनके व्यक्तित्व के विषय में अनुसन्धानकर्ताओं में पर्याप्त मतभेद हैं। ऊपर विद्यारण्य तथा माधव एक ही अभिन्न व्यक्ति माने गये हैं। जिन आधारों पर यह सिद्धान्त निश्चित किया गया है, उनका संक्षिप्त निर्देश यहाँ किया जा रहा है।

१—नृसिंह सूर्य ने अपनी 'तिथि प्रदीदिका' में लिखा है कि विद्यारण्य यतीन्द्र आदि अनेक विद्वानों ने काल का निर्णय किया है।

अनन्ताचार्यवर्येण मन्त्रिणा मल्लिगल्लुना।
विद्यारण्ययतीन्द्राद्यैर्निर्णीतः कालनिर्णयः॥
अनिःशेषीकृतस्तैश्च मम दिष्ट्या कियान् कियान्।
तमहं सुस्फुटं वक्ष्ये ध्यात्वा गुरुपदाम्बुजम्॥

यह कालनिर्णय ग्रन्थ माधवाचार्य की कृति है। अतः इन ग्रन्थकार को माधव तथा विद्यारण्य की अभिन्नता स्वीकृत है।

२—नरसिंह नामक किसी ग्रन्थकार ने (जो १३६० से लेकर १४३५ तक विद्यमान थे) अपने प्रयोग पारिजात में विद्यारण्य को 'काल निर्णय' (प्रसिद्ध नाम काल-माधव) का कर्त्ता लिखा है। श्रीमद्विद्यारण्यमुनीन्द्रैः कालनिर्णये प्रतिपादिते प्रकारः प्रदर्श्यते—(प्रयोग पारिजात, निर्णय सागर, पृ० ४११)

३—मित्र मिश्र ने अपने सुप्रसिद्ध ग्रन्थ 'वीर मित्रोदय' (१६वीं शताब्दी) में विद्यारण्य को 'पराशर स्मृतिव्याख्या' का लेखक लिखा है। यह ग्रन्थ वस्तुतः माधवाचार्य की रचना है। इसलिए इसका प्रसिद्ध नाम 'पराशर माधव' है।

४—रंगनाथ ने अपने 'व्याससूत्रवृत्ति' को विद्यारण्यकृत श्लोकों के आधार पर लिखा गया माना है।

विद्यारण्यकृतैः श्लोकैर्नृसिंहाश्रयसूक्तिभिः।
संदृब्धा व्याससूत्राणां वृत्तिर्भाष्यानुसारिणी॥

इस श्लोक में माधवरचित वैयासिक 'न्यायमाला विस्तर' का स्पष्ट संकेत है।

५—प्रसिद्ध विद्वान् अहोबल पण्डित माधव के भागिनेय थे। उन्होंने तेलगू भाषा का एक बड़ा व्याकरण संस्कृत में लिखा है। इसी ग्रन्थ में उन्होंने 'माधवोया-

धातुवृत्ति' को विद्यारण्य की रचना बतलाया है[1]। अहोबल पण्डित का यह कथन बड़े महत्त्व का है। इसमें जो घटनाएँ विद्यारण्य के सम्बन्ध में कही गई हैं वे सब माधव से सम्बद्ध हैं। विद्यानगरी (विजयनगर) में हरिहर राय को सार्वभौम पद (चक्रवर्ती) देने का गौरव विद्यारण्य को दिया गया है। यह घटना माधवाचार्य के साथ इतनी सुश्लिष्ट है कि इसके निर्देशमात्र से विद्यारण्य माधव से अभिन्न ही सिद्ध हो रहे हैं। एक बात और भी है। माधव अहोबल पण्डित के मामा थे, अतः भानजे का अपने मामा के विषय में उल्लेख प्रामाणिक तथा आदरणीय अवश्य माना जायगा।

६—पञ्चदशी की रचना विद्यारण्य तथा भारतीतीर्थ ने मिलकर की, यह बात सर्वत्र प्रसिद्ध है। इसीलिए रामकृष्ण भट्ट ने पञ्चदशी टीका के आरम्भ में तथा अन्त में इन दोनो का नाम सम्मिलित रूप से उल्लिखित किया है[2]। ये रामकृष्ण विद्यारण्य के साक्षात् शिष्य थे। माधव के गुरुओं में भारतीतीर्थ अन्यतम थे, इसका परिचय हमें माधव के ग्रन्थों से भलीभाँति मिलता है। जैमिनिन्यायमाला विस्तर में तथा कालमाधव में इनका स्मरण किया गया है। इस सम्मिलित उल्लेख से यह स्पष्ट है कि रामकृष्ण की सम्मति में विद्यारण्य ही माधवाचार्य थे।

७—विजयनगर के राजा द्वितीय बुक्क के समय में चौण्ड्याचार्य नामक विद्वान् ने 'प्रयोगरत्नमाला' (आपस्तम्ब अध्वरतन्त्र व्याख्या) नामक कर्मकाण्ड की पुस्तक बनाई है। चौण्ड्याचार्य ने स्वामी विद्यारण्य के मुँह से इस अध्वर-तन्त्र की व्याख्या सुनी थी, और उसी व्याख्यान के अनुसार उन्होंने इस ग्रन्थ की टीका लिखी। ग्रन्थारम्भ में विद्यारण्य के लिए जिन शब्दों का प्रयोग किया गया[3] है, उनका स्वारस्य माधव विद्यारण्य की एकता के कारण ही जमता है। 'वेदार्थ

[1] वेदानां भाष्यकर्ता विवृतमुनिवचा धातुवृत्तेर्विधाता।
प्रोद्यद्विद्यानगर्यां हरिहरनृपतेः सार्वभौमत्वदायी।।
वाणी नीलाहिवेणी सरसिजनिलया किङ्करीति प्रसिद्धा।
विद्यारण्योऽग्रगण्योऽभवदखिलगुरुः शङ्करो वीतशङ्कः।।

[2] नत्वा श्री भारतीतीर्थविद्यारण्यमुनीश्वरौ।
मयाऽद्वैतविवेकस्य क्रियते पदयोजना।।

इति श्री परमहंस परिव्राजकाचार्य श्रीभारतीतीर्थविद्यारण्यमुनिवर्य किङ्करेण श्रीरामकृष्णविदुषा विरचित पददीपिका......।

[3] पदवाक्य प्रमाणानां पारदृश्वा महामतिः।
सांख्ययोगरहस्यज्ञो ब्रह्मविद्यापरायणः।।

विशदीकर्ता' स्पष्ट बतला रहा है कि वेदों में भाष्यनिर्माण में कारणभूत माधवाचार्य ही विद्यारण्य थे। इस समसामयिक ग्रन्थकार की सम्मति में दोनों व्यक्ति अभिन्न थे, इसमें किसी प्रकार का सन्देह नहीं रह जाता।

८—१३८६ ई० के एक ताम्रपत्र से जाना जाता है कि वैदिक मार्ग प्रतिष्ठापक तथा धर्म ब्रह्माध्वन्य (धर्म तथा ब्रह्म के मार्ग पर चलने वाले) विजयनगराधीश श्री हरिहर द्वितीय ने चारों वेदों के भाष्यों के प्रवर्त्तक तीन पण्डितों को (जिनके नाम हैं—नारायण, वाजपेययाजी, नरहरिसोमयाजी तथा पण्डरि दीक्षित) विद्यारण्य श्रीपाद के समक्ष में अग्रहार दान दिया। इस शासन-पत्र में विद्यारण्य स्वामी का उल्लेख बड़े महत्त्व का है। यह तो हम जानते हैं कि वेदभाष्य की रचना से माधवाचार्य का बहुत ही सम्बन्ध है। क्योंकि उनका ही आदेश पाकर सायण ने वेदभाष्यों का निर्माण किया था। बहुत सम्भव है कि हरिहर ने इन्हीं के कहने पर इन तीनों पण्डितों को पुरस्कृत किया होगा। जिन वेदभाष्यों की रचना में माधव का इतना अधिक हाथ था, उनके प्रवर्तकों को उनके समक्ष में पुरस्कार देना स्वाभाविक तथा उचित प्रतीत होता है। इस उल्लेख से माधव ही विद्यारण्य प्रतीत होते हैं। यदि विद्यारण्य माधव से भिन्न व्यक्ति होते तो उनके सामने इस पुरस्कार के दान की क्या आवश्यकता थी। इन्हीं प्रबल प्रमाणों के आधार पर विद्यारण्य को सायण के ज्येष्ठ भ्राता माधव से अभिन्न मानना इतिहास सम्मत तथा सम्प्रदायानुकूल है।

माधव के समकालीन माधवमन्त्री भी एक अन्य प्रसिद्ध व्यक्ति थे। कभी-कभी इन दोनों की एकता मानने से बड़ी गड़बड़ी होती है। नाम की समता होने पर भी आचार्य माधव अमात्य माधव से भिन्न व्यक्ति हैं। ये

माधव मंत्री

माधव मन्त्री विजयनगर के महाराजा हरिहर प्रथम के अनुज मारप्प के मन्त्री थे। ये मारप्प पश्चिमी समुद्र के तीरस्थ प्रदेशों के शासक थे। महाराज बुक्कराय प्रथम तथा उनके पुत्र हरिहर द्वितीय के समय में भी माधव मन्त्री का काम करते रहे। ये केवल विज्ञ शासक ही नहीं थे बल्कि बड़े भारी योद्धा तथा शत्रुमानमर्दनकारी वीर पुरुष थे। शिलालेखों में ये 'भुवनैकवीरः' कहे गये हैं, और ठीक ही कहे गये हैं, क्योंकि अपरान्त (कोङ्कण बम्बई प्रान्त) को जीतकर मन्दिरों तथा मूर्तियों को छिन्न-भिन्न करने वाले

वेदार्थविशदीकर्ता वेदवेदाङ्गपारवित्।
विद्यारण्ययतिर्ज्ञात्वा श्रौतस्मार्त क्रियापरैः॥

देखिए Sources of Vijaganagar History में उद्धृत प्रयोगरत्नमाला के वचन।

तुरुष्कों को (मुसलमान) माधव मन्त्री ने परास्त कर जिस शौर्य का परिचय दिया वह विजयनगर के इतिहास में एक श्लाघनीय व्यापार था[१]। इसी के उपलक्ष्य में बुक्कराय ने इनको बनवासी प्रान्त का शासक नियुक्त किया था। ये विद्वान् भी थे। 'सूतसंहिता' की (जो स्कन्दपुराण के अन्तर्गत दार्शनिक सिद्धान्तों से ओत-प्रोत प्रसिद्ध भाग है) 'तात्पर्य दीपिका' नामक विद्वत्तापूर्ण व्याख्या लिखी[१] जिससे इनके विस्तृत अध्ययन का भलीभाँति परिचय मिलता है। इन्हीं माधव मन्त्री के धीरतामय कार्य कभी-कभी स्वामी विद्यारण्य के ऊपर आरोपित किए जाते हैं। परन्तु यह आरोप नितान्त भ्रान्त है। इसका परिचय निम्नलिखित तालिका से भलीभाँति चलता है—

नाम	माधवाचार्य	माधवमन्त्री
गोत्र	भारद्वाज	आङ्गिरस
पिता	मायण	चौण्ड्य
माता	श्रीमती	माचाम्बिका
भ्राता	सायण भोगनाथ	×
गुरु	विद्यातीर्थ भारतीतीर्थ श्रीकण्ठ	काशीविलास क्रियाशक्ति
ग्रन्थ	पराशर माधव आदि	तात्पर्य दीपिका (सूत संहिता की टीका)
मृत्यु वर्ष	१३८७ ई०	१३९१ ई०

विद्यारण्य के ग्रन्थ— शृंगेरी के पीठ पर आरूढ़ होने से पहले उन्होंने धर्मशास्त्र और मीमांसा के ग्रन्थों की रचना की। संन्यास लेने पर अद्वैत वेदान्त पर ही इन्होंने ग्रन्थ लिखे। इनके प्रसिद्ध ग्रन्थ नीचे दिये जाते हैं—

---

[१] आशान्तविश्रान्तयशाः स मन्त्री दिशो जिगीषुर्महता बलेन ।
गोवाभिधां कौंकणराजधानीमन्येन मन्येऽहरणदर्णवेन ॥
प्रतिष्ठितांस्तत्र तुरुष्कसङ्घान् उत्पाट्य दोष्णा भुवनैकवीरः ।
उन्मूलितानामकरोत् प्रतिष्ठां श्रीसप्तनाथादिसुधाभुजां यः ॥

[२] श्रीमत्काशीविलासाख्यक्रियाशक्तीशसेविना ।
श्रीमत्त्र्यम्बकपादाब्जसेवानिष्णातचेतसा ॥
वेदशास्त्रप्रतिष्ठात्रा श्रीमन्माधवमन्त्रिणा ।
तात्पर्यदीपिका सूतसंहितायाः विधीयते ॥

—आनन्दाश्रम संस्कृत ग्रन्थावली, पूना

१. **जैमिनिन्यायमालाविस्तर**—यह ग्रन्थ मीमांसा-दर्शन के अधिकरणों के विषय में है। कारिकाओं के द्वारा अधिकरणों का स्वरूप भलीभाँति समझाया गया है।

२. **पराशरमाधव**—यह पराशर संहिता के ऊपर एक बृहत्काय भाष्य है। धर्मशास्त्र के समस्त ज्ञातव्य विषयों का इस निबन्ध में विस्तृत प्रतिपादन है।

३. **कालमाधव**—'कालनिर्णय' इसी का दूसरा नाम है। तिथियों के निरूपण के लिए यह ग्रन्थ नितान्त प्रामाणिक तथा उपादेय समझा जाता है।

वेदान्त ग्रन्थ—(१) अनुभूति प्रकाश—उपनिषदों की व्याख्या सरल, सुबोध श्लोकों में सुन्दर ढंग से की गई है। (२) जीवन्मुक्ति विवेक—संन्यासियों के समस्त धर्मों का निरूपण इसमें किया गया है। इस विषय की अत्यन्त उपादेय पुस्तक है। (३) विवरणप्रमेयसंग्रह—पंचपादिका विवरण के ऊपर यह प्रमेय प्रधान ग्रन्थ अद्वैत वेदान्त में उच्चकोटि का माना जाता है। (४) बृहदारण्यक वार्त्तिकसार—आचार्य शंकर के बृहदारण्यक भाष्य पर सुरेश्वराचार्य ने जो विशालकाय वार्त्तिक लिखा है, उसी का संक्षेप श्लोकों में यहाँ दिया गया है। इन उच्चकोटि के ग्रन्थों के अतिरिक्त विद्यारण्य की समधिक जनप्रिय रचना 'पंचदशी' है जिसमें अद्वैत वेदान्त के तथ्यों का प्रतिपादन सुबोध श्लोकों में रोचक दृष्टान्तों के सहारे बड़े ही अच्छे ढंग से किया गया है।

शारदापीठ

इस पीठ के आदि आचार्य हस्तामलक थे। तब से लेकर आज तक यह पीठ कभी उच्छिन्न नहीं हुआ, सदा कोई न कोई आचार्य पीठ पर विराजमान था। इसलिए यहाँ मठाम्नाय विशेष आदर की दृष्टि से देखा जाता है। यहाँ के आचार्यों की नामावली यहाँ दी जा रही है। बहुत उद्योग करने पर भी उनके जीवनवृत्त का परिचय नहीं मिला। द्वारिकापुरी में ही इस मठ का प्रधान स्थान था। समय-समय पर इधर उधर स्थान बदलता भी रहा। बड़ौदा राज्य के हस्तक्षेप करने के कारण यहाँ की स्थिति सुधरने की अपेक्षा बिगड़ती ही गयी है। मूल अधिपति कोई दूसरा है और बड़ौदा सरकार किसी दूसरे को ही शंकराचार्य उद्घोषित करती है। धार्मिक-जगत् में राजाओं का इस प्रकार हस्तक्षेप करना नितान्त अनुचित है। इस मठ के अध्यक्ष राजराजेश्वराश्रम का अभी कुछ दिन हुए देहान्त हुआ है। ये वृद्ध थे तथा मठ के इतिहास से परिचित थे।

शारदा पीठ

आचार्य नाम				
१. सुरेश्वराचार्य	५२	चैत्र कृष्ण	८	२६६१ यु० सं०
२. चित्सुखाचार्य	२४	पौष शुक्ल	३	२७१५ ,,

३. सर्वज्ञानाचार्य	५६	श्रावण शुक्ल ११	२७७४	,,
४. ब्रह्मानन्द तीर्थ	४६	श्रावण शुक्ल १	२८२३	,,
५. स्वरूपाभिज्ञानाचार्य	६७	ज्येष्ठ कृष्ण १	२८६०	,,
६. मङ्गलमूर्त्याचार्य	५२	पौष शुक्ल १४	२६४२	,,
७. भास्कराचार्य	२३	पौष शुक्ल १२	२६६५	,,
८. प्रज्ञानाचार्य	४३	आषाढ़ शुक्ल ७	३००८	,,
६. ब्रह्मज्योत्स्नाचार्य	३२	चैत्र कृष्ण ४	३०४०	,,
१०. आनन्दाविर्भावाचार्य	×	फाल्गुन शुक्ल ६	६ विक्रम संवत्	
११. कलानिधि तीर्थ	७३	पौष शुक्ल ६	८२	,,
१२. चिद्विलासाचार्य	३७	मार्गशीर्ष शुक्ल १३	११६	,,
१३. विभुत्यानन्दाचार्य	३५	श्रावण कृष्ण ११	१५४	,,
१४. स्फूर्तिनिलयपाद	४६	आषाढ़ शुक्ल ६	२०३	,,
१५. वरतन्तुपाद	५६	आषाढ़ कृष्ण ३	२५६	,,
१६. योगारूढाचार्य	१०१	मार्गशीर्ष कृष्ण ११	३६०	,,
१७. विजयडिण्डिमाचार्य	३४	पौष कृष्ण ८	३६४	,,
१८. विद्यातीर्थ	४३	चैत्र शुक्ल १	४२७	,,
१६. चिच्छक्तिदैशिक	१	आषाढ़ शुक्ल १२	४३८	,,
२०. विज्ञानेश्वरी तीर्थ	७३	आश्विन शुक्ल १५	५११	,,
२१. ऋतंभराचार्य	६१	माघ शुक्ल १०	५७२	,,
२२. अमरेश्वर गुरु	३६	भाद्रपद ६	६०८	,,
२३. सर्वतोमुख तीर्थ	६१	पौष शुक्ल ४	६६६	,,
२४. आनन्ददैशिक	५२	वैशाख कृष्ण ५	७२१	,,
२५. समाधिरसिक	७८	फाल्गुन शुक्ल १२	७६६	,,
२६. नारायणाश्रम	३७	चैत्र शुक्ल १४	८२६	वि०सं०
२७. वैकुण्ठाश्रम	४६	आषाढ़ कृष्ण ६	८८५	,,
२८. विक्रमाश्रम	×	आषाढ़ शुक्ल ३	६११	,,
२६. नृसिंहाश्रम	×	ज्येष्ठ कृष्ण १४	६६०	,,
३०. अम्बाश्रम	५	वैशाख ,, १५	६६५	,,
३१. विष्णवाश्रम	३६	ज्येष्ठ शुक्ल १	१००१	,,
३२. केशवाश्रम	५६	माघ कृष्ण ५	१००६	,,
३३. चिदम्बराश्रम	२३	मार्गशीर्ष कृष्ण ६	१०८३	,,
३४. पद्मनाभाश्रम	२८	ज्येष्ठ शुक्ल १५	११०६	,,
३५. महादेवाश्रम	७५	श्रावण कृष्ण ६	११८४	,,

३६. सच्चिदानन्दाश्रम	२३	आश्विन कृष्ण	५	१२०७	,,
३७. विद्याशंकराश्रम	५८	,, ,,	४	१२६५	,,
३८. अभिनवसच्चिदानन्दाश्रम	२८	वैशाख शुक्ल	६	१२९३	,,
३९. शशिशेखराश्रम	३३	,, ,,	१	१३२६	,,
४०. वासुदेवाश्रम	३६	फाल्गुन कृष्ण	१०	१३६२	,,
४१. पुरुषोत्तमाश्रम	३२	माघ कृष्ण	५	१३९४	,,
४२. जनार्दनाश्रम	१४	भाद्रपद शुक्ल	१५	१४०८	,,
४३. हरिहराश्रम	३	श्रावण शुद्ध	११	१४११	,,
४४. भवाश्रम	१०	वैशाख कृष्ण	५	१४२१	,,
४५. ब्रह्माश्रम	१५	आषाढ़ शुक्ल	९	१४३६	,,
४६. बामनाश्रम	१७	चैत्र कृष्ण	१२	१४५३	,,
४७. सर्वज्ञाश्रम	३६	,, ,,	८	१५८९	,,
४८. प्रद्युम्नाश्रम	६	,, शुक्ल	६	१४६५	,,
४९. गोविन्दाश्रम	२८	ज्येष्ठ कृष्ण	४	१५२३	,,
५०. चिदाश्रम	५३	फाल्गुनशुक्ल	२	१५७६	,,
५१. विश्वेश्वराश्रम	३३	माघ ,,	१	१६०८	,,
५२. दामोदराश्रम	७	चैत्र कृष्ण	५	१६१५	,,
५३. महादेवाश्रम	१	,, शुक्ल	१	१६१६	,,
५४. अनिरुद्धाश्रम	९	माघ कृष्ण	४	१६२५	,,
५५. अच्युताश्रम	४	श्रावण कृष्ण	६	१६२९	,,
५६. माधवाश्रम	३६	माघ कृष्ण	४	१६६५	,,
५७. अनंताश्रम	५१	चैत्र शुक्ल	१२	१७१६	,,
५८. विश्वरूपाश्रम	५	श्रावण कृष्ण	२	१७२१	,,
५९. चिद्घनाश्रम	५	माघ शुक्ल	६	१७२६	वि० सं०
६०. नृसिंहाश्रम	९	वैशाख ,,	४	१७३५	,,
६१. मनोहराश्रम	२६	भाद्रपद ,,	९	१७६१	,,
६२. प्रकाशानन्द सरस्वती	३४	आश्विन कृष्ण	६	१७९५	,,
६३. विशुद्धाश्रम	४	वैशाख ,,	१५	१७९९	,,
६४. वामनेन्द्राश्रम	३२	श्रावण शुक्ल	६	१८३१	,,
६५. केशवाश्रम	७	कार्तिक कृष्ण	९	१८३८	,,
६६. मधुसूदनाश्रम	१०	माघ शुक्ल	५	१८४८	,,
६७. हयग्रीवाश्रम	१४			१८६२	,,
६८. प्रकाशाश्रम	१			१८६३	,,

६९. हयग्रीवानन्द सरस्वती	११		१८७४	,,
७०. श्रीधराश्रम	४०		१९१४	,,
७१. दामोदराश्रम	१४		१९२८	,,
७२. केशवाश्रम	७	अश्विन कृ० ७ भृगुवार	१९३५	,,
७३. राजराजेश्वर शंकराश्रम	२२	आषाढ़ शुक्ल ५	१९५७	,,
७४. माधवतीर्थ	१५	भाद्रपद अमावस्या	१९७२	,,

७५. शान्त्यानन्द सरस्वती

७६. अभिनव सच्चिदानन्द तीर्थ—

गोवर्धनमठ

इस मठ का मूल स्थान जगन्नाथपुरी है। आचार्य ने पद्मपादाचार्य को इसका प्रथम अधिपति बनाया था। उन्हीं से यहाँ की आचार्यपरम्परा आरम्भ होती है। आचार्यों के नाम श्लोकबद्ध रूप में मिले हैं जो नीचे दिये जा रहे हैं। इनका जीवनचरित उपलब्ध नही हो सका। संप्रति यहाँ के अध्यक्ष भारतीकृष्ण तीर्थ रहे हैं पर इनका भी शरीरान्त २ फरवरी, १९५८ इस्वी को बम्बई में हो गया। अभीतक आचार्य की गद्दी रिक्त है। भारती कृष्ण जी संस्कृत, हिन्दी तथा अंग्रेजी के अच्छे विद्वान् थे। ये बड़े अच्छे वक्ता भी थे। इस मठ की पर्याप्त प्रतिष्ठा है। बीच में यहाँ की आचार्य-परम्परा कुछ उच्छिन्न-सी रही है। आचार्यों के नाम श्लोकबद्ध रूप में इस प्रकार हैं—

माधवस्य सुतः श्रीमान् सनन्दन इति श्रुतः।
प्रकाशब्रह्मचारी च ऋग्वेदः सर्वशास्त्रवित्॥ १७॥
श्रीपद्मपादः प्रथमाचार्य्यत्वेनाभ्यषिच्यत।
श्रीमत्परमहंसादिबिरुदैरखिलैः सह॥ १८॥
अङ्गवङ्गकलिङ्गाश्च मगधोत्कलवर्ब्बराः।
गोवर्द्धनमठाधीनाः कृताः प्राचीव्यवस्थितः॥ १९॥
तस्मिन् गोवर्द्धनमठे शङ्कराचार्य्यपीठगान्।
जगद्गुरून् क्रमाद् वक्ष्ये जन्ममृत्युनिवृत्तये॥ २०॥
पद्मपादः शूलपाणिस्ततो नारायणाभिधः।
विद्यारण्यो वामदेवः पद्मनाभाभिधस्ततः॥ २१॥
जगन्नाथः सप्तमः स्यादष्टमो मधुरेश्वरः।
गोविन्दः श्रीधरस्वामी माधवानन्द एव च॥ २२॥
कृष्णब्रह्मानन्दनामा रामानन्दाभिधस्ततः।
वागीश्वरः श्रीपरमेश्वरो गोपालनामकः॥ २३॥

जनार्दनस्तथा ज्ञानानन्दचाष्टादशः स्मृतः ।
मध्यकाले स्थितानेतानाचार्य्यान्नमाम्यहम् ।। २४ ।।
अथ तीर्थाभिधान् श्रीमद्गोवर्द्धनमठे स्थितान् ।
अस्मदाचार्य्यपर्य्यन्तान् गुरुन्नाम्ना स्मराम्यहम् ।। २५ ।।
एकोनविंश आचार्य्यो बृहदारण्यतीर्थकः ।
महादेवोऽथ परमब्रह्मानन्दस्ततः स्मृतः ।। २६ ।।
रामानन्दस्ततो ज्ञेयस्त्रयोविंशः सदाशिवः ।
हरीश्वरानन्दोतीर्थो वोधानन्दस्ततः परम् ।। २७ ।।
श्रीरामकृष्णतीर्थोऽथ चिद्बोधात्माभिधस्ततः ।
तत्त्स्वाक्षरमुनिः पश्चादूनात्रिंशस्तु शङ्करः ।। २८ ।।
श्रीवासुदेवतीर्थश्च हयग्रीव श्रुतीश्वरः ।
विद्यानन्दस्त्रयोस्त्रिंशो मुकुन्दानन्द एव च ।। २९ ।।
हिरण्यगर्भतीर्थश्च नित्यानन्दस्ततः परम् ।
सप्तत्रिंशः शिवानन्दो योगीश्वरसुदर्शनौ ।। ३० ।।
अथ श्रीव्योमकेशाख्यो ज्ञेयो दामोदरस्ततः ।
योगानन्दाभिधरतीर्थो गोलकेशस्ततः परम् ।। ३१ ।।
श्रीकृष्णानन्दतीर्थश्च देवानन्दाभिधस्तथा ।
चन्द्रचूडाभिधः षट्चत्वारिंशोऽथ हलायुधः ।। ३२ ।।
सिद्धसेव्यस्तारकात्मा ततो बोधाजनाभिधः ।
श्रीधरो नारायणश्च ज्ञेयश्चान्यः सदाशिवः ।। ३३ ।।
जयकृष्णो विरूपाक्षो विद्यारण्यस्तथापरः ।
विश्वेश्वराभिधस्तीर्थो विबुधेश्वर एव च ।। ३४ ।।
महेश्वरस्तु नषष्टितमोऽथ मधुसूदनः ।
रघूत्तमो रामचन्द्रो योगीन्द्रश्च महेश्वरः ।। ३५ ।।
ओङ्काराख्यः पंचषष्टितमो नारायणोऽपरः ।
जगन्नाथः श्रीधरश्च रामचंद्रस्तथापरः ।। ३६ ।।
अथ ताम्रकतीर्थः स्यात् तत उग्रेश्वर स्मृतः ।
उद्दण्डतीर्थश्च ततः सङ्कवेणजनार्द्दनौ ।। ३७ ।।
अखण्डात्माभिधस्तीर्थः पंचसप्ततिसंख्यकः ।
दामोदरः शिवानन्दन्ततः श्रीमद्गदाधरः ।। ३८ ।।
विद्याधरो बामनश्च ततः श्रीशङ्करोऽपरः ।
नीलकण्ठो रामकृष्णास्तथा श्रीमद्रघूत्तमः ।। ३९ ।।
दामोदरोऽन्यो गोपालः षडशीतितमो गुरुः ।

मृत्युञ्जयोऽथ गोविन्दो वासुदेवस्तथाऽपर: ।। ४० ।।
गङ्गाधराभिधस्तीर्थस्तत: श्रीमत् सदाशिव: ।
वामदेवश्चोपमन्युर्हयग्रीवो हरिस्तथा ।। ४१ ।।
रघूत्तमाभिधस्त्वन्य: पुण्डरीकाक्ष एव च ।
परशंकरतीर्थश्च शतादून: प्रकथ्यते ।। ४२ ।।
वेदगर्भाभिधस्तीर्थस्ततो वेदान्तभास्कर: ।
रामकृष्णाभिधस्त्वन्यत् चतु:शततमो मत: ।
वृषध्वज: शुद्धवोधस्तत: सोमेश्वराभिध: ।। ४४ ।।
अष्टोत्तरशततमो वोपदेव: प्रकीर्त्तित: ।
शम्भुतीर्थो भृगुश्चार्थ केशवानन्दतीर्थक: ।। ४५ ।।
विद्यानन्दाभिधस्तीर्थो वेदानन्दाभिधस्तत: ।
श्रीलोधानन्दतीर्थश्च सुतपानन्द एव च ।। ४६ ।।
तत: श्रीधरतीर्थोऽन्यस्तथा चान्यो जनार्द्दन: ।
कामनाशानन्दतीर्थ: शतमष्टादशाधिकम् ।। ४७ ।।
ततो हरिहरानन्दो गोपालाख्योऽपरस्तत: ।
कृष्णानन्दाभिधस्त्वन्यो माधवानंद एव च ।। ४८ ।।
मधुसूदनतीर्थोऽन्यो गोविन्दोऽथ रघूत्तम: ।
वामदेवो हृषीकेशस्ततो दामोदरोऽपर: ।। ४९ ।।
गोपालानन्दतीर्थश्च गोविन्दाख्योऽपरस्तत: ।
तथा रघूत्तमश्चान्यो रामचन्द्रस्तथापर: ।। ५० ।।
गोविन्दो रघुनाथश्च रामकृष्णस्ततोऽपर: ।
मधुसूदनतीर्थश्च तथा दामोदरोऽपर: ।। ५१ ।।
रघूत्तम: शिवो लोकनाथो दामोदरस्तत: ।
मधुसूदनतीर्थाख्यस्तत: आचार्य्य उच्यते ।। ५२ ।।
आजन्मब्रह्मचारी यो भाति गोवर्द्धने मठे ।
द्विचत्वारिंशदधिकशतसंख्य: सनन्दनात् ।। ५३ ।।
श्रीमत्परमहंसादिनानाविरुदशोभितान् ।
तीर्थाभिधानिमान् सर्व्वान् गुरुन्नित्यं नमाम्यहम् ।। ५४ ।।

ज्योतिर्मठ

यह आचार्य शङ्कर के द्वारा स्थापित मठों में चौथा मठ है। उत्तरी भारत के धार्मिक सुधार तथा व्यवस्था के लिए आचार्य ने बदरीनारायण के पास ही इस मठ की स्थापना की। बद्रीनाथ से यह स्थान २० मील दक्षिण है। साधारण

लोग इसे जोशी मठ के नाम से पुकारते हैं। बद्रीनाथ के पुजारी रावल जी का यही स्थान है। अक्टूबर से लेकर अप्रैल तक अधिक शीत के कारण जब बद्रीनाथ का मन्दिर बन्द कर दिया जाता है तब वहाँ की चल प्रतिमा तथा अन्य वस्तुएँ इसी स्थान पर चली आती हैं। हमने दिखलाया है कि बद्रीनाथ की पूजा-अर्चा में आचार्य शङ्कर का बहुत हाथ था। वर्तमान मूर्ति आचार्य के द्वारा प्रतिष्ठित की गई थी, यही सच्चा ऐतिहासिक मत है। इस स्थान की पवित्रता अक्षुण्ण बनाये रखने के लिए उन्होंने इस मठ की स्थापना की।

इसके प्रथम अध्यक्ष हुए तोटकाचार्य जो शङ्कराचार्य के साक्षात् शिष्यों में अन्यतम थे। उनके अनन्तर होने वाले आचार्यों का नाम निम्नलिखित श्लोकों में मिलता है जिसे पर्वत के पण्डित लोग प्रातः स्मरणीय मानकर सदा याद रखते हैं :—

तोटको विजयः कृष्णः कुमारो गरुडध्वजः।
विन्ध्यो विशालो वकुलो वामनः सुन्दरोऽरुणः॥
श्रीनिवासः सुखानन्दो विद्यानन्दः शिवो गिरिः।
विद्याधरो गुणानन्दो नारायण उमापतिः॥
एते ज्योतिर्मठाधीशा आचार्याश्चिरजीविनः।
य एतान् संस्मरेन्नित्यं योगसिद्धिं स विन्दति॥

ये बीस आचार्य ज्योतिर्मठ के अध्यक्ष पद पर क्रमशः आरूढ़ होते आए। यदि एक आचार्य के लिए २० वर्ष का समय मान लिया जाय तो इन समग्र आचार्यों का समय ४०० वर्ष के आसपास निश्चित होता है, अर्थात् स्थूल रूप से हम कह सकते हैं कि इन आचार्यों का समय ७०० विक्रमी से लेकर ११०० विक्रमी तक था। इसके अनन्तर यह आचार्य परम्परा उच्छिन्न-सी प्रतीत होती है। ४०० वर्ष तक किसी आचार्य का पता नहीं चलता। आरम्भ से ही बद्रीनाथ के पूजन-अर्चन का भार यहीं के संन्यासी महन्त के सुपुर्द था। जब से ज्योतिर्मठ का सम्बन्ध बदरीनाथ के मन्दिर के साथ है तब से मठ का अधिकारी संन्यासी, मन्दिर का अधिकारी तथा पूजक भी रहता आ रहा है। १५०० सम्बत् के अनन्तर बदरीनाथ के महन्थों की नामावली मिलती है। इससे प्रतीत होता है कि ये ज्योतिर्मठ के भी अध्यक्ष थे। इससे पूर्व चार-सौ वर्ष के अध्यक्षों का पूरा परिचय नहीं मिलता। इन अध्यक्षों की नामावली इस प्रकार है :—

नाम	सम्बत् पूजा में अधिकारी होने का	मृ० सं०	पूजाकाल
१. बालकृष्णस्वामी	१५००	१५५७	५७

२. हरिब्रह्मस्वामी	१५५७	१५५८	१
३. हरिस्मरणस्वामी	१५५८	१५६६	८
४. वृन्दावनस्वामी	१५६६	१५६८	२
५. अनन्तनारायणस्वामी	१५६८	१५६९	१
६. भवानन्दस्वामी	१५६९	१५८३	१४
७. कृष्णानन्दस्वामी	१५८३	१५९३	१०
८. हरिनारायणस्वामी	१५९३	१६०१	८
९. ब्रह्मानन्दस्वामी	१६०१	१६२१	२०
१०. देवानन्द ,, ,,	१६२१	१६३६	१५
११. रघुनाथ ,, ,,	१६३६	१६६१	२५
१२. पूर्णदेव	१६६१	१६८७	२६
१३. कृष्णदेव	१६८७	१६९६	९
१४. शिवानन्द	१६९६	१७०३	७
१५. बालकृष्ण	१७०३	१७१७	१४
१६. नारायण उपेन्द्र ,, ,,	१७१७	१७५०	३३
१७. हरिश्चन्द्र ,, ,,	१७५०	१७६३	१३
१८. सदानन्द ,, ,,	१७६३	१७७३	१०
१९. केशवस्वामी	१७७३	१७८१	८
२०. नारायणतीर्थ स्वामी	१७८१	१८२३	४२
२१. रामकृष्णस्वामी	१८२३	१८३३	१०

यहाँ तक ज्योतिर्मठ और उसके साथ बदरीनाथ का मन्दिर दंडी स्वामियों के अधिकार में था। किन्तु इसके पश्चात् संन्यासियों के हाथ से निकलकर ब्रह्मचारी रावलों के हाथ में आ गया। घटना इस प्रकार हुई। १८२३ विक्रमी में रामकृष्ण स्वामी की मृत्यु के अनन्तर उनका कोई उत्तराधिकारी न था। उसी समय गढ़वालनरेश महाराज प्रदीपशाह यात्रा के लिए वहाँ पधारे। पुजारी के अभाव को देखकर महाराजा ने गोपाल नामक ब्रह्मचारी को (जो नम्बुद्री जाति का ब्राह्मण था तथा भगवान् के लिए भोग पकाता था) रावल की पदवी से विभूषित किया और छत्र-चँवर आदि आवश्यक उपकरणों के साथ उन्हें रामकृष्ण स्वामी के स्थान पर नियत किया। तब से मन्दिर का पूजन इन्हीं रावलों के हाथ है। आचार्य स्वयं केरल के नम्बुद्री ब्राह्मण थे। अत: उन्होंने अपने समय में अपनी ही जाति के ब्राह्मण को बदरीनाथ के पूजन-अर्चन के लिए नियुक्त किया। तब से रावल उसी जाति का होता आया है। इन रावलों का नाम देना आवश्यक है।

नाम	पूजाधिकार सम्वत्	मृत्यु सम्वत्	पूजाकाल
१. गोपालरावल	१८३३	१८४२	६
२. रामचन्द्र रामब्रह्म रघुनाथ रावल	१८४२	१८४३	१
३. नीलदन्त रावल	१८४३	१८६८	५
४. सीताराम ,, ,,	१८४८	१८५६	११
५. नारायण (प्रथम)	१८५६	१८७३	१४
६. नारायण (द्वितीय)	१८७३	१८६८	२५
७. कृष्ण ,, ,,	१८६८	१६०२	४
८. नारायण (तृतीय)	१६०२	१६१६	१४
६. पुरुषोत्तम ,, ,,	१६१६	१६५७	४१
१०. बासुदेव ,, ,,	१६५७	१६५८	१

[बासुदेव रावल को किसी कारणवश त्याग-पत्र देना पड़ा था, तब उनके अनन्तर नम्बुद्री रावल बनाये गये थे।

उनकी मृत्यु के अनन्तर यह पद बासुदेव रावल को ही फिर से प्राप्त हुआ, इसी कारण उनका नाम दोबारा आता है]

११. रामा रावल	१६५८	१६६२	४
१२. बासुदेव ,, ,,	१६६२	१६ .	..

इन रावलों का सम्बन्ध बदरीनाथ के मन्दिर से ही प्रधानतया है। मठ से इनका साक्षात् कोई भी सम्बन्ध नहीं है। किन्तु आध्यात्मिक सम्बन्ध तो है ही। ज्योतिर्मठ की गद्दी (श्री रामकृष्ण स्वामी की देहलीला संवरण करने के उपरान्त) सम्वत् १८३३ विक्रमी में रिक्त हो गयी। तब से यह निरन्तर उसी स्थिति में सम्वत् १६६८ विक्रमी तक चली आ रही थी। उसके कोई प्रत्यक्ष चिह्न भी नहीं थे, जिसके आधार पर उसका कोई पता भी लगाया जा सके। हाँ, गढ़वाल सरकार के सरकारी कागजों में केवल ५ विस्वे जमीन मठ के नाम से चली आ रही थी।

उसी जमीन के आधार पर 'भारत धर्म महामण्डल' ने उस स्थान का पता लगाया जहाँ पीठ प्रतिष्ठापित था। पीठ के पुनरुद्धार एवं मठ की पुनर्व्यवस्था के लिए काशी के सुप्रसिद्ध विद्वान्, तपस्वी, वीतराग, श्रोत्रिय, ब्रह्मनिष्ठ श्री स्वामी ब्रह्मानन्द जी सरस्वती जी महाराज 'भारत धर्म महामण्डल' द्वारा ज्योतिर्मठ के शङ्कराचार्य पद पर अभिषिक्त किये गये। उनका अभिषेक वाराणसी में सम्वत् १६६८ विक्रमी चैत्र शुक्ल चतुर्थी को विधिवत् सम्पन्न हुआ। इस प्रकार १६५

वर्षों के पश्चात् गद्दी के भाग्य जगे। श्री ब्रह्मानन्द जी सरस्वती महाराज ने बड़ी पटुता, दूरदर्शिता एवं तत्परता से पीठ का संचालन किया। उन्होंने १२ वर्ष के अन्तर्गत पीठ की काया पलट दी। उन्होंने ज्योतिर्मठ में आश्रम का निर्माण कराया और उससे संलग्न वाराणसी, प्रयाग, एवं जबलपुर आदि स्थानों में आश्रमों का निर्माण कराया। साथ ही बहुत सी सम्पत्ति मठ के निमित्त संग्रह की, ताकि भविष्य में भी उसका कार्य निर्विघ्नता पूर्वक सम्पादित होता रहे और भविष्य में किसी प्रकार की आर्थिक विपन्नता का सामना करना न पड़े। उन्होंने सम्वत् २०१० विक्रमी वैशाख शुक्ल सप्तमी, तदनुसार २० मई सन् १९५३ ई० को अपनी ऐहिक देहलीला समाप्त कर ब्रह्मनिर्माण-पद प्राप्त किया।

सुना जाता है स्वामी ब्रह्मानन्द जी सरस्वती ने अपने जीवन काल ही में अपने पट्ट एवं सुयोग्य शिष्य श्री स्वामी शान्तानन्द जी सरस्वती को अपना उत्तराधिकारी मनोनीत कर दिया था। स्वामी शान्तानन्द जी सरस्वती सम्वत् २०१० विक्रमी जेष्ठ शुक्ल प्रतिपदा, तदनुसार १२ जून सन् १९५३ को ज्योतिर्मठ के शङ्कराचार्य पद पर वाराणसी में अभिषिक्त हुए। तब से आप ही ज्योतिर्मठ का क्षमता एवं दक्षता पूर्वक संचालन कर रहे हैं।

ज्योतिर्मठ बदरीनाथ के मन्दिर से २० मील दक्खिन अवस्थित है। इसकी ऊँचाई समुद्रतट से ६१०७ फीट है। यह धौली और विष्णुगंगा के संगम से १५०० फीट की ऊँचाई पर संगम से डेढ़ मील की दूरी पर अलकनन्दा के बांएँ कूल पर है। विष्णुप्रयाग से यहाँ सीढ़ियों के मार्ग से जाया जाता है। रावल और दूसरे कर्मचारी नवम्बर से मई तक यहाँ रहते हैं। नृसिंह जी का मन्दिर यहाँ तब से प्रतिष्ठित है। इसके अतिरिक्त यहाँ कितने ही प्राचीन मन्दिर भी हैं। नृसिंह जी की मूर्त्ति का एक हाथ बहुत कृश है। इसके विषय में प्राचीन किम्बदन्ती है कि जब नृसिंह जी का हाथ टूटकर गिर जायगा तब नर-नारायण पर्वत आपस में मिल जायँगे और तब बदरीनाथ का मार्ग अगम्य हो जायगा।[1] कुमारसंहिता में भी लिखा है कि जब तक विष्णुज्योति ज्योतिर्मठ में विद्यमान है तब तक बदरीनाथ का मार्ग बन्द नहीं होगा। परन्तु जब विष्णुज्योति यहाँ से अन्तर्हित हो जायगी तब मनुष्यों के लिए बदरीनाथ का मार्ग अगम्य हो जायगा। इस नृसिंह की मूर्त्ति को प्रतिदिन डेढ़ द्रोण (१ मन, आठ सेर) चावलों का भोग लगता है।

---

[1] उपर्युक्त विशेष विवरण के लिए लेखक पण्डित हरिकृष्ण रतूड़ी का विशेष ऋणी है। द्रष्टव्य, उनका 'गढ़वाल का इतिहास', गढ़वाली प्रेस, देहरादून से मुद्रित, सम्वत् १९८५। पृष्ठ ५४—६०

यावद् विष्णोः कला तिष्ठेज्जोतिः संज्ञे निजालये।
गम्यं स्याद् बदरीक्षेत्रमगम्यं च ततः परम्॥

नृसिंह की मूर्त्ति के विषय में एक विचित्र दन्तकथा सुनी जाती है—

इस प्रदेश के एक प्राचीन राजा का नाम वासुदेव था। उनके वंश में उत्पन्न होने वाले एक राजा यहाँ का शासन करता था। एक दिन की यह विचित्र घटना है कि जब वे शिकार खेलने के लिए जङ्गल में चले गये तब नृसिंह भगवान् मनुष्य का रूप धारण कर भोजन माँगने के लिए उनके महल में पधारे। रानी ने पर्याप्त भोजन दे कर उनका स्वागत किया। सन्तुष्ट होकर वे राजा की सेज पर लेट गये। शिकार से लौट आने पर राजा ने अपरिचित को अपनी सेज पर लेटा हुआ पाया। क्रुद्ध होकर उसने अपनी तलवार से हाथ पर वार किया परन्तु उस घाव से लोहू निकलने की जगह दूध बहने लगा। राजा चकित और चिन्तित हुआ। इस पर नृसिंह ने अपने स्वरूप को प्रकट कर कहा, "मैं तुमसे प्रसन्न हूँ। इसीलिए मैं दरबार में आया था। तुम्हारे अपराध का दण्ड यही है कि तुम इस ज्योतिर्धाम को छोड़ दो और 'कटिग्रर' में जाकर अपना स्थान बनाओ। तुम्हारे मन्दिर की हमारी मूर्ति पर भी इस चोट का चिह्न बना रहेगा और जब वह मूर्त्ति नष्ट हो जायगी और वह हाथ भी न रहेगा तो तुम्हारा कुटुम्ब भी उच्छिन्न हो जायगा, तथा बदरीनाथ के जाने का रास्ता भी बन्द हो जायगा। कालान्तर में धौली घाटी में तपोवन नामक स्थान में भविष्य बदरी की उपासना होगी।"[1] सुनते हैं कि नरसिंह का वह हाथ धीरे-धीरे कृश होता जाता है। इसके अतिरिक्त विष्णु, सूर्य तथा गणेश के मन्दिर भी यहाँ पर हैं। भूकम्प से इन मन्दिरों को बहुत क्षति पहुँची है। आचार्य शङ्कर से सम्बद्ध कुछ चीजें यहाँ मिलती हैं। एक शिव मन्दिर है जो शङ्कराचार्य के द्वारा स्थापित बताया जाता है। आचार्य की गुफा भी है जहाँ वह समाधि किया करते थे। इसके अतिरिक्त एक बड़ा पुराना कीमू (शहतूत) का पेड़ है। सुनते हैं कि इसके नीचे बैठकर आचार्य पूजा-अर्चा किया करते थे।

सुमेर मठ—काशी में भी आचार्य ने अपना मठ स्थापित किया था जिसका नाम सुमेरमठ है। मठाम्नाय में इसका भी नाम आता है। आजकल गणेश मुहल्ला में इस मठ की स्थिति वर्तमान है। यहाँ से एक पुस्तक भी प्रकाशित की गई है जिसमें मुसलमानों के समय में इस मठ की प्रसिद्धि की पर्याप्त सूचना है। इस मठ की स्थिति कुछ डाँवाडोल-सी रही है। किसी विशिष्ट व्यक्ति के अध्यक्ष होने पर यह जाग उठता है, अन्यथा इसकी स्थिति साधारण-सी ही बनी रहती है। काशी के कोई प्राचीन नरेश इस मठ के शिष्य थे, उसी सम्बन्ध से मठ के प्रबन्ध का खर्चा रामनगर के महाराज देते आते हैं। आजकल भी यही प्रबन्ध है, यद्यपि द्रव्य में कुछ कमी हो गई है। बहुत से विद्वान् इसे सन्देह की दृष्टि से

[1] द्रष्टव्य - गढ़वाल का गजेटियर (अंग्रेज़ी) वाल्टन साहब के द्वारा संकलित। १९१० पृष्ठ १६८—७०।

देखते हैं। उनका कहना है कि यह अधिकार-सम्पन्न मठ कभी नहीं था। अधिकार सम्पन्न से अभिप्राय उस मठ से है जहाँ के अध्यक्ष के शासन में उस प्रान्त का धार्मिक अधिकार हो। इस विषय में चार प्रसिद्ध मठों को ही आचार्यकृत मानना उचित है। काशी में तो पण्डितों का ही शासन चलता रहा है। ऐसी दशा में संघर्ष उत्पन्न करने के लिए आचार्य अपना मठ स्थापित करेंगे, ऐसी कल्पना ठीक नहीं जमती। जो कुछ हो, मठ की स्थिति आज भी विद्यमान है। पूने में भण्डारकर रिसर्च इन्स्टिट्यूट (Bhandarkar Research Institute) में विद्यमान राजकीय हस्तलिखित ग्रन्थों की पुस्तकालय में विद्यमान 'मठाम्नाय' नामक पुस्तक में सुमेरु मठ के बारे में उल्लेख करते समय 'काशी सम्प्रदाय' ऐसा आरम्भ करके बताया है कि 'शुकवामदेवादि जीवन्मुक्तानां सूक्ष्म-वेदपठनम्'।

मद्रास अडेयार पुस्तकालय से प्रकाशित (Unpublished Upanisads) नामक पुस्तक में तथा 'मठाम्नायोपनिषद्' में भी यही बात दीख पड़ता है—सुमेरु मठ काशी सम्प्रदाय, ऐसा आरम्भ करके बतलाया है कि 'शुकवामदेवादि जीवन्मुक्तानां सुसंवेद-प्रपठनम्।"

आजकल श्री काशी में हनूमान घाट में शुकदेव मठ के नाम से एक मठ है। इस समय यह मठ श्री काञ्चि कामकोटिपीठाधीश के अधीन है। श्री काशी में सुमेरु मठ के नाम से एक आचार्य पीठ की स्थिति और वही मठ काशी-नरेश राजगुरु पीठ के रूप में है, यह सब विषय ऊपर लिखे हैं।

इसके अतिरिक्त हनुमान घाट में ब्रह्मेन्द्र मठ के नाम से भी और एक मठ है। यह मठ काशी-नरेश के अधीन में राजगुरु मठ के रूप में है। उसी मठ में संवत् १६४१ में वि० एक शिलाशासन मिलता है।

शिलाशासन

श्रीमच्छंकरशिष्य संततिगतः श्रीविश्वनाथो यतिः।
काश्यामिन्द्रमठं चकार शिलया शैवालये घट्टके॥
विक्रेयो न हि कश्चिदेष इतरो यः स्यान्मदीये मठे।
मच्छिष्यैर्गुरुमार्गपालनपरैः संरक्षणीया मठाः॥
जगद्गुरोः शङ्करस्य पारंपर्यक्रमागतः।
शिष्यः सन्मार्गनिष्णातो चन्द्रशेखर नामकः॥
तस्य शिष्यो विश्वनाथयतीन्द्रो योगिनां वरः।
काश्यां शिवालये घट्टे काशी राजगुरोर्मठे॥

स्वकीये निवसन् स्वीयमन्यंमठमुदारधीः ।
बबन्ध गावमिर्मूला द्दिव्यमिन्द्रमठाभिधम् ।।
शके षट्गवानाष्टके आषाढ़बहुले शुभे ।
शुभायां भानुसप्तम्यां शुभे भागीरथी तटे ।।
तस्याज्ञापालनं कार्यं शिष्यैः सन्मार्गवर्तिभिः ।
गुर्वाज्ञापालनं यस्माच्छिष्यधर्मः सनातनः ।।
अयं मठो न विक्रेयो न च राजगुरोर्मठः ।
गङ्गातीरमठो नैव ब्रह्मेन्द्रस्य मठो न च ।।
एतेषां मदीयानां मठानां रक्षणं परं ।
कार्यं सम्यक्प्रयत्नेन शिष्यैर्भक्ति-समन्वितैः ।'
यद्यन्यथा पुनः कुर्यात्कश्चिच्छिष्यो विमूढधीः ।
महाजनैश्च राज्ञा च शिक्षणीयो विशेषतः ।।
धर्मसंस्थापनं यस्माद्राज्ञा कार्यं प्रयत्नतः ।।

शालि वाह	सन्	विक्रमी
शक १८०६	१८८४	संवत् १९४१

इस शिलाशासन से मालूम होता है कि श्री काशी के इस राजगुरु मठ का और श्री काञ्ची के कामकोटिपीठ का गुरु-शिष्य सम्बन्ध था। वैसे ही ऊर्ध्वाम्नाय में शुकदेव का नाम, श्री काञ्ची कामकोटि पीठाधीश के अधीन में उसी शुकदेव के नाम पर श्री काशी में एक मठ रहना - इन सब बातों को सोचने से काशी स्थित ऊर्ध्वाम्नाय सुमेरु मठ और काञ्ची स्थित श्री कामकोटि पीठ के बीच में एक सम्बन्ध प्रतीत होता है।

श्रीविद्या महाषोडशिध्यान श्लोकों में एक श्लोक ऐसा है :—

श्री विद्यां परिपूर्णं मेरुशिखरे बिन्दुत्रिकोणोज्वले,
वागीशादि समस्तपूज्य चरणे मञ्चे शिवाकारके ।
कामाक्षी करुणामृतार्णवमयीं कामेश्वराङ्कस्थितां,
काञ्च्यां चिन्मयकामकोटिनिलयां श्रीब्रह्मविद्यां भजे ।।

इस श्लोक से भी सुमेरु और कामकोटि के बीच में सम्बन्ध रहना प्रतीत होता है।

कामकोटि पीठ

ऊपर वर्णित पाँचों पीठों के अतिरिक्त काञ्ची का कामकोटि पीठ भी आचार्य के द्वारा स्थापित पीठों में अन्यतम माना जाता है। यहाँ के अध्यक्ष शङ्कराचार्य की यह दृढ़ धारणा है कि आचार्य का सर्वप्रधान पीठ यही कामकोटि पीठ है। उनका कहना है कि शंकर ने चारों मठों पर अपने शिष्यों को नियुक्त किया और

जीवन के अन्तिम समय में उन्होंने काञ्ची से इसी पीठ को अपने लिये पसन्द किया। यहीं योगलिङ्ग तथा भगवती कामाक्षी की पूजा-अर्चा में आचार्य ने अपना अन्तिम समय बिताकर यहीं अपने भौतिक शरीर को छोड़ा। काञ्ची स्थित आम्नाय का नाम है—मौलाम्नाय, पीठ—कामकोटि, मठ—शारदा, आचार्य—शंकर भगवत्पाद, क्षेत्र—सत्यव्रत काञ्ची, तीर्थ—कम्पासर, देव—एकायुनाथ, शक्ति—कामकोटि, वेद—ऋक्, सम्प्रदाय—मिथ्यावाद, संन्यासी—इन्द्र, सरस्वती, ब्रह्मचर्य—सत्यब्रह्मचारी तथा महावाक्य—ओम् तत्सत्।

मठ के द्वारा प्रकाशित शिलालेखों से पता लगता है कि इस मठ का आदिम स्थान विष्णुकाञ्ची में हस्तिशैलनाथ (वरदराज स्वामी) के मन्दिर के पश्चिम तरफ था।[1] इस स्थान पर आज भी एक उजड़ा हुआ मठ विराजमान है। कुछ काल के अनन्तर शिवकाञ्ची में मठ की स्थापना की गयी।

कामकोटि का इतिहास

सन् १६८६ ई० तक यह कामकोटि पीठ काञ्ची में ही वर्तमान था। परन्तु मुसलमानों के आक्रमण के कारण यहाँ के स्वामी लोगों के नित्यप्रति के धर्मानुष्ठान में महान् विघ्न उपस्थित हुआ। तब तन्जोर के राजा ने, जिनका नाम प्रतापसिंह बतलाया जाता है, यहाँ के शङ्कराचार्य को कुछ दिनों के लिये अपना पीठ तन्जोर में लाने के लिये आग्रह किया। तत्कालीन शङ्कराचार्य ने उस निमन्त्रण को स्वीकार किया और कामाक्षी की सुवर्ण मूर्ति के साथ तन्जोर को अपनी पीठ का केन्द्र बनाया, जहाँ महाराजा ने भगवती कामाक्षी के लिये मन्दिर बनवाया और शंकराचार्य के लिये निवास-स्थान निर्मित कर दिया। कावेरी के किनारे अवस्थित कुम्भकोणम् को अपनी एकान्त साधना के लिये अधिक उपयुक्त समझ कर शङ्कराचार्य ने इसी को पसन्द किया। तदनुसार यह तन्जोर से हटा कर कुम्भकोणम् में स्थापित किया गया, जहाँ पर वह आज भी अवस्थित है। इसी कारण से यह कामकोटि मठ के नाम से प्रसिद्ध है। मठ में एक शिलालेख है जिससे जान पड़ता है कि तन्जोर के राजा छत्रपति सर्फोजी महाराज ने १७४३ शक-संवत् में चन्द्रमौलीश्वर (मठ के उपास्यदेव) के मन्दिर का निर्माण किया।[2] इस मठ के साथ बहुत-सी सम्पत्ति है जिसका उपयोग अद्वैतवेदान्त के शिक्षण तथा प्रचार एवं दीन दुःखियों के

---

[1] श्री हस्तिशैलनाथस्य निलयात् पश्चिमे मठे।
Copperplate Inscriptions of the Kamkoti Peetha, p. 11

[2] श्रीचन्द्रमौलेश्वर स्वामि-निवासार्थं राजश्री छत्रपति शेरफोजी महाराज-कृत आलय प्रतिष्ठा शालिवाहन शक १७४३, वृष नाम संवत्सर, माघ शुक्ल पंचमी, भानुवार। वही, पृ० ३

भोजन-छाजन में किया जाता है। इस पीठ के वर्तमान शङ्कराचार्य का नाम श्री चन्द्रशेखरेन्द्र सरस्वती है जिन्होंने इस मठ की बड़ी उन्नति की है। इन्होंने एक संस्कृत पाठशाला की स्थापना की है तथा 'आर्यधर्म' नामक एक तामिल भाषा में पत्रिका भी निकालते हैं। इस प्रकार यह मठ दक्षिण भारत में अद्वैत-वेदान्त के प्रचार का केन्द्र है।

श्री कामकोटिपीठाधीश के श्री काशी में स्थिति के समय वहाँ के (१) श्री प० तर्करत्नोपाधिक पञ्चानन भट्टाचार्य महामहोपाध्याय, (२) श्री पं० राजेश्वर शास्त्री द्राविड़, (३) श्री पं० देवनायकाचार्य, (४) श्री पं० लक्ष्मण शास्त्री महामहोपाध्यायः तैलंगः (५) श्री मुकुन्द झा बख्शी महामहोपाध्याय, (६) श्री पं० चिन्न स्वामी शास्त्री महामहोपाध्याय; (७) श्री पं० वामाचरण भट्टाचार्य आदि ८४ पण्डितों ने अपनी जो व्यवस्था समर्पित की, जो अभिनन्दनपत्र में लिखा है। अभिनन्दन पत्र में उपलभ्यमान व्यवस्था यही है—भगवत्पादाज्ञानुसारेण वेदचतुष्टयेष्विव समानतयासमादरणीयेष्वपिसर्वेष्वपि आचार्यमठेषु पूज्यत्वांशे कस्या अपि व्यतिरेककल्पनायाः स्मतुं मप्ययोग्यत्वेऽपि काञ्चीमठस्य भगवत्पादनिवासभूत-तयातदारम्भकाले तत्रत्यकार्यस्य स्वयमेव निर्वाह्यतया तदुपदेशकस्य मठाम्नायस्य अनिर्माणं, इतरमठेषु तु शिष्याणामेव कार्यसम्पादनाधिकृतत्वेन तदर्थं भगवत्-पादाज्ञारूपमठाम्नाय निर्माणं, तत्तदर्थनिर्मितेषु मठाम्नायेषु कामकोटि मठस्यस्मरणं च भगवत्पादानां योग्यमेव। मठाश्चत्वार एव आचार्याश्चत्वार एवेत्यर्थक मठाम्नायवाक्येऽपि आचार्यपदेन शङ्कराचार्यत्वं भगवत्पादैः स्वावस्थिति समय एवं यच्चतुर्भ्यः आचार्येभ्यः प्रदत्तं, तद्धि सूर्येण हिमांशुमण्डले प्रदीयमानं स्वकीयं तेज इव प्रतिबिम्बभूतं सत् न बिम्बरूपस्य भगवत्पादाचार्यत्वस्य विघातपुरःसरं दत्तं इति हि सन्निपात परिभाषाविदामपि यथा प्रत्यक्षम्, तथैव तद्वाक्ये चतुर्पु आचार्य मठत्वमप्यतिदिश्यमानं न प्रकृतमठस्य कामकोटिसंज्ञकस्य भगवत्पादनिवास-भूतस्य उपमर्दनायक्षममिति न्यायत एव प्राप्नोति। ततश्च एक शाखागतायां पञ्चाग्नि विद्यायामग्निषट्कश्रवणेन, अपरशाखागत पञ्चाग्निविद्यायामग्नि पञ्चक-श्रवणेन च विद्याभेदमाशङ्क्य साम्पदिकाग्न्यभिप्रायं पञ्चत्वमिति समाहितवतां भगवत्पादा-चार्याणां सरण्यामिव अत्रापि साम्पदिक मठाभिप्रायं चतुष्ट्वम्, न प्रकृतिभूतस्य-गुरुमठस्य मठत्वापहरणाय प्रभवतीति निवेदयामः"।

इस मठ की यह प्रधान मान्यता है कि काञ्ची पीठ का आदि शङ्कराचार्य के जीवन में पूरे साथ बड़ा ही घनिष्ट सम्बन्ध था। आचार्य ने अपने आरम्भिक भारतवर्ष का भ्रमण कर चार मठों की स्थापना की। अपने प्रचारकार्य को सर्वांशतः पूर्ण तथा सफल समझकर अपना शेष जीवन काञ्ची में बिताना आरम्भ किया।

कामकोटि और शङ्कराचार्य

इन्होंने काञ्ची में स्थित कामाक्षी की उग्रकला को अपनी शक्ति से आकृष्ट कर उसे मृदु तथा मधुर बना दिया। इस घटना का उल्लेख सदाशिव ब्रह्मेन्द्र सरस्वती ने अपनी 'गुरुरत्न मालिका' में स्पष्टतः किया है।[१] आचार्य ने यहीं पर कामकोटि पीठ की स्थापना की और कामाक्षी के मन्दिर में श्रीचक्र की प्रतिष्ठा की। सुनते हैं कि काञ्ची में ही आचार्य ने सर्वज्ञपीठ की प्रतिष्ठा की थी। इसके पहिले उन्होंने काश्मीर पीठ पर विपक्षियों को परास्त कर अधिरोहण किया था। अब इधर के प्रतिवादियों को हराकर यहाँ भी सर्वज्ञपीठ पर अधिरोहण किया। काञ्ची नगरी के निर्माण में भी शङ्कराचार्य का विशेष हाथ बतलाया जाता है। काञ्ची के तत्कालीन राजा का नाम था राजसेन, जिन्होंने आचार्य के द्वारा स्वीकृत रचनापद्धति के आधार पर पूरे नगर का निर्माण किया, नये-नये नगर बनवाये। शङ्कराचार्य ने कामाक्षी के मन्दिर को मध्य (बिन्दुस्थान) में स्थित मानकर श्री चक्र की रचना के आदर्श पर इस नगरी की रचना करवायी। अत्र आचार्य ने कामकोटि पीठ को अपनी लीलाओं का मुख्य स्थान बनाया तथा कैलाश से लाये गये पाँच लिङ्गों में सबसे श्रेष्ठ योगलिङ्ग नामक लिङ्ग की भी स्थापना यहीं पर की। इस घटना का वर्णन मार्कण्डेय पुराण[२], आनन्द गिरि कृत 'शंकर विजय'[३], तथा व्यासाचल कृत शङ्करविजय'[४] में स्पष्टरूप से किया गया है। नैषधचरित के कर्ता महाकवि

[१] प्रकृतिञ्च गुहाश्रयां महोग्रां, स्वकृते चक्रवरे प्रवेश्य योग्ये।
अकृता श्रितसौम्यमूर्तिमार्यां सुकृतं नस्सचिनोतु शङ्करार्यः॥

[२] शिवलिङ्गं प्रतिष्ठाप्य चिदम्बरसभातले।
मोक्षदं सर्वजन्तूनां, भुवनत्रयसुन्दरम्॥
वैदिकान् दीक्षितान् शुद्धान्, शिवसिद्धान्तपारगान्।
पूजार्थं युयुजे शिष्यान्, पुण्यारण्यविहारिणः॥
काञ्च्यां श्रीकामकोटौ तु, योगलिङ्गमनुत्तमम्।
प्रतिष्ठाप्य सुरेशार्यं, पूजार्थं युयुजे गुरुः॥

[३] तत्रैव निजावासयोग्यं मठमपि च परिकल्प्य तत्र निजसिद्धान्तपद्धतिं प्रकटयितुं अन्तेवासिनं सुरेश्वरमाहूय योगनामकं लिङ्गं पूजयेति दत्वा त्वमत्र कामकोटिपीठमधिवस इति संस्थाप्य।

[४] एवं निरुत्तरवदास विधाय देवीं। सर्वज्ञपीठमधिरुह्य मठे स्वक्लृप्ते॥
मात्रा गिरामपि तथोपगतैश्च मिश्रैः। सम्भावितः कमपि कालमुवास काञ्च्याम्॥
प्रागष्टमाद्विदितवेद्यमुमूढबाल्यं । सर्वज्ञसंज्ञमथ हंसितमात्मनैव॥
श्रीकामकोटिविरुदेन्यदधात्स्वपीठे। गुप्तं स्वशिष्यतिलके न सुरेश्वरेण॥
इत्थं शङ्करगुरुः कृतकृत्यभावात्। भावान्प्रकाश्य निगमान्तगिरां निगूढाम्॥
काञ्च्यां विमुच्यवपुराहृतमिच्छयैव। स्वस्यैव धाम्नि परमे स्वतमेव लिल्ये॥

श्रीहर्ष ने भी काञ्ची में स्थित इस योगेश्वर लिङ्ग का उल्लेख किया है।[1] कहा जाता है कि पीठ की स्थापना के अनन्तर आचार्य शङ्कर ने अपने मुख्य शिष्य सुरेश्वर को यहाँ का अध्यक्ष बनाया परन्तु योगलिङ्ग की पूजा का अधिकार उन्हें नहीं दिया। क्योंकि सुरेश्वर पूर्वाश्रम में गृहस्थ थे और आचार्य की यह अभिलाषा थी कि इस शिवलिङ्ग और देवी की पूजा वही व्यक्ति करे जो उन्हीं के समान ब्रह्मचर्य से सीधे संन्यास लेने वाला हो। इसके लिए उन्होंने सर्वज्ञात्म श्रीचरण को यह पूजा का अधिकार दिया क्योंकि वे ब्रह्मचारी से सीधे संन्यासी हुये थे। इस प्रथा का अनुसरण आज भी होता है। आज भी कामकोटि के अधिपति गृहस्थ संन्यासी न होकर ब्रह्मचारी संन्यासी हुआ करते हैं।

इस पीठ के आचार्यों का यह भी कहना है कि भगवान् शङ्कराचार्य ने इसी काञ्चीपुरी में अपनी ऐहिक लीला संवरण की थी। अपने जीवन के अन्तिम दिनों को बिताते हुये उन्होंने यहीं पर मुक्ति प्राप्त की। परन्तु प्रबल प्रमाणों के अभाव में इस कथन को सत्य मान लेना उचित नहीं प्रतीत होता। शृङ्गेरी मठ की परम्परा के अनुसार शङ्कराचार्य का तिरोभाव कैलाश-धाम में हुआ था। अतः ऐसी स्थिति में कौन-सा मत ठीक है, यह कहना अत्यन्त कठिन है। इसमें सन्देह नहीं कि काञ्ची शङ्कराचार्य के समय में अत्यन्त पवित्र तीर्थस्थान था। यह भी निश्चित है कि दिग्विजय करते समय उन्होंने स्वयं आकर इस नगरी को सुशोभित किया था परन्तु उन्होंने अपने जीवन की अन्तिम वेला को इसी नगरी में बिताया था तथा अपनी जीवन-लीला को यहीं समाप्त किया था, इस मत के प्रतिपादन में कोई अकाट्य प्रमाण उपलब्ध नहीं है। यद्यपि काञ्ची पीठ वाले अपने मत के समर्थन में अनेक प्रमाण देते हैं। परन्तु इन प्रमाणों के विषय में इतना ही कहना पड़ता है कि वे सब एकाङ्गी हैं तथा उनका समर्थन किसी अन्य प्रमाण से नहीं होता।

कामकोटि पीठ के आचार्य

क्रम संख्या	आचार्य-नाम	गद्दी पर बैठने का समय	मृत्यु की तिथि	ईस्वी
				जन्म { ५०८ ईसा पूर्व ,, { ४७६ ,, ,,
१.	श्रीशङ्कर	३२	वैशाख शुक्ल ११	
२.	सुरेश्वराचार्य	७०	ज्येष्ठ शुक्ल १२	४०६ ,,

[1] सिन्धोजैत्रमयं पवित्रमसृजत् तत्कीर्तिपूर्ताद्भुतं,
यत्र स्नान्ति जगन्ति सन्ति कवयः के वा न वाचं यमाः।
यद् विन्दुश्रियमिन्दुरञ्चति जलं चाविश्य दृश्येतरो,
यस्यासौ जलदेवता स्फटिकभूर्जागर्ति योगेश्वरः॥—नैषधचरित १२।३८

३. सर्वज्ञात्मन्	४२	वैशाख कृष्ण	१४	३६४	,,
४. सत्यबोध	६६	मार्गशीर्ष कृष्ण	८	२६८	,,
५. ज्ञानानन्द	६३	मार्गशीर्ष कृष्ण	७	२०५	,,
६. शुद्धानन्द	८१	ज्येष्ठ शुक्ल	६	१२४	,,
७. आनन्द ज्ञान	६९	वैशाख कृष्ण	६	५५	,,
८. कैवल्यानन्द	८३	मकर कृष्ण	१	२८ईसा पश्चात्	
९. कृपाशङ्कर द्वितीय)	४१	कार्तिक कृष्ण	३	६९	,,
१०. सुरेश्वर	५८	आषाढ़ कृष्ण	०	१२७	,,
११. चिद्घन	४५	ज्येष्ठ कृष्ण	१०	१६२	,,
१२. चन्द्रशेखर १	६३	आषाढ़ शुक्ल	९	२३५	,,
१३. सच्चित्घन	३०	मार्गशीर्ष शुक्ल	१	२७२	,,
१४. विद्याघन १	४५	मार्गशीर्ष	०	३१७	,,
१५. गङ्गाधर १	१२	चैत्र शुक्ल	१	३२९	,,
१६. उज्जवलशङ्कर ३	३८	वृषभ शुक्ल	८	३६७	,,
१७. सदाशिव	८	ज्येष्ठ शुक्ल	१०	३७५	,,
१८. सुरेन्द्र	१०	मार्गशीर्ष शुक्ल	१	३८५	,,
१९. विद्याघन	१३	भाद्रपद कृष्ण	६	३९८	,,
२०. मूक शङ्कर ४	३९	श्रावण	०	४३७	,,
२१. चन्द्रचूण १	१०	श्रावण कृष्ण	८	४४७	,,
२२. परिपूर्ण बोध	३४	कार्तिक शुक्ल	६	४८१	,,
२३. सच्चित्सुख	३१	वैशाख शुक्ल	७	५१२	,,
२४. चित्सुख	१५	श्रावण कृष्ण	९	५२७	,,
२५. सच्चितानन्दघन	२१	आषाढ़ शुक्ल	१	५४८	,,
२६. प्रज्ञान घन	२६	वैशाख शुक्ल	८	५६४	,,
२७. चिद्विलास	१३	वर्ष प्रतिपद		५७७	,,
२८. महादेव (प्रथम)	२४	कार्तिककृष्ण	१०	६०१	,,
२९. पूर्णबोध	१७	श्रावण शुक्ल	१०	६१८	,,
३०. बोध (प्रथम)	३७	वैशाख कृष्ण	४	६५५	,,
३१. ब्रह्मानन्द घन (प्र०)	१३	ज्येष्ठ शुक्ल	१२	६६८	,,
३२. चिदानन्द घन	४	मार्गशीर्ष शुक्ल	६	६७२	,,
३३. सच्चितानन्द (द्वि०)	२०	भाद्रपद कृष्ण	६	६९२	,,
३४. चन्द्रशेखर (द्वि०)	१८	मार्गशीर्ष	०	६१०	,,
३५. चित्सुख (द्वि०)	२७	आषाढ़ शुक्ल	६	७३७	,,

३६. चित्सुखानन्द		२१	आश्विन	०	७५८	,,
३७. विद्याघन (तृ०)		३०	पौष शुक्ल	२	७८८	,,
३८. अभिनव शङ्कर (द्वि०)		५२	आषाढ़	०	८४०	,,
३९. सच्चिद्विलास		३३	वैशाख	०	८७३	,,
४०. महादेव (द्वि०)		४२	वैशाख शुक्ल	६	९१५	,,
४१. गङ्गाधर (द्वि०)		३५	श्रावण शुक्ल	१	९५०	,,
४२. ब्रह्मानन्द घन (ii)		२८	कार्तिक शुक्ल	८	९७८	
४३. आनन्दघन		३६	चैत्र शुक्ल	९	१०१४	
४४. पूर्णबोध (ii)		२६	भाद्रपद कृष्ण	१३	१०४०	
४५. परमशिव (i)		२१	आश्विन शुक्ल	७	१०६१	
४६. बोध (ii)		३७	आषाढ़	०	१०९८	
४७. चन्द्रशेखर (iii)		६८	चैत्र	०	११६६	
४८. अद्वैतानन्द बोध		३४	ज्येष्ठ शुक्ल	१०	१२००	
४९. महादेव (iii)		४७	कार्तिक कृष्ण	८	१२४७	
५०. चन्द्रचूड़ (ii)		५०	ज्येष्ठ शुक्ल	६	१२९७	
५१. विद्यातीर्थ		८८	माघ कृष्ण	१	१३८५	
५२. शङ्करानन्द		३२	वैशाख शुक्ल	१	१४१७	
५३. पूर्णानन्द सदाशिव		८१	ज्येष्ठ शुक्ल	१०	१४९८	
५४. महादेव (iv)		९	आषाढ़ कृष्ण	१	१५०७	
५५. चन्द्रचूड़ (iii)		१७	मीन शुक्ल	११	१५२४	
५६. सर्वज्ञ सदाशिव बोध		१५	चैत्र शुक्ल	८	१५३९	
५७. परमशिव (ii)		४७	श्रावण शुक्ल	१०	१५८६	
५८. आत्मबोध		५२	तुला कृष्ण	८	१६३८	
५९. बोध (iii)		५४	भाद्रपद	०	१६९२	
६०. अद्वैतात्मप्रकाश		१२	चैत्र कृष्ण	२	१७०४	
६१. महादेव (v)		४२	ज्येष्ठ शुक्ल	९	१७४६	
६२. चन्द्रशेखर	४	३७	पुष्य कृष्ण	२	१७८३	
६३. महादेव	६	३१	आषाढ़ शुक्ल	१२	१८१४	
६४. चन्द्रशेखर	५	३७	कार्तिक कृष्ण	२	१८५१	
६५. महादेव	७	४०	फाल्गुन	०	१८६१	
६६. चन्द्रशेखर	६	१७	माघ कृष्ण	८	१९०८	
६७. महादेव	८	(७) सप्तदिवस	फाल्गुन शुक्ल	१	१९०८	
६८. चन्द्रशेखरेन्द्र सरस्वती			वर्तमान आचार्य			

काञ्चीपीठ के शङ्कराचार्यों का संक्षिप्त इतिहास

१. सर्वज्ञात्मा—जिस समय श्री शङ्कराचार्य काञ्ची में सर्वज्ञ की दृष्टि से पीठस्थ होने जा रहे थे, उस समय ताम्रपर्णी के आसपास रहने वाले कतिपय विद्वानों ने उनका विरोध किया। परन्तु जगद्गुरु ने उनको परास्त कर दिया। उक्त विद्वन्मण्डली में वर्द्धन नामक एक पण्डित भी थे जिनके सात वर्ष की आयु वाले पुत्र ने तीन दिन तक शास्त्रार्थ किया। पश्चात् चौथे दिन उक्त बालक ने हार मान ली और उसके फलस्वरूप संन्यास ग्रहण कर लिया। श्री शङ्कराचार्य ने इसी बालक को शारदामठ का अधीश्वर बनाया और श्री सुरेश्वराचार्य को संरक्षक नियुक्त किया। उक्त बाल-संन्यासी ही सर्वज्ञात्मा नाम से विख्यात हुए और ११२ वर्ष तक काञ्ची पीठ के अधीश्वर रहे। इनकी जन्मभूमि पाण्ड्य-प्रदेश में थी। ये द्राविड़ ब्राह्मण थे और इनका पहला नाम महादेव था। 'संक्षेप शारीरक' एवं 'सर्वज्ञविलास' इनकी दो कृतियाँ हैं। कुछ काल तक द्वारका में रह कर इन्होंने पद्मपाद के उत्तराधिकारी श्री ब्रह्मस्वरूप को पढ़ाया। नलीय २७३७ कलि के बैशाख कृष्ण चतुर्दशी को इन्होंने काञ्ची में शरीर-त्याग किया।

२. सत्यबोध—ये चेर प्रदेशवासी ताण्डव शर्मा नामक द्राविड़ ब्राह्मण के पुत्र थे और इनका पूर्व का नाम फलिनीश था। अपने पूर्ववर्ती पीठाधीश्वर की भाँति इन्होंने भी सांख्यवादियों, बौद्धों तथा जैनों से होड़ें ली थीं। कहा जाता है कि इन्होंने भाष्य-त्रय पर वार्तिक एवं पदकशत नामक अन्य पुस्तक लिखी। ये ९६ वर्ष तक कामकोटि पीठ के अधीश्वर रहे और वैशाख कृष्ण अष्टमी को इन्होंने काञ्ची में शरीर-त्याग किया।

३. ज्ञानानन्द—ये चोल प्रदेशान्तर्गत मङ्गल नामक स्थान के रहने वाले द्राविड़ ब्राह्मण थे। इनका पहले का नाम ज्ञानोत्तम तथा इनके पिता का नाम नागेश था। ये पहले बहुत बड़े तार्किक थे और इन्होंने सुरेश्वराचार्य की नैष्कर्म्य-सिद्धि पर चन्द्रिका नाम की टीका लिखी है। ये ६३ वर्ष तक पीठाधिस्थित रहे और काञ्ची में ही मन्मथ में मार्गशीर्ष की शुक्ल सप्तमी को इन्होंने शरीर छोड़ा।

४. शुद्धानन्द—ये तामिल प्रदेशान्तर्गत वेदारण्य-वासी भारव-पण्डित नामी एक वैद्य के पुत्र थे। इनका पूर्व का नाम विश्वनाथ था। नास्तिकों का इन्होंने भी घोर विरोध किया तथा ८१ वर्ष तक पीठाधीश्वर रहने के पश्चात् नलीय सम्वत् में ज्येष्ठ की शुक्लाष्टमी को काञ्ची में ही इनका शरीरान्त हुआ।

५. आनन्दज्ञान—ये चेर-प्रदेशवासी सूर्यनारायण मखी के पुत्र थे। इनका पहला नाम चिन्नाय था। गौरी के प्रसाद से इन्हें विद्या प्राप्त हुई थी। श्री शङ्कराचार्य के भाष्यों तथा सुरेश्वराचार्य के वार्त्तिकों पर इन्होंने टीकाएँ

लिखी हैं। ये ६६ वर्ष तक पीठस्थ रहे और एक यात्रा से लौटते समय श्री शैल में क्रोधन सम्वत् में वैशाख कृष्ण नवमी को इनका देहावसान हुआ।

६. कैवल्यानन्द—इनका दूसरा नाम कैवल्ययोगी था। ये ८३ वर्ष तक पीठस्थ रहे और पुण्यरसा में सर्वधारी सम्वत् में मकर के प्रथम दिन इन्होंने शरीर-त्याग किया।

७. कृपाशङ्कर—ये गर्गगोत्रीय आन्ध्र ब्राह्मण श्री आत्मनासोमयाजी के पुत्र थे। इनका पहले का नाम गङ्गेशोपाध्याय था। ये षण्मठों के प्रवर्तक थे। इन्होंने तान्त्रिक उपासनाओं को वैदिक स्वरूप प्रदान किया तथा द्वैतवादियों को परास्त कर अद्वैतवाद की स्थापना की। श्री कैवल्ययोगी की आज्ञानुसार इन्होंने सुभट विश्वरूप को शृंगेरी पीठ का अधीश्वर बनाया। ४१ वर्ष तक कार्यभार सँभालने के पश्चात् विन्ध्याटवी के आसपास विभव सम्वत् में कार्तिक कृष्ण तृतीया को इन्होंने शरीर छोड़ा।

८. सुरेश्वर—इनका पहला नाम महेश्वर था। ये कोङ्कण प्रदेशान्तर्गत महाबालेश्वरवासी महाराष्ट्र ब्राह्मण ईश्वर पण्डित के पुत्र थे। ५८ वर्ष तक पीठ का कार्यभार सँभालने के उपरान्त आपने काञ्ची में अक्षय सम्वत् में आषाढ़ी पूर्णिमा को शरीर त्याग किया।

९. चिद्घन—(शिवानन्द) ये कर्नाटक ब्राह्मण उज्ज्वल भट्ट के पुत्र थे। इनका पहला नाम ईश्वरबटु था। ये शैवाद्वैत के पक्षपाती थे। ४५ वर्ष तक पीठस्थ रहने के पश्चात् विरोधिकृत सम्वत् में ज्येष्ठ शुक्ल दशमी को वृद्धाचल के आसपास इन्होंने शरीर त्याग किया।

१०. चन्द्रशेखर (प्रथम)—ये पालार प्रदेशीय वत्सभट्ट नामक वात्स्यायन गोत्रीय द्राविड़ ब्राह्मण के पुत्र थे; इनका पहला नाम हरि था। मठ का दायित्व अपने एक शिष्य को सौंपकर कुछ काल इन्होंने सार्वभौम की साधना में बिताया। ६३ वर्ष तक पीठस्थ रहने के पश्चात् आनन्द सम्वत् में आषाढ शुक्ल ८ को ये शेषाचल की एक कन्दरा में सशरीर लुप्त हो गए।

११. सच्चिद्घन—ये गरुण-नदी के आसपास रहने वाले द्राविड़ ब्राह्मण श्रीधर पण्डित के पुत्र थे। इनका पहला नाम शेवार्य था। ३७ वर्ष तक पीठस्थ रहने के पश्चात् इन्होंने मठ का दायित्व एक शिष्य को समर्पित कर ३३ वर्ष भ्रमणशील नग्न मौनी के रूप में बिताए और अन्त में खर सम्वत् में मार्गशीर्ष की शुक्ल प्रतिपदा को एक मन्दिर में अन्तर्हित हो गए। कहा जाता है कि उस मन्दिर में उनका शरीर लिङ्ग के रूप में परिवर्तित हो गया।

१२. विद्याघन (प्रथम)—ये आन्ध्र ब्राह्मण बापन्नसोमयाजी के पुत्र थे और इनका पहिला नाम नायन था। एक बार इन्होंने मलयपर्वत के निकटवर्ती कतिपय

ग्रामों पर कुपित उग्रभैरव को शान्त किया था। ये ४५ वर्ष तक पीठस्थ रहे और शक-सम्वत् २३९ में मार्गशीर्ष की शुक्ल प्रतिपदा को अगस्त्य पर्वत के समीप इन्होंने शरीर त्याग किया।

१३. गङ्गाधर (प्रथम)—ये आन्ध्र ब्राह्मण 'काञ्ची' भद्रगिरि के पुत्र थे और इनका पहिला नाम सुभद्र था। अपनी विद्वत्ता के कारण ये 'गीष्पति' भी कहलाते थे। कहा जाता है कि इन्हें मलयपर्वत के समीप कहीं अगस्त्य जी ब्राह्मण के रूप में मिले थे और उन्होंने इन्हें पञ्चदशाक्षर मन्त्र की दीक्षा दी थी। इन्होंने १२ वर्ष की अवस्था में ही मठाधीश्वर का आसन सनाथ किया था और २४ वर्ष की आयु में ही सर्वधारी सम्वत् के चैत्र शुक्ल प्रतिपदा को इनका देहपात हुआ।

१४. उज्ज्वलशङ्कर—ये महाराष्ट्र ब्राह्मण केशव शङ्कर के पुत्र थे। इनका पहिला नाम अच्युत केशव था। इन्होंने प्रतिवादियों को परास्त करने के लिये बड़ी-बड़ी यात्राएँ भी की थीं। इनके आशीर्वाद से स्यानन्दूरा के राजा कुलशेखर को कवित्व शक्ति प्राप्त हुई थी। जरहष्टि नामक एक जैन आचार्य के अनुयायियों को इन्होंने सिन्धु के पार भगा दिया। ये ३८ वर्ष तक मठाधीश रहे। काश्मीर की एक दिग्विजय यात्रा में कलि ३४६८ अक्षय सम्वत् में बैशाख शुक्लाष्टमी को कलापुरी में इनका शरीर-पात हुआ। उक्त पुरी तभी से महायतिपुरी भी कहलाती है।

१५. गौडसदाशिव (बालगुरु)—ये काश्मीर के देवमिश्रा नामक ब्राह्मण मन्त्री के पुत्र थे। इनके पिता जैन मतावलम्बी थे, अतएव उन्होंने क्रुद्ध होकर वेदान्त की ओर बाल्यकाल में ही इन्हें झुकते हुए देख कर सिन्धु नदी में फेंकवा दिया था। पाटलिपुत्र वासी भूरिबसु ने इनकी रक्षा की। इनका दूसरा नामकरण 'सिन्धु दत्त' भी किया। श्री भूरिवसु ने ही इनका पालन-पोषण किया और १७ वर्ष की आयु में श्री उज्ज्वलशङ्कर से दीक्षा प्राप्त कर ये पीठस्थ हुए। उन्होंने सुवर्ण की बनी पालकी में बैठकर बहुत-सी धर्मयात्राएँ कीं और वाल्हीक बौद्धों को परास्त किया। जहाँ ये जाते थे वहाँ १००० ब्राह्मणों को नित्य भोजन कराते थे। ये केवल ८ ही वर्ष तक पीठस्थ रहे और २५ वर्ष की अवस्था में भव-सम्वत् की ज्येष्ठ शुक्ल दशमी को नासिक के समीप त्र्यम्बक में इनका शरीरपात हुआ।

१६. सुरेन्द्र—इनका उपनाम योगितिलक था। इनका पहला नाम माधव था और ये महाराष्ट्र ब्राह्मण मथुरानाथ के पुत्र थे। कश्मीरनरेश नरेन्द्रादित्य के भ्रातृज सुरेन्द्र के दरबार में दुर्दीदिवी नामक चार्वाक आचार्य को इन्होंने शास्त्रार्थ में परास्त किया था। कहा जाता है कि उक्त नास्तिक की सहायता साक्षात् बृहस्पति ने की थी। ये १० वर्ष तक पीठस्थ रहे। तरुण सम्वत् कलि ३४८६ में मार्गशीर्ष शुक्ल १ को उज्जैन के समीप इन्होंने शरीर छोड़ा।

१७. विद्याघन (द्वितीय)—मार्तण्ड एवं सूर्यदास इनके दो उपनाम थे।

इनका पहला नाम श्रीकण्ठ था और ये उमेश शङ्कर के पुत्र थे। ये प्रतिदिन १००८ बार सूर्य नमस्कार करते थे जिसके फलस्वरूप इनका श्वेत कुष्ठ दूर हो गया। ये १३ वर्ष तक (१८ से लेकर ३१ की आयु तक) पीठस्थ रहे और हेविलम्बी सम्वत् में भाद्र कृष्ण ६ को गोदावरी के निकट इनका शरीर-पात हुआ।

१८. शङ्कर (चतुर्थ)—ये विद्यावटी नामक एक गणक के पुत्र थे और इनका पहला नाम मूक था। ये जन्मत: गूंगे तथा बहरे थे पर विद्याघन की कृपा से वाणी-वैभव प्राप्त हुआ था। इन्होंने अपने पिता से वेद पढ़े थे और काश्मीराधीश्वर मातृगुप्त एवं 'सेतुबन्ध' काव्य के रचयिता प्रवरसेन ने भी इनकी सेवा की थी। कहा जाता है कि मातृगुप्त के विद्याजनित दर्प का दलन करने के लिए उक्त यतीन्द्र ने एक घुड़साल के निरीक्षक तथा हस्तिपक को विद्या का प्रसाद प्रदान किया और दोनों ने क्रम से 'मणिप्रभा' एवं 'हयग्रीववध' नामक दो नाटक लिखे। इन दोनों का नाम रामिल तथा मेण्ठ था। प्रवरसेन तथा माण्ठगुप्त से कह कर श्री शङ्कर ने हिमालय में कहीं सुषमा नाम का पथ निकलवाया जो चन्द्रभागा (झेलम) से लेकर सिन्ध तक था। हरिमिश्रीय में लिखा है—

आचन्द्रभवमासिन्धु हिमालयमहीभृतः।
श्री शङ्करेन्द्रेण कृता पद्या साद्यापि दृश्यते॥

इन्होंने काञ्ची की अधिष्ठात्री देवी कामाक्षी की स्तुति में 'मूकपञ्चशती' तथा 'शङ्कर विजय' नामक दूसरी रचना प्रस्तुत की थी। शक सम्वत् ३५६ की श्रावणी पूर्णिमा को गोदावरी के निकट इन्होंने शरीर-त्याग किया।

१६. चन्द्रशेखर (प्रथम)—ये विक्रमादित्य के इतिहास प्रसिद्ध कृपापात्र मातृगुप्त ही थे जिन्होंने कुछ काल तक काश्मीर के सिंहासन को सुशोभित किया था। इसीलिए इनका दूसरा नाम सार्वभौम भी था। ये कोङ्कण निवासी अच्युत नामक एक ब्राह्मण के पुत्र थे। ये दस वर्ष तक काशी में रहे और व्यय सम्वत् की श्रावण कृष्णाष्टमी को इनका शरीरपात हुआ।

२०. परिपूर्णबोध—ये रत्नगिरिवासी के पुत्र थे और बहुत बड़े वैद्य थे। यहाँ तक कि इन्हें धन्वन्तरि का अवतार तक माना जाता था। 'असमाभिलापक' मन्त्र के जप से इन्हें योग की सिद्धियाँ भी प्राप्त हुई थीं। ये ३४ वर्ष तक पीठस्थ रहे और रौद्रा सम्वत् में कार्तिक शुक्ल नवमी को जगन्नाथ के समीप इन्होंने शरीर छोड़ा।

२१. सच्चित्सुख—ये चिकाकोल वासी आन्ध्र ब्राह्मण सोमनाथ के पुत्र थे और इनका पहला नाम गिरीश था। ये सुब्रह्मण्य के पूजक थे। कहा जाता है कि नास्तिक आर्य भट्ट (प्रसिद्ध ज्योतिर्विद्) को इन्होंने वैदिक मतानुयायी बनाया।

३४ वर्ष तक पीठस्थ रहने के पश्चात् खर सम्वत् में बैशाख शुक्ल सप्तमी को इन्होंने जगन्नाथ के समीप शरीर त्याग किया।

२२. चित्सुख (प्रथम)—ये कोङ्कण के रहने वाले थे और इनका पहला नाम शिवशर्मा था। ये १५ वर्ष तक पीठस्थ रहे और बराबर कोङ्कण में ही रहते थे। प्रभव सम्वत् में श्रावण शुक्ल नवमी को इन्होंने शरीर छोड़ा।

२३. सच्चिदानन्दघन उपनाम सिद्धगुरु—ये श्रीमुष्णम् वासी द्राविड़ ब्राह्मण कृष्ण के आत्मज थे। इनका पहला नाम शिवसाम्ब था। इन्होंने कई बार भारत का पर्यटन किया था। ये बहुत उच्चकोटि के योगी थे तथा चतुष्पदों एवं साधारण कृमियों की भी भाषा का इन्हें ज्ञान था। अपने योगविद्या के द्वारा इन्होंने अपने शरीर को अन्त में लिंग के रूप में परिवर्तित कर दिया। 'सिद्धविजय-महाकाव्य' में मेण्द भट्ट ने इनकी जीवनी लिखी है। ४७० शक सम्वत् में कोङ्कण के समीप आषाढ़ शुक्ल प्रतिपदा को इन्होंने शरीर त्याग किया।

२४. प्रज्ञघन—ये पिनाकिनी तटवासी प्रभाकर के पुत्र थे। इनका पहला नाम सोणगिरि था। ये १८ वर्ष तक पीठस्थ रहे और सुभानु सम्वत् में वैशाख शुक्ल अष्टमी को काञ्ची में इनका शरीरपात हुआ।

२५. चिद्विलास—ये हस्तिगिरि निवासी मधुसूदन के पुत्र थे और इनका पहला नाम हरिकेशव था। १३ वर्ष तक पीठस्थ रहकर दुर्मुख सम्वत् के प्रथम दिन इन्होंने काञ्ची में शरीर छोड़ा।

२६. महादेव (प्रथम)—ये भद्राचलवासी भानु मिश्र के पुत्र थे। इनका पहला नाम शेष मिश्र था। ये मैथिल ब्राह्मण थे और आन्ध्रप्रदेश में आकर बस गये थे। ये २४ वर्ष पीठस्थ रहे और रौद्र सम्वत् में आश्विन के कृष्ण दशमी को काञ्ची में इनका शरीरपात हुआ।

२७. पूर्णबोध (प्रथम)—ये श्रीपति के पुत्र थे और इनका पहला नाम कृष्ण था। १७ वर्ष तक पीठस्थ रहने के पश्चात् ईश्वर सम्वत् में श्रावण शुक्ल एकादशी को काञ्ची में इनका शरीरपात हुआ।

२८. बोध (प्रथम)—इनके पिता का नाम कालहस्ति था और इनका पहला नाम बालय्य था। ये ३७ वर्ष तक पीठस्थ रहे। आनन्द सम्वत् में बैशाख शुक्ल चतुर्थी को इन्होने काञ्ची में शरीर छोड़ा।

२९. ब्रह्मानन्दघन (प्रथम) उपनाम शीलनिधि—ये गरुड़ नदी के समीप रहने वाले अनन्त नामक द्राविड़ ब्राह्मण के पुत्र थे। इनका पहला नाम ज्येष्ठ रुद्र था। ये छहों दर्शनों के पण्डित थे और काश्मीर नरेश ललितादित्य एवं भवभूति ने भी इनकी सेवा की थी।

३०. चिदानन्दघन—ये कएणु शङ्कर के पुत्र थे और इनका पहला नाम
ऌनाभ था। ये लम्बिका नाम की योगक्रिया की साधना के पश्चात् सूखी
त्तियों पर रहने लगे थे। ये केवल ४ वर्ष तक पीठस्थ रहे और प्रजोत्पत्ति
न्वत् में मार्गशीर्ष शुक्ल षष्ठी को इन्होंने काञ्ची में शरीर छोड़ा।

३१. सच्चिदानन्द (द्वितीय) उपनाम 'भाषा परमेष्ठी'—ये प्रौढ़
मन्न के पुत्र थे और इनका पहला नाम टिम्मन्न था। इनकी जन्मभूमि कहीं
न्द्रभागा के आसपास थी। ये कई भाषाओं के विद्वान् थे और इन्होंने मठों के
ीर्णोद्धार का कार्य बड़ी लगन से किया। २० वर्ष तक पीठस्थ रहने के पश्चात्
न्होंने खर सम्वत् में प्रोष्ठपद शुक्ल षष्ठी को काञ्ची में शरीर छोड़ा।

३२. चन्द्रशेखर (द्वितीय)—इनके पिता का नाम महादेव था तथा इनकी
न्मभूमि वेगवती नदी के आसपास कहीं थी। इनका पहला नाम शम्भू था।
होंने एक बार एक लड़के को दावाग्नि से बचाया तथा काश्मीर नरेश
लितादित्य के बौद्ध मन्त्री चङ्कुण को शास्त्रार्थ में परास्त किया। ये १८ वर्ष तक
ठस्थ रहे और सौम्य सम्वत् में मार्गशीर्ष शुक्ल प्रतिपद को इन्होंने काञ्ची में
रीर छोड़ा।

३३. चित्सुख (द्वितीय) उपनाम 'बहुरूप'—ये वेदाचल निवासी विमलाक्ष
पुत्र थे और इनका पहला नाम 'सुशील कमलाक्ष' था। सह्याद्रि की कावेर
फा में इन्होंने बहुत दिनों तक तपस्या की। १७ वर्ष तक पीठस्थ रहने के पश्चात्
ातु सम्वत् में आषाढ़ शुक्ल षष्ठी को इन्होंने उक्त पर्वत के समीप शरीर छोड़ा।

३४. चित्सुखानन्द उपनाम चितानन्द—ये सोमगिरि के पुत्र थे और
नकी जन्मभूमि पालार नदी के आसपास थी। इनका पहला नाम सुरेश था।
१ वर्ष तक पीठस्थ रहने के पश्चात् इन्होंने हेमलम्ब सम्वत् में आश्विन की
र्णिमा को काञ्ची में शरीर-त्याग किया।

३५. विद्याघन (तृतीय)—ये बालचन्द्र के पुत्र थे और इनका पहला नाम
र्यनारायण था। इनके समय में मुसलमानों ने आक्रमण किया था और इन्होंने
ड़ी कठिनाई झेल कर धर्म की रक्षा की—"प्रचिते परितस्तुरुष्कचक्रे ......"।
३० वर्ष तक पीठस्थ रहे और एक यात्रा के सिलसिले में चिदम्बरम् में इन्होंने
भव सम्वत् में पौष शुक्ल द्वितीया को शरीरत्याग किया।

३६. शङ्कर (पञ्चम)—ये चिदम्बनम् निवासी विश्वजित् के पुत्र थे और
ीर तथा अभिनव इनके दो उपनाम थे। वाक्पतिभट्ट ने अपने 'शङ्करेन्द्रविलास' में
नका चरित वर्णन किया है। इनके विषय में अनेक कुतूहलपूर्ण वृत्तान्त प्रचलित
। इन्होंने कश्मीर में वाक्पतिभट्ट जैसे लब्धख्याति विद्वान् को हराया था और

चीनी, तुर्क तथा पारसी तक इनकी विद्वत्ता तथा निष्ठा से प्रभावित हुए थे। ५२ वर्ष तक पीठस्थ रहकर ये ३६४१ कलि सिद्धार्थ सम्वत् की आषाढ़ शुक्ल प्रतिपद को आत्रेय पर्वत की दत्तात्रेय गुफा में गुप्त हो गये।

३७. सच्चिद्विलास—ये कान्यकुब्ज निवासी कमलेश्वर के पुत्र थे और संन्यास लेने के पूर्व इनका नाम श्रीपति था। इन्होंने पद्मपुर में अधिक समय तक निवास किया। आनन्दवर्धन, मुक्ताकरण, शिवस्वामी और राजानक रत्नाकर इनके प्रसिद्ध सेवकों में से थे। ये २३ वर्ष तक पीठस्थ रहे और नन्दन सम्वत् में वैशाख शुक्ल पूर्णिमा को इन्होंने शरीर छोड़ा।

३८. महादेव (तृतीय)—ये कर्नाटक वासी कन्नरय के पुत्र थे और इनका पहले का नाम शिवराम भट्ट था। अधिक सुन्दर होने के कारण ये 'उज्ज्वल' और 'शोभन' भी कहलाते थे। ४२ वर्ष तक पीठस्थ रहने के पश्चात् भव सम्वत् में वैशाख शुक्ल षष्ठी को इन्होंने काञ्ची में शरीर छोड़ा।

३९. गङ्गाधर (द्वितीय)—इनका जन्म भीमा नदी के किनारे किसी स्थान में हुआ था। इनका पहले का नाम अप्पन था और ये उमेश्वर भट्ट के पुत्र थे। कहा जाता है कि इनकी कृपा से कविवर राजेश्वर ने, जो संयोगवश नेत्रहीन हो गये थे—पुनः दृष्टि प्राप्त की। ३५ वर्ष तक पीठस्थ रहने के पश्चात् सौम्य सम्वत् में श्रावण शुक्ल प्रतिपद् को इन्होंने काञ्ची में शरीर छोड़ा।

४०. आनन्दघन—इनकी जन्मभूमि तुङ्गभद्रा के किनारे थी। इनके पिता का नाम सुदेवभट्ट था और इनका पहले का नाम शङ्कर पण्डित था। ३६ वर्ष तक पीठस्थ रहने के पश्चात् प्रमादी सम्वत् में चैत्र शुक्ल नवमी को इन्होंने काञ्ची में शरीर छोड़ा।

४२. पूर्णबोध (द्वितीय)—इनका पहले का नाम हरि था और इनके पिता का नाम शिव था। ये कर्नाटक के निवासी थे। ये २६ वर्ष तक पीठस्थ रहे और प्रमाथी सम्वत् में प्रोष्ठपाद मास में कृष्ण त्रयोदशी को इन्होंने शरीर-त्याग किया।

४३. परमशिव (प्रथम)—इनके पिता का नाम शिवसाम्ब पण्डित था और इनका पहले का नाम श्री कण्ठ था। इन्होंने सोमदेव नामक अपने एक भक्त के साथ सह्याद्रि की एक गुफा में बहुत दिनों तक वास किया। २१ वर्ष तक पीठस्थ रहने के पश्चात् सारवरी सम्वत् में आश्विन शुक्ल सप्तमी को इन्होने शरीर छोड़ा।

४४. बोध (द्वितीय)—इन्हें शङ्करानन्द भी कहते थे। इनके पिता का नाम सूर्य था। डफ का कथन है कि ये ही कथासरित्सागर के रचयिता सोमदेव थे। धारा-नरेश भोजराज द्वारा समर्पित मोतियों से जड़ी एक पालकी में बैठकर इनके

दक्षिणभारत-यात्रा करने का उल्लेख मिलता है। कहा जाता है कि काश्मीरनरेश कलस की सहायता से इन्होंने काञ्ची के आसपास रहने वाले मुसलमानों को भगा दिया था। ३७ वर्ष तक पीठस्थ रहने के पश्चात् ईश्वर सम्वत् में आषाढ़ शुक्ल प्रतिपद् को इन्होंने अरुणाचल में शरीर छोड़ा।

४५. चन्दशेखर (तृतीय)—इनका एक नाम चन्द्रचूड भी था। इनकी जन्म-भूमि कुण्डी नदी के आसपास कहीं थी। इनके पिता का नाम शुकदेव था। प्रसिद्ध कवि मंख, कृष्ण मिश्र, जयदेव तथा सुहल इनके कृपापात्र थे। विद्यालोल कुमारपाल के दरबार में इन्होंने हेमाचार्य को शास्त्रार्थ में परास्त किया था। कश्मीर नरेश जयसिंह भी इनके सेवकों में से थे। ये ६८ वर्ष तक पीठस्थ रहे और कलिवर्ष ४२६७ पार्थिव सम्वत् चैत्रशुक्ल प्रतिपदा को इन्होंने अरुणाचल के समीप शरीर छोड़ा।

४६. अद्वैतानन्द बोध—इनका एक नाम चिद्विलास भी था। इनके पिता प्रेमेश पिनाकिनी नदी के किनारे के एक ग्राम के निवासी थे। इनका गृहस्थाश्रम का नाम सीतापति था। १७ वर्ष की अवस्था में ही इन्होंने संन्यास ग्रहण किया था। कहा जाता है कि इन्होंने नैषधचरित के रचयिता श्री हर्ष तथा मन्त्रशास्त्री अभिनव गुप्त को परास्त किया था। इन्होंने तीन पुस्तकें लिखी हैं—(१) ब्रह्मविद्याभरण, (२) शान्तिविकरण, (३) गुरुप्रदीप। ये ३४ वर्ष तक पीठस्थ रहे और सिद्धार्थ सम्वत् की ज्येष्ठ शुक्ल दशमी को इन्होंने चिदम्बरम् में शरीर छोड़ा।

४७. महादेव (तृतीय)—ये छायावनम् के निवासी अच्युत नामक एक ब्राह्मण के पुत्र थे। इनका गृहस्थाश्रम का नाम गुरुमूर्ति था। ये शक्ति के उपासक थे पर तान्त्रिक नहीं थे। ४७ वर्ष तक पीठस्थ रहने के पश्चात् प्रभव सम्वत् में श्रावण कृष्ण अष्टमी को गडिलम नदी के किनारे जहाँ थे, इसी स्थान में शरीर इन्होंने छोड़ा।

४८. चंद्रचूड (द्वितीय)—इनके पिता का नाम अरुणगिरि था और इनका गृहस्थाश्रम का नाम गणेश था। ये शाक्त थे तथा अपने गुरु के साथ शक्ति की आराधना के निमित्त इन्होंने अग्नि में एक करोड़ आहुतियाँ दी थीं। ५० वर्ष तक पीठस्थ रहने के पश्चात् दुर्मुख सम्वत् में ज्येष्ठ शुक्ल षष्ठी को गुडिलम नदी के समीप इन्होंने शरीर छोड़ा।

४९. विद्यातीर्थ—ये बिल्वारण्य निवासी शार्ङ्गपाणि के पुत्र थे। इनका गृहस्थाश्रम का नाम सर्वज्ञ विष्णु था। ये प्रसिद्ध वेदभाष्यकर्ता सायणाचार्य तथा माधवाचार्य (जिन्हें विद्यारण्य भी कहते हैं) के गुरु[1] थे। प्रसिद्ध वैष्णव दार्शनिक

[1] प्रणम्य परमात्मानं श्रीविद्यातीर्थरूपिणम्।
जैमिनीयन्यायमाला श्लोकैः संगृह्यते स्फुटम्॥
यस्य निश्वसितं वेदा वेदेभ्यो योऽखिलं जगत्।
निर्ममे तमहं वन्दे विद्यातीर्थं महेश्वरम्॥—सायणकृत, ऋ० भा० भू०

वेदान्तदेशिक इन्हीं के शिष्य थे। माध्वसम्प्रदाय तथा रोमन कैथोलिक धर्म की बढ़ती को रोकने के लिए इन्होंने अपने आठ शिष्यों की देखरेख में आठ नये मठों की स्थापना की जिनमें विरुपाक्षी का मठ विद्यारण्य के अधीन था। इनका एक स्तुत्य कार्य था शृंगेरी मठ की विच्छिन्न परम्परा को पुनरुज्जीवित करना। सुरेश्वराचार्य के नवें उत्तराधिकारी के पश्चात् शृंगेरी मठ की पीठाधीश-परम्परा ८०० वर्षों के लिए विच्छिन्न हो गयी थी। इस कमी की पूर्त्ति इन्होंने अपने शिष्य विद्यारण्य द्वारा भारतीकृष्ण को पीठाधीश्वर बनवाकर की। ये ७३ वर्ष तक पीठस्थ रहे और तदनन्तर इन्होंने १५ वर्ष तक हिमालय में तपस्या की। उस समय केवल शङ्करानंद (जो बाद में इनके उत्तराधिकारी हुए) इनके साथ थे। रिक्ताक्ष सम्बत् में माघ शुक्ल प्रतिपद् को इन्होंने शरीर छोड़ा।

५०. शङ्करानन्द—इनकी जन्मभूमि मध्यार्जुन (वर्तमान विरुविदैमरादूर) थी। इनके पिता का नाम बालचन्द्र था तथा इनका गृहस्थाश्रम का नाम महेश था। माध्व-सम्प्रदाय की बढ़ती को रोकने के लिए विद्यारण्य स्वामी ने जो कार्य किया, उसी के सम्बन्ध में इनका उनसे परिचय हुआ। इन्होंने (१) ईश, (२) केन, (३) प्रश्न तथा (४) वृहदारण्यक उपनिषदों पर दीपिकाएँ लिखी हैं। 'आत्म-पुराण' में भी इन्होंने उपनिषदों की ही चर्चा की है। माध्वों तथा वैष्णवों के विरुद्ध इन्होंने बड़ा ही तीव्र प्रचार किया था। ३२ वर्ष तक पीठस्थ रहने के पश्चात् दुर्मुख सम्वत् में वैशाख शुक्ल प्रतिपदा को इन्होंने शरीर त्याग किया।

५१. पूर्णानन्द सदाशिव—इनकी जन्मभूमि नागारण्य थी। इनके पिता का नाम नागनाथ था। ये ८१ वर्ष तक पीठस्थ रहने के पश्चात् पिंगल सम्बत् में ज्येष्ठ शुक्ल दशमी को इन्होंने काञ्ची में देहत्याग किया।

५२. महादेव चतुर्थ—ये काञ्ची के ही निवासी थे। इनके पिता का नाम कामेश्वर तथा माता का नाम कमलाम्बा था। इनका गृहस्थाश्रम का नाम कुप्पन था। व्यासाचल पर रहने के कारण ये व्यासाचल नाम से भी ख्यात थे। इन्होंने एक 'शंकरविजय' की भी रचना की है जिसे व्यासाचलीय कहते हैं। ६ वर्ष तक पीठस्थ रहने के पश्चात् अक्षय सम्वत् में आषाढ़ शुक्ल प्रतिपदा को इन्होंने व्यासाचल में शरीर छोड़ा।

५३. चन्द्रचूड (तृतीय)—मणिमुक्ता नदी (जो आरकाट जिले के दक्षिणी भाग में बहती है) के समीप स्थित अशाशाला इनकी जन्मभूमि थी। इनके पिता का नाम पुरारि तथा इनकी माता का नाम श्रीमती था। इनका गृहस्थाश्रम का नाम अरुणगिरि था। १६ वर्ष तक पीठस्थ रहकर स्वाभानु सम्वत् में मीन की शुक्ल एकादशी को इन्होंने शरीर छोड़ा।

५४. सर्वज्ञ सदाशिव बोध—इनकी जन्मभूमि पेण्णार नदी के आस-पास थी। इनके पिता का नाम चिरुत चिक्कन था। रामनाद के राजा प्रवीर इनके भक्त थे। १६ वर्ष तक पीठस्थ रहकर विलम्ब सम्वत् की चैत्र शुक्ल अष्टमी को इन्होंने रामेश्वरम् में शरीर छोड़ा। इन्होंने 'पुण्यश्लोकमञ्जरी' की रचना की थी।

५५. परमशिव (द्वितोय)—इनकी जन्मभूमि पम्पा नदी के आस-पास थी। इनके पिता का नाम परमेश्वर था तथा इनका गृहस्थाश्रम का नाम शिवरामकृष्ण था। 'गुरुरत्नमाला' के रचयिता सदाशिवब्रह्म के ये शिष्य थे। उन्हीं की प्रशंसा में इन्होंने 'आत्मविद्याविलास' की रचना की। 'शिवगीता' पर भी इन्होंने एक टीका लिखी है। ये ४७ वर्ष तक पीठस्थ रहे और पार्थिव सम्वत् को श्रावण शुक्ल दशमी को इन्होंने श्वेतारण्य (वर्तमान 'तिरुवेङ्काडु') में शरीर-त्याग किया। आज भी उनकी समाधि पर एक मन्दिर है।

५६. आत्मबोध—इनका दूसरा नाम विश्वाधिक था। ये दक्षिणी आरकाट जिला के वृद्धाचल नामक स्थान के निवासी थे। इन्होंने बड़ी लम्बी यात्राएँ की और काशी में भी बहुत काल तक रहे। ये 'रुद्रभाष्य' के रचयिता हैं। इन्हीं के कहने पर 'गुरुरत्न भाषा' की रचना की गई। ५२ वर्ष तक ये पीठ के अधिपति रहे।

५७. बोध उपनाम (तृतीय) योगेन्द्र और भगवन्नाम—इनका मूल नाम पुरुषोत्तम था। ५० वर्ष तक ये अधिपति थे। रामेश्वर यात्रा करके जब ये लौट रहे थे तो रास्ते में ही तञ्जोर जिला में इनका शरीरपात सम्वत् १६६२ में हो गया जहाँ इनकी स्मृति में प्रतिवर्ष उत्सव होता है।

५८. अद्वयात्मप्रकाश (गोविन्द)—इनका प्राचीन नाम श्रुतिपण्डित था। ये तञ्जोर जिला के गोविन्दपुरम् में रहते थे जहाँ पूर्व आचार्य की मृत्यु हुई थी। तञ्जोर के राजा शाहजी इनके बड़े सेवक थे। अध्यक्षपद पर ये केवल १२ वर्ष तक रहे।

५९. महादेव (पंचम)—ये सिद्ध पुरुष थे। इन्हीं के समय में आत्मबोध ने 'गुरुरत्न माला' की टीका लिखी।

६०. चन्द्रशेखर (चतुर्थ)—इन्हीं के समय में पीठ के इतिहास में एक विशेष बात हुई। कामकोटि पीठ काञ्चीपुर से हटा कर कुम्भकोणम् में लाया गया। कामाक्षी की सुवर्णमूर्ति इसी समय में तञ्जोर लाई गई। वहाँ के राजा प्रतापसिंह के निमन्त्रण पर मठ का केन्द्र तञ्जोर ही रखा गया परन्तु कावेरी के तीर पर कुम्भकोणम् की स्थिति इतनी अच्छी है कि आचार्यों ने इसे ही अपना केन्द्र बनाया।

६१. महादेव (षष्ठ)—इनके समय में कोई विशेष घटना नहीं हुई।

६२. चन्द्रशेखर (पंचम)—इनका मूल नाम वेङ्कटसुब्रह्मण्य दीक्षित था। तञ्जोर के नायक राजाओं के मन्त्री पद पर गोविन्द दीक्षित नाम के एक ब्राह्मण अधिष्ठित थे। ये कर्नाटक ब्राह्मण थे और तञ्जोर में बस गये थे। इनके बाद के प्राचार्य भी इन्हीं के कुटुम्ब के थे। ये मन्त्रशास्त्र के विशेष पण्डित बतलाये जाते हैं।

६३. महादेव (सप्तम)—इनका उपनाम सुदर्शन तथा मूल नाम महालिङ्ग शास्त्री था। इन्होंने बहुत लम्बी तीर्थ यात्राएँ की थीं।

६४. चन्द्रशेखर (षष्ठ)—इनका मूलनाम स्वामीनाथ था। ये १७ वर्ष तक अधिपति रहे।

६५. महादेव (अष्टम)—इनका मूल नाम लक्ष्मी नरसिंह था। ये केवल ७ दिन तक पीठाधीश्वर रहे।

६६. चन्द्रशेखरेन्द्र सरस्वती—ये ही स्वामी जी वर्तमान पीठाधिपति हैं। जब ये कम उम्र के थे तभी ये पीठ के अधिपति बनाये गये। ये बड़े भारी पण्डित हैं एवं स्वार्थ तथा परमार्थ के मर्मज्ञ माने जाते हैं। इन्होंने पूरे भारतवर्ष की यात्रा पैदल ही की है। कामकोटि-पीठ की प्रतिष्ठा को बढ़ाने के लिए इन्होंने बहुत उद्योग किया है। मठ के पास ही इन्होंने संस्कृत विद्यालय का प्रबन्ध किया है। इनकी देख-रेख में मठ की विशेष उन्नति हुई है।[1]

सदाशिवसमारम्भां शंकराचार्यमध्यमाम्।
अस्मदाचार्यपर्यन्तां वन्दे गुरुपरम्पराम्॥

---

[1] कामकोटि पीठ के पूर्वोक्त विवरण के लिए द्रष्टव्य—N. Venkata Raman, M. A, रचित Shankaracharya the Great and his Successors in Kanchi. (Ganesh & Co., Madras 1923)। लेखक, इस पुस्तक के रचयिता का विशेष आभार मानता है।

मठाम्नाय की तालिका

संख्या	मठ	क्षेत्र	आम्नाय	सम्प्रदाय	अंकितनाम	देव	देवी	आचार्य	तीर्थ	ब्रह्मचारी	वेद	महावाक्य	गोत्र	शासनाधीन
१	गोवर्धन	पुरुषोत्तम	पूर्व	भोगवार	अरण्य, बन	जगन्नाथ	विमला	पद्मपाद	महोदधि	प्रकाश	ऋक्	प्रज्ञानं ब्रह्म	काश्यप	अंग, वंग, कलिङ्ग, उत्कल
२	शृङ्गेरी	रामेश्वर	दक्षिण	भूरिवार	सरस्वती, भारती, पुरी	आदि-बाराह	कामाक्षी	हस्ता-मलक	तुङ्ग-भद्रा	चैतन्य	यजुः	अहं ब्रह्मास्मि	भूर्भुवः	आन्ध्र, द्राविड़, केरल, कर्णाट
३	शारदा	द्वारिका	पश्चिम	कीटवार	तीर्थ, आश्रम	सिद्धेश्वर	भद्रकाली	विश्वरूप	गोमती	स्वरूप	साम	तत्त्व मसि	अविगत	सिन्धु, सौवीर, सौराष्ट्र, महाराष्ट्र

४	ज्योतिमंठ	बदरिका-श्रम	उत्तर	आनन्दवार	गिरि पर्वत सागर	नारायण	पूर्णागिरि	तोटकाचार्य	अलक-नन्दा	आनन्द	अथर्व	अय-मात्मा ब्रह्म	भृगु	कुरु, काश्मीर, पाञ्चाल, कम्बोज
५	सुमेरु	कैलास	उर्ध्वाम्नाय	काशी	सत्यज्ञान	निरंजन	माया	महेश्वर	मानस ब्रह्म तत्त्वाव-गाहितम्	..	सामवेद			
६	परमात्म-मठ	नभस्सरो-वर	आत्मा-म्नाय	सच्चतोषः	योग	परमहंस	मानसी-माया	चेतन	त्रिपुट	संन्यासी				
७	सहस्रार्क-द्युतिमठ	अनुभव	निष्कला-म्नाय	सच्छिष्यः	गुरुपादुका	विश्वरूप	चिच्छक्ति	सद्गुरु	सत्शास्त्र श्रवणम्	संन्यास				

उपपीठ

इन प्रधानमठों से सम्बद्ध अनेक उपपीठ भी विद्यमान हैं जिनकी संख्या कुछ कम नहीं है। ऐसे प्रधान उपपीठों के नाम हैं—कूडली मठ,[1] सङ्केश्वर मठ, पुष्पगिरि मठ[2], विरूपाक्ष मठ[3], रामचन्द्रपुर मठ, शिवगङ्गा मठ, कोप्पाल मठ, श्रीशैल मठ, रामेश्वर मठ आदि। ये मठ, प्रधान मठ के ही अन्तर्गत माने जाते हैं, जैसे कूडली मठ तथा सङ्केश्वर मठ शृङ्गेरी मठ से पृथक् होने पर भी उसकी अध्यक्षता तथा प्रभुता स्वीकार करते हैं। ऐसा कहा जाता है "कि शृङ्गगिरि मठ ने कूडली मठ के ऊपर अदालत में एक दावा किया। दावा का विषय था कूडली, शृङ्गगिरि का उपपीठ और कूडलि पीठाधीश शृङ्गगिरि पीठाधीश जैसा 'अड्डु पल्लकी' वगैरह का इस्तेमाल नहीं करना चाहिए। इसी मामले में मैसूर अदालत में १८४७ वत्सरीय २२वें अपील में (appeal) यह फैसला हुआ कि कूडली मठ शृङ्गगिरि मठ का उपपीठ नहीं है। इतना ही नहीं कूडली मठ और शृङ्गगिरि मठ जब अलग हुए तब अदालत में कुछ मामला हुआ। उस वक्त शृङ्गगिरि मठ के नवीन पीठाधीश ने एक निबन्धन-पत्र (agreement) कूडली पीठाधीश को लिख के दिया। उसमें श्री शृङ्गगिरि पीठाधीश ने जो शर्तें अङ्गीकार किये हैं वे ये हैं—"शृङ्गगिरि में रहकर श्रीशारदा देवी की पूजा करेंगे। बाहरी यात्रा नहीं करेंगे। कूडील मठ को हिसाब भेजेंगे। बाहरी यात्रा करने का अधिकार कूडली मठ का ही है।" सङ्केश्वरमठ के पृथक् होने की घटना भी यों बतायी जाती है कि मठ के अध्यक्ष शङ्कराचार्य तीर्थाटन करने के लिये बदरीनाथ गये और अपने स्थान पर किसी दूसरे व्यक्ति को मठ की देखरेख करने के लिए रख गये। अपने लौटने की अवधि तीन वर्ष बता दी। बीच में आकर किसी ने आचार्य के देहपात की बात उड़ा दी। बस, स्थानापन्न पक्के अध्यक्ष बन गये। जब आचार्य लौटे और कोल्हापुर तक पहुँचे तब उन्हें इस घटनाचक्र का पता लगा। वे वहीं रह गये तथा उन्होंने सङ्केश्वरमठ की स्थापना की—यही इसका इतिहास बताया जाता है। इसी प्रकार गुजरात में वागड़ मठ द्वारिका के शारदामठ से पृथक् हुआ है। परन्तु वह उसी के अन्तर्गत माना जाता है। इन उपपीठों के इतिहास की खोज करने की आवश्यकता है। कर्नाटक राज्य में पश्चिम भाग के लोगों ने कूडली शृङ्गगिरि पीठ को, पूर्वभाग के

[1] कूडली मठ—मैसूर रियासत में शृङ्गगिरि के दक्षिण में ७० मील पर तुङ्गभद्रा के तीर में है।

[2] विरूपाक्ष मठ—आन्ध्र-प्रदेश में हम्पि (Vizianagaram) में है।

[3] पुष्पगिरि मठ—यह भी आन्ध्र-प्रदेश में कडप्पे और कर्नूल के बीच में है। कडप्पे जिले में ही कडप्पे से करीब २० मील पर है।

लोगों ने आमणि पीठ को, अपने-अपने घरों में होनेवाले विवाहादि शुभ अवसर पर अग्र-पूजा व भेंट समर्पण करते हैं। इसी आन्ध्र देश के उत्तर में कुछ भाग के लोगों ने विरूपाक्षि, पुष्पगिरि पीठ को; तथा आन्ध्रदेश के दक्षिण भाग द्राविड़ देश के मुख्य भाग के लोगों ने श्रीकामकोटि पीठ को अपने-अपने घरों में होने वाले विवाहादि शुभ अवसर पर अग्र पूजा व भेंट समर्पण करते हैं। मुख्यतया द्राविड़ देश में ५०० से ज्यादातर गाँवों में उन गाँव वालों ने गाँवों की समुदाय जमीन का कुछ भाग श्रीकामकोटि पीठाधीश को श्रीचन्द्रमौलीश्वर पूजा निवेदन वगैरह खर्च के लिए मान्यदान रूप से समर्पण की है। कर्नाटक देश में हव्यका नाम से एक समूह है जिसमें ८००० आदमी हैं। वे लोग भी शुभ अवसरों पर अग्र-पूजा व भेंट श्रीरामचन्द्रपुरम् मठ को समर्पण करते हैं।

कर्नाटक देश के कुछ भाग—द्राविड़ देश के कुछ भाग के लोगों ने शुभ अवसरों पर शृङ्गगिरि पीठ को अग्र-पूजा व भेंट समर्पण करते हैं। सामग्री न मिलने के कारण उनका विशेष परिचय नहीं दिया जा सका।

इन मठों की अपनी विशिष्ट मुद्रा (मुहर) है जिनसे वहाँ के शासन-पत्र अङ्कित किये जाते हैं। आचार्यों की विशिष्ट विरुदावली है जिसे श्रीमुख कहते हैं। ये लच्छेदार संस्कृत गद्य में हैं।

मठाध्यक्षों को उपदेश

आचार्य ने केवल मठों की स्थापना करके ही अपने कर्तव्य की इतिश्री नहीं कर दी बल्कि इन मठाध्यक्षों के लिये ऐसी व्यावहारिक सुव्यवस्था भी बाँध दी जिसके अनुसार चलने से उनके महान् धार्मिक उपदेश की सर्वांशतः पूर्ति होती है। आचार्य के ये उपदेश महानुशासन के नाम से प्रसिद्ध हैं। आचार्य का यह कठोर नियम था कि मठ के अधीश्वर लोग अपने राष्ट्र की प्रतिष्ठा के लिये तथा धर्म के प्रचार करने के लिये अपने निर्दिष्ट प्रान्तों में सदा भ्रमण किया करें। उन्हें अपने मठ में नियमित रूप से निवास नहीं करना चाहिये। उन्हें अपने-अपने देशों में आचार्य प्रतिपादित वर्णाश्रम धर्म तथा सदाचार की रक्षा विधिपूर्वक करनी चाहिये। आलस्य करने से धर्म नष्ट हो जाने का डर सदा बना रहता है। इसलिये उत्साहित होकर धर्म की रक्षा में लगना प्रत्येक मठ के आचार्य का पवित्र कर्तव्य है। एक मठ के अध्यक्ष को दूसरे मठ के अध्यक्ष के विभाग में प्रवेश न करना चाहिये। सब आचार्यों को मिलकर भारतवर्ष में एक महती धार्मिक सुव्यवस्था बनाये रखनी चाहिये जिससे वैदिक धर्म अक्षुण्ण रूप से प्रगति-शील बना रहे। मठ के अधीश्वरों के लिये आचार्य का यही उपदेश है।

जो कोई भी व्यक्ति आचार्य के पद पर प्रतिष्ठित नहीं हो सकता। इस पद

के लिये अनेक सद्गुणों की नितान्त आवश्यकता है। पवित्र, जितेन्द्रिय, वेद-, वेदाङ्ग में विशारद, योग का ज्ञाता, सकल शास्त्रों में निष्णात परिण्डत ही इन मठों की गद्दी पर बैठने का अधिकारी है। यदि मठाध्यक्ष इन सद्गुणों से युक्त न हो, तो विद्वानों को चाहिये कि उसका निग्रह करें, चाहे वह अपने पद पर भले ही आरूढ़ हो गया हो। अर्थात् गुणहीन व्यक्ति के मठाधीश बन जाने पर भी उसे मठ की गद्दी से उतार देना ही शङ्कराचार्य की आज्ञा है :—

उक्तलक्षणसम्पन्नः स्याच्चेत् मत्पीठभाग्भवेत् ।
अन्यथा रूढपीठोऽपि, निग्रहार्हो मनीषिणाम् ॥

इस नियम के बनाने में आचार्य का कितना व्यवहार-ज्ञान छिपा हुआ है, परिण्डतों के सामने इसे प्रकट करने की आवश्यकता नहीं। विद्वान् लोग ही धर्म के नियन्ता होते हैं, अतः आचार्य ने मठाध्यक्षों के चरित्र की देख-रेख इस देश के प्रौढ़ विद्वानों के ऊपर ही रख छोड़ी है। इस विषय में विद्वानों का बड़ा कर्तव्य है। गुणहीन संन्यासी धर्म की कथमपि सुव्यवस्था नहीं कर सकता। इसी कारण शङ्कराचार्य ने उसे पद से च्युत करने का अधिकार विद्वानों को दे दिया है। आचार्य ने इन अध्यक्षों को धर्म के उद्देश्य से राजसी ठाट-बाट से रहने का उपदेश दिया है परन्तु इसमें स्वार्थ की बुद्धि प्रबल न होकर उपकार बुद्धि ही मुख्य होनी चाहिये। पीठों के अध्यक्षों को तो स्वयं पद्मपत्र की तरह जगत् के व्यापारों से निर्लिप्त रहना चाहिये। उनका जीवन ही वर्णाश्रम धर्म की प्रतिष्ठा के लिये है। उन्हें तन-मन-धन लगा कर इस कार्य के सम्पादन के लिये प्रयत्नशील बनना चाहिये। यदि वे ऐसा करने में समर्थ नहीं हैं तो उस महत्त्वपूर्ण पद के अधिकारी वे कभी भी नहीं हो सकते जिसकी स्थापना स्वयं आचार्य-चरणों ने वैदिक धर्म के अभ्युदय के लिये अपने हाथ से की थी।

आचार्य के ये उपदेश कितने उदात्त, कितने उदार तथा कितने उपादेय हैं! इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि आचार्य का व्यवहारज्ञान, शास्त्रज्ञान की अपेक्षा कथमपि घटकर नहीं था। यह महानुशासन आर्य धर्म के लिये सचमुच महान् अनुशासन है। यदि आजकल मठाधीश्वर लोग इसके अनुसार चलने का प्रयत्न करते तो हमें पूरा विश्वास है कि विदेशी सभ्यता के सम्पर्क में आकर भारतीयों के हृदय में अपने धर्म के प्रति, अपने धर्मग्रंथों के प्रति, अपने देवी-देवताओं के प्रति और अपनी सभ्यता तथा संस्कृति के प्रति जो अनादर का भाव धीरे-धीरे घर करता जा रहा है, वह न जाने कब का नष्ट हो गया होता और भारतीय जनता निःश्रेयस तथा अभ्युदय की सिद्धि करने वाले वैदिक धर्म की साधना में कब से जी जान से लग गयी होती।

शङ्कराचार्य द्वारा उपदिष्ट 'महानुशासन' इस प्रकार की उनकी धर्म-प्रतिष्ठा की भावना को समझने में नितान्त उपादेय है। परन्तु मुझे दुःख है कि इस अनुशासन का मूल संस्कृत रूप साधारणतया अधूरा ही उपलब्ध होता है। अनेक हस्तलिखित प्रतियों को मिलाकर यहाँ उसके असली मूलरूप को पूर्णतः खोज निकाला गया है। अतः पाठकों की सुविधा के लिये यह महानुशासन यहाँ दिया जाता है:—

महानुशासनम्

आम्नायाः कथिता ह्येते यतीनाञ्च पृथक् पृथक् ।
ते सर्वे चतुराचार्याः नियोगेन यथाक्रमम् ॥१॥
प्रयोक्तव्याः स्वधर्मेषु शासनीयास्ततोऽन्यथा ।
कुर्वन्तु एव सततमटनं धरणी तले ॥२॥
विरुद्धाचारणप्राप्तावाचार्याणां समाज्ञया ।
लोकान् संशीलयन्त्वेव स्वधर्माप्रतिरोधतः ॥३॥
स्वस्वराष्ट्रप्रतिष्ठित्यै संचारः सुविधीयताम् ।
मठे तु नियतो वास आचार्यस्य न युज्यते ॥४॥
वर्णाश्रमसदाचारा अस्माभिर्ये प्रसाधिताः ।
रक्षणीयास्तु एवैते स्वे स्वे भागे यथाविधि ॥५॥
यतो विनष्टिर्महती धर्मस्यात्र प्रजायते ।
मान्द्यं संत्याज्यमेवात्र दाक्ष्यमेव समाश्रयेत् ॥६॥
परस्परविभागे तु प्रवेशो न कदाचन ।
परस्परेण कर्त्तव्या आचार्येण व्यवस्थितिः ॥७॥
मर्यादाया विनाशेन लुप्येरन्नियमाः शुभाः ।
कलहाङ्गारसम्पत्तिरतस्तां परिवर्जयेत् ॥८॥
परिव्राड् चार्यमर्यादां मामकीनां यथाविधि ।
चतुः पीठाधिगां सत्तां प्रयुञ्ज्याच्च पृथक् पृथक् ॥९॥
शुचिर्जितेन्द्रियो वेदवेदाङ्गादिविशारदः ।
योगज्ञः सर्वशास्त्राणां स मदास्थानमाप्नुयात् ॥१०॥
उक्तलक्षणसम्पन्नः स्याच्चेन्मत्पीठभाग् भवेत् ।
अन्यथा रूढपीठोऽपि निग्रहार्हो मनीषिणाम् ॥११॥
न जातु मठमुच्छिन्द्यादधिकारिण्युपस्थिते ।
विघ्नानामपि बाहुल्यादेष धर्म्मः सनातनः ॥१२॥
अस्मत्पीठसमारूढः परिव्राडुक्तलक्षणः ।
अहमेवेति विज्ञेयो यस्य देव इति श्रुतेः ॥१३॥

एक एवाभिषेच्यः स्यादन्ते लक्षणसम्मतः ।
तत्तत्पीठे क्रमेणैव न बहु युज्यते क्वचित् ॥१४॥
सुधन्वनः समौत्सुक्यनिवृत्यै धर्म्महेतवे ।
देवराजोपचारांश्च यथावदनुपालयेत् ॥१५॥
केवलं धर्म्ममुद्दिश्य विभवो ब्रह्मचेतसाम् ।
विहितश्चोपकाराय पद्मपत्रनयं व्रजेत् ॥१६॥
सुधन्वा हि महाराजस्तदन्ये च नरेश्वराः ।
धर्म्मपारम्परीमेतां पालयन्तु निरन्तरम् ॥१७॥
चातुर्वर्ण्यं यथायोग्यं वाङ्मनः कायकर्मभिः ।
गुरोः पीठं समर्चेत विभागानुक्रमेण वै ॥१८॥
धरामालम्ब्य राजानः प्रजाभ्यः करभागिनः ।
कृताधिकाराः आचार्या धर्मतस्तद्वदेव हि ॥१६॥
धर्मो मूलं मनुष्याणां, स चाचार्यावलम्बनः ।
तस्मादाचार्यसुमणेः, शासनं सर्वतोऽधिकम् ॥२०॥
तस्मात् सर्वप्रयत्नेन शासनं सर्वसम्मतम् ।
आचार्यस्य विशेषेण ह्यौदार्यभरभागिनः ॥२१॥
आचार्याक्षिप्तदण्डास्तु कृत्वा पापानि मानवाः ।
निर्म्मला स्वर्गमायान्ति, सन्तः सुकृतिनो यथा ॥२२॥
इत्येवं मनुरप्याह गौतमोऽपि विशेषतः ।
विशिष्टशिष्टाचारोऽपि, मूलादेव प्रसिद्ध्यति ॥२३॥
तानाचार्य्योपदेशाँश्च राजदण्डाँश्च पालयेत् ।
तस्मादाचार्यराजानावनवद्यौ न निन्दयेत् ॥२४॥
धर्म्मस्य पद्धतिर्ह्येषा जगतः स्थितिहेतवे ।
सर्वं वर्णाश्रमाणां हि यथाशास्त्रं विधीयते ॥२५॥
कृते विश्वगुरुर्ब्रह्मा त्रेतायामृषिसत्तमः ।
द्वापरे व्यास एव स्यात् कलावत्र भवाम्यहम् ॥२६॥

॥ इति महानुशासनम् ॥

दशनामी सम्प्रदाय

दशनामी संन्यासी सम्प्रदाय भी आचार्य शङ्कर के साथ सम्बद्ध है। आदि सम्प्रदाय का प्रभुत्व भारतवर्ष के हर एक प्रान्त में व्यापक रूप से दीख पड़ता है। इस सम्प्रदाय के महन्थों के हाथ में अतुल सम्पत्ति है जिसका उपयोग लोकोपकार के कार्यों में भी होता है। जिस उद्देश्य से इस सम्प्रदाय की स्थापना

की गई, उस महान् उद्देश्य की पूर्ति तभी हो सकती है जब उसके सञ्चित धन का उपयोग लोककल्याण के कार्यों में विशेष रूप से किया जाय।

दशनामी शब्द का अर्थ है दश नाम को धारण करने वाला। ये दशनाम निम्नलिखित हैं :—(१) तीर्थ (२) आश्रम (३) वन (४) अरण्य (५) गिरि (६) पर्वत (७) सागर (८) सरस्वती (९) भारती (१०) पुरी। इन उपाधियों के रहस्य का परिचय आचार्य के मठाम्नाय से भली-भाँति चलता है। इन पदवियों की कल्पना भौतिक न होकर आध्यात्मिक है।

(१) तत्त्वमसि आदि महावाक्यों का प्रतीक त्रिवेणी संगम है। उस संगम रूपी तीर्थ में जो व्यक्ति तत्त्वार्थ जानने की इच्छा से स्नान करता है वह 'तीर्थ'[1] के नाम से अभिहित होता है।

(२) जिस पुरुष के हृदय से आशा, ममता, मोह आदि बन्धनों का सर्वथा नाश हो गया है, आश्रम के नियम धारण करने में जो दृढ़ है तथा आवागमन से सर्वथा विरहित है, उसकी संज्ञा 'आश्रम'[2] है।

(३) जो मनुष्य सुन्दर, शान्त, निर्जन वन में निवास करता है तथा जगत् के बन्धनों से सर्वदा निर्मुक्त रहता है, उसका नाम है 'वन'[3]।

(४) जो इस विश्व को छोड़कर जंगल में निवास करता हुआ नन्दन वन में रहने के आनन्द को सदा भोगा करता है उसे 'आरण्य'[4] नाम से पुकारते हैं।

(५) जो गीता के अभ्यास करने में तत्पर हो, ऊँचे पहाड़ों के शिखरों पर निवास करता हो, गम्भीर निश्चित बुद्धि वाला हो, उसे 'गिरि'[5] कहते हैं।

(६) समाधि में लगा हुआ जो व्यक्ति पहाड़ों के मूल में निवास करे, जगत् के सार और असार से भलीभाँति परिचित हो, वह 'पर्वत'[6] कहलाता है।

---

[1] त्रिवेणीसंगमे तीर्थे तत्त्वमस्यादिलक्षणे।
स्नायात् तत्त्वार्थभावेन तीर्थनामा स उच्यते॥

[2] आश्रमग्रहणे प्रौढः आशापाशविवर्जितः।
यातायातविनिर्मुक्त एतदाश्रमलक्षणम्॥

[3] सुरम्यनिर्जने देशे वासं नित्यं करोति यः।
आशापाशविनिर्मुक्तो वननामा स उच्यते॥

[4] आरण्ये संस्थितो नित्यमानन्दं नन्दने वने।
त्यक्त्वा सर्वमिदं विश्वमारण्यं लक्षणं किल॥

[5] वासो गिरिवरे नित्यं गीताभ्यासे हि तत्परः।
गम्भीराचलबुद्धिश्च गिरिनामा स उच्यते॥

[6] वसेत्पर्वतमूलेषु प्रौढो यो ध्यानतत्परः।
सारासारं विजानाति पर्वतः परिकीर्तितः॥

(७) गम्भीर समुद्र के पास रहने वाला जो व्यक्ति अध्यात्मशास्त्र के उपदेशरूपी रत्नों को ग्रहण करे तथा अपने आश्रम की मर्यादा का कथमपि उल्लंघन न करे, उसे समुद्र के समान होने से 'सागर'[1] कहते हैं।

(८) स्वर (श्वास) का ज्ञान रखने वाला जो पण्डित वेद के स्वरों से भलीभाँति परिचित हो तथा संसाररूपी सागर के रत्नों का पारखी हो, उसकी पदवी 'सरस्वती'[2] होती है।

(९) भार धारण करने के कारण 'भारती' संज्ञा मिलती है। जो व्यक्ति विद्या के भार से सम्पूर्ण है और जगत् के सब भारों को छोड़ दे तथा दुःख के भार को न जानता हो, वह 'भारती'[3] उपाधि से मण्डित होता है।

(१०) पुरी वही है जो पूर्ण हो--तत्त्वज्ञान से पूर्ण हो, पूर्णपद में स्थित हो, परब्रह्म में विरत हो—इतनी जिसकी योग्यता हो वह 'पुरी' की पदवी का अधिकारी है[4]।

इन नामों की यह व्याख्या स्वयं आचार्यकृत है। इससे स्पष्ट है कि यह उन्हीं लोगों के लिये प्रयोग किया जाता था जिनमें इन पदवियों के धारण करने की योग्यता प्रचुर मात्रा में थी। यही तो इसका वास्तविक रूप आरम्भिक काल में था। परन्तु जब इन नामों से सम्प्रदाय चल निकले, तो अब जो कोई व्यक्ति तत्तत् सम्प्रदाय के अन्तर्गत प्रवेश करता है वही उस नाम से पुकारा जाता है। गुणदोष का विचार कौन करे।

दशनामी सम्प्रदाय की उत्पत्ति कब हुई, यह एक बड़ी विषम समस्या है। विशेष अन्वेषण करने पर भी यह समस्या अभी तक हल नहीं हुई है। सम्प्रदाय में

उत्पत्ति

बहुत-सी दन्तकथाएँ सुनी जाती हैं जिनका तारतम्य ऐतिहासिक दृष्टि से विवेचनीय है। एक बात और भी है। दशनामी लोग तो अपना सम्बन्ध साक्षात् रूप से आचार्य के साथ ही स्थापित करते हैं परन्तु दण्डीसंन्यासी सम्प्रदाय इस बात को पूर्ण रूप से मानने के लिये तैयार नहीं हैं। दण्डियों की दृष्टि में दशनामियों का स्थान कुछ घट कर है। इनकी

---

[1] वसेत्सागरगम्भीरे धनरत्नपरिग्रहः।
मर्यादाश्चानलङ्घ्येन सागरः परिकीर्तितः॥

[2] स्वरज्ञानवशो नित्यं स्वरवादी कवीश्वरः।
संसारसागरे साराभिज्ञो य स सरस्वती॥

[3] विद्याभारेण सम्पूर्णः सर्वभारं परित्यजेत्।
दुःखभारं न जानाति भारती परिकीर्तितः॥

[4] ज्ञानतत्वेन सम्पूर्णः पूर्णतत्वे पदे स्थितः।
परब्रह्मरतो नित्यं पुरीनामा स उच्यते॥—मठाम्नाय

उत्पत्ति के विषय में यह कथानक प्रचलित है कि शङ्कराचार्य अपने चार पट्टशिष्य तथा अन्यशिष्यों के साथ किसी यात्रा में चले जा रहे थे। रास्ते में एक सुन्दर बगीचा मिला जहाँ पेड़ों से ताड़ी चुआकर रक्खी हुई थी। शिष्यों को प्यासा जानकर उन्होंने उसे पीने की आज्ञा दी। शिष्यों ने भरपेट पिया। आगे बढ़ने पर एक स्थान पर ताँबा गलाया जा रहा था। उन्होंने शिष्यों को आज्ञा दी कि ताँबा को पी डालो। प्रभावशाली चार शिष्यों ने तो गले हुए जलते ताँबे को पी डाला पर अन्य शिष्य भाग खड़े हुए। उसी समय आचार्य ने आज्ञा उल्लङ्घन करने के कारण इन शिष्यों को पट्टशिष्यों की अपेक्षा हेय कोटि में परिगणित किया। दशनामी संन्यासियों की उत्पत्ति इन्हीं इतरशिष्यों से है। पता नहीं इस किंवदन्ती में सत्य की कितनी मात्रा है; परन्तु यह सर्वत्र व्यापक तथा बहुलीभूत[1] है।

इस सम्प्रदाय की उत्पत्ति जब हुई हो और जैसे हुई हो, पर इतना तो निश्चित है कि इसके स्थापित होने का उद्देश्य नितान्त महान् और उच्च है। इस भव्य भारत भूमि में वैदिक धर्म को बनाए रखना, विरोधी आततायी यवनों से सनातनधर्मावलम्बी जनता की रक्षा करना, वैदिकधर्म का प्रचार तथा प्रसार—इस संस्था के उदय के भीतर प्रधान उद्देश्य प्रतीत होता है। दशनामी सम्प्रदाय के संन्यासियों ने इस महान् उद्देश्य की पूर्ति के लिये अश्रान्त परिश्रम किया है और आज भी कर रहे हैं। मध्यकाल में विदेशियों से अपने धर्म की रक्षा करने के लिए इन्होंने हथियार भी धारण किया। राजपूताना तथा मध्यप्रदेश के अनेक संन्यासी संस्थाओं का परिचय हमें मिलता है जिसके अध्यक्ष गोसाँईं कहलाते थे, और ये प्रभूत भूमि के अधिपति थे तथा इन्होंने अपनी एक खास हथियारबन्द सेना भी तैयार कर रक्खी थी। ऐसे राजाओं का परिचय हमें गुप्त-काल के इतिहास में भी मिलता है जहाँ ये लोग 'परिब्राजक राजा' के नाम से विख्यात हैं। इनके अनेक शिलालेख भी मिलते हैं जिनमें परिब्राजक महाराज के शिलालेख विशेष महत्व के हैं। मध्ययुग में इनकी प्रभुता विशेष बढ़ गई थी। हिम्मतबहादुर 'गिरि' ऐसे ही एक लड़ाकू सरदार थे जिनके युद्धों का वर्णन महाकवि पद्माकर ने 'हिम्मतबहादुर विरुदावली' में बड़े ओज भरे छन्दों में किया है। ऐसी संस्थाएं राजाओं को भी अवसर आने पर शत्रुओं से रक्षा करने के लिये अस्त्र-शस्त्र की सहायता देती थी, स्वयं उनकी ओर से शत्रुओं को लड़कर परास्त करती थीं[2]। मारवाड़, विशेषत:

गोसाँइयों का इतिहास

[1] लेखक से यह किंवदन्ती, द्वारकापीठ के शङ्कराचार्य श्री राजराजेश्वराश्रम ने स्वयं अपने मुँह से कही थी।

[2] द्रष्टव्य—गोस्वामी पृथ्वीगीर हरिगीर लिखित (गोसावी व त्यांचा सम्प्रदाय' मराठी ग्रन्थ) भाग २, पृष्ठ २२९—२३४

जयपुर में इनका प्रभुत्व रहा है और किसी मात्रा में अब भी है। शस्त्रधारी नागा लोग इसी सम्प्रदाय के अन्तर्गत हैं।

दशनामी सम्प्रदाय के अखाड़ों में ५२ मढ़ी बतलाई जाती हैं[1]। और मुख्यतः पाँच या छः अखाड़े हैं। प्रसिद्ध अखाड़ों के नाम इस प्रकार हैं—(१) पञ्चायती अखाड़ा महानिर्वाणी, मुख्य स्थान प्रयाग (कपिलदेव की मुख्य उपासना), (२) पञ्चायती अखाड़ा निरञ्जनी, सदर मुकाम प्रयाग (स्वामी कार्तिकेय की उपासना), (३) अखाड़ा अटल (श्रीगणेश की उपासना), (४) भैरव (भैरव जी की उपासना)—इस अखाड़े का प्रसिद्ध नाम 'जूना' है, (५) अखाड़ा आनन्द (दत्तात्रेय की उपासना), (६) अखाड़ा अग्नि (अग्निदेव की उपासना), (७) अखाड़ा अमान—इस अखाड़े में बड़े शूरवीर हो गए हैं जिन्होंने लखनऊ के नवाब से सम्मान पाया था।

अखाड़े

इनमें अनूप गिरि, उमराव गिरि, हिम्मतबहादुर गिरि आदि मुख्य हैं। इन बड़े-बड़े सात अखाड़ों में अटल अखाड़ा (नं० ३) सबसे प्राचीन है। बादशाही जमाने में इनके साथ तीन लक्ष 'मूर्त्ति' रहते थे। बाण विद्या के जानने में ये बड़े योग्य थे। यह अखाड़ा बड़ा ही शूरवीर था और अधिकतर जोधपुर की तरफ रहता था। जिस समय मुसलमान जोधपुर पर चढ़ाई कर राजा से कर वसूल करने आये थे, उस समय यह अखाड़ा यहाँ पहुँचा और मुसलमानी सेना को छिन्न-भिन्न कर दिया। इस समय केवल 'निर्वाणी' और 'निरञ्जनी' सबसे प्रसिद्ध हैं। इन अखाड़ों के विशेष नियम हैं। ये अखाड़े व्यवस्थित संस्थाएँ हैं जिनकी शाखाएँ अन्य प्रान्तों में भी फैली हैं और जिनमें प्रवेश करने वाले साधुओं को विशिष्ट नियमों का पालन करना पड़ता है।

इन अखाड़ों के पास बड़ी भारी सम्पत्ति है। क्या ही अच्छा होता कि इसका सदुपयोग देश तथा धर्म के कल्याणकारी कार्यों में किया जाता। इन अखाड़ों के महन्थों में योग्यता की कमी नहीं है। प्रयाग तथा हरिद्वार के कुम्भ स्नान के अवसर पर इनका अच्छा जमाव होता है। किसी भी विवेकी पुरुष को यह जानते देर न लगेगी कि इन संन्यासियों के भीतर राष्ट्र तथा धर्म के मंगल की बड़ी भारी शक्ति छिपी हुई है। उचित मार्ग पर लगाने से इससे हमारा बड़ा उपकार होगा, इसमें किसी प्रकार का सन्देह नहीं है। दशनामियों के मण्डलेश्वर लोग बड़े विद्वान्, सदाचारी, नैष्ठिक तथा आत्मवेत्ता होते आए हैं और किसी मात्रा में आज भी हैं। संन्यासियों की ये व्यापक संस्थाएँ आचार्य शङ्कर की दूरदर्शिता को भली-भाँति सूचित करती है।

---

[1] **इन अखाड़ों की विशेष जानकारी के लिये देखिए, 'गोसावीं व त्यांचा सम्प्रदाय' भाग २ पृष्ठ ३०४—३२७।**

श्रीमुख और श्रीमुद्राएँ

ॐ

१. पटुपटहभेरीकालभाङ्गालकटकनिस्साण-
वीणावेणुमृदङ्गादिसकलवाद्यविनोद ।
निखिलवाद्यघोषश्रवणकान्तिशीकविमतवृन्द-
कोलाहल ।। पराक् स्वामिन् ।।

२. जयगोविन्द भगवत्पादपादाब्जषट्पद
जयजीवपराभेदवावदूकजगद्गुरो ।
जयभो बौद्धपाषण्डविध्वंसनविचक्षण
जयवेदान्तसिद्धान्तसिद्धाञ्जन महामते ।। पराक् स्वामिन् ।।

३. नित्यान्नदानलसमानघनापदान-
गानावदानभृशविस्मयमानलोक ।
भक्तिप्रकर्षपरिपूजितचन्द्रचूड-
कारुण्यलब्धनिखिलाभिमतार्थसिद्धे ।। पराक् स्वामिन् ।।

४. प्रस्थानतूर्यपटहानकशङ्खभेरी-
भंभंनिनादबधिरीकृतदिक्तटीक ।

अभ्यर्णदेशविनमन्नखिलावनीन्द्र-
मूर्धन्यरत्नरुचिरञ्जितमञ्जुलाङ्घ्रे ॥ पराक् स्वामिन् ॥

५. कुंभीसंभवडिम्भजृम्भणदृढाहंभावमम्भोनिधे
गर्भीर्यं कुलकुंभिनीधरधृतिं जंभारिसंभावनाम् ।
अंभोदोद्भटनादमप्यपहसन् वंभ्रम्यते संभ्रमात्
भं भं भं भमितीड्यशंकरगुरोर्जैत्राङ्क शंखध्वनिः ॥ पराक् स्वामिन् ॥

६. काञ्चीपुराभरणकामदकामकोटि-
पीठाभिषिक्तवरदेशिकसार्वभौम ।
सर्वज्ञशक्त्यधिगताखिलमन्त्रतन्त्र-
चक्रप्रतिष्ठितविजृंभितचातुरीक ॥ पराक् स्वामिन् ॥

७. स्वस्तिश्रीभुवनत्रयार्चितपदाम्भोजाततादृङ्महा-
तत्त्वज्ञाननिदानशंकरगुरोश्छात्रक्रमाधिष्ठिते ।
काञ्चीमध्यगशारदामठमुधीसिंहासने षण्मता-
चार्याराधितपादुको विजयते विश्वाधिकोऽस्मद्गुरुः ॥ पराक् स्वामिन् ॥

८. अत्रैवर्गिकसंप्रदायपदवीसाम्राज्यसिंहासने
स्वैरारोहणकर्मजांघिकगुणग्रामाभिरामात्मने ।
वाणीकर्णवतंसहल्लकदलद्रोणीमिलद्वासना-
तत्त्वव्यञ्जकवाङ्मुखाय भगवत्पादाय मोदामहे ॥ पराक् स्वामिन् ॥

कूडलि (वर्तुलार्द्धाङ्गुलद्वय समुद्रा)

श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यवर्यपदवाक्यप्रमाणपारावारपारीण यम नियमासनप्राणायामप्रत्याहारध्यानधारणसमाध्यष्टाङ्गयोगानुष्ठाननिष्ठागरिष्ठतपश्च-क्रवर्त्यनाद्यविच्छिन्नगुरुपरम्पराप्राप्तषड्दर्शनस्थापनाचार्य व्याख्यानसिंहासनाधीश्वर सकलवेदार्थप्रकाशक साङ्ख्यत्रयीप्रतिपालक सकलनिगमागमसारहृदयवैदिकमार्ग प्रवर्तक सर्वतन्त्रस्वतन्त्रादि राजाधानी विद्यानगर महा-राजधानी कर्नाटकसिंहासन प्रतिष्ठापनाचार्य श्रीमद्राजाधिराजगुरु भूमण्डलाचार्य तुङ्गभद्रातीरवासऋष्यश्रृङ्गपुर-वराधीश्वर श्रीश्रृङ्गेरी (कूडली) श्रीविद्याशङ्कर देवदेव्य श्रीपादपद्माराधकश्रृङ्गेरी श्रीनृसिंहभारती स्वामिकरकमलसञ्जात श्रृङ्गेरी श्रीशङ्करभारती स्वामिभिः ।।

आमनि पीठाधिपानाम्

(अर्धाङ्गुलद्वय सचतुरश्र मुद्रा) श्री विद्याशङ्कर
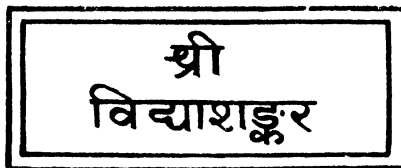
श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यवर्य पदवाक्यप्रमाणपारावारपारीण यमनियमा-

सनप्राणायामप्रत्याहारध्यानधारणसमाध्यष्टाङ्गयोगानुष्ठाननिष्ठागरिष्ठ तपश्चक्रवर्त्यना-द्यविच्छिन्नगुरुपरंपराप्राप्त षड्दर्शनस्थापनाचार्य व्याख्यानसिंहासनाधीश्वर सकल-वेदार्थप्रकाशक सांख्यत्रयीप्रतिपालक सकलनिगमागमसारहृदयवैदिकमार्गप्रवर्तक-सर्वतन्त्र स्वतन्त्रादि राजधानी विद्यानगर महाराजधानी कर्नाटक सिंहासनप्रतिष्ठापना-चार्य श्रीमद्राजाधिराज गुरुभूमण्डलाचार्य तुंगभद्रातीरवास ऋष्यशृङ्ग पुरवराधीश्वर श्री शृङ्गेरी श्रीविद्याशङ्करदेवदिव्यश्रीपादपद्माराधक श्री शृङ्गेरी श्रीविद्यारण्य भारती स्वामिनां करकमलसञ्जात श्री शृङ्गेरी श्रीमदभिनवोद्दण्ड विद्यारण्य भारती स्वामिभिः ।

करवीरमठाधिपानाम्

स्वस्ति श्रीमत्समस्तसुरवृन्दपूजितपादारविन्द शिवप्रतिबिंबवर्य श्रीमत्परमहंस परिव्राजकाचार्य पदवाक्यप्रमाणपारावारपारीणयमनियमासनप्राणायामप्रत्याहार-ध्यानधारणसमाध्यष्टाङ्गयोगानुष्ठाननिष्ठतपश्चक्रवर्त्यनाद्यविच्छिन्न गुरुपरम्पराप्राप्त-षड्दर्शनस्थापनाचार्य व्याख्यानसिंहासनाधीश्वर सकलनिगमागमसारहृदय सांख्यत्रयप्रतिपादकसकलनास्तिकमतोच्छेदपूर्वक सकलधर्मसंस्थापनैकधुरीण वैदिक-मार्गप्रवर्तक सर्वतन्त्र श्रीमहाराजधानी ऋष्यशृङ्गपुरवराधीश श्रीमद्राजाधिराज गुरु-मण्डलाचार्य श्रीमच्छङ्कराचार्यान्वय संजाताभिनव पञ्चगंगातीरवास कमलानिकेतन करवीरसिंहासनाधीश्वर श्री (सच्चिदानन्द) विद्यानृसिंह भारती करकमलकिञ्जल्को-द्भवश्रीमदभिनव (सच्चिदानन्द) विद्याशङ्कर भारती स्वामिभिः ॥

श्रीअलंपुरी श्रीविद्याशङ्कर

पुष्पगिरि श्रीमुखम्
श्री विद्याशङ्कर चन्द्रमौलीश्वर

श्री शृङ्गगिरि श्री विरूपाक्ष
श्री पुष्पगिरि श्री अलंपुरि
श्री विद्याशङ्कर करकमल सजात
श्री विद्या नृसिंह भारति
स्वामिनः

श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यवर्यपदवाक्यप्रमाणपारावारपारीणयमनियमासन-प्राणायामप्रत्याहारध्यानधारणसमाध्यष्टांगयोगानुष्टाननिष्ठागरिष्ठतपश्चक्रवर्त्यनाद्यविच्छिन्नगुरुपरंपराप्राप्तसंप्रदायषड्दर्शनस्थापनाचार्यव्याख्यानसिंहासनाधीश्वर सकल-वेदार्थप्रकाशकसांख्यत्रयीप्रतिपालक सकलनिगमागमसारहृदयवैदिकमार्गप्रवर्तकसर्व-तन्त्रस्वतन्त्रादि राजधानीविद्यानगरमहाराजधानी कर्णाटकसिंहासनप्रतिष्ठापनाचार्य-श्रीमद्राजाधिराजमहाराजगुरु भूमण्डलाचार्य तुंगभद्रातीरवासऋश्यशृंगगिरिविरूपाक्ष पुष्पगिरि पिनाकिनीतीरवास श्रीशैलश्रीअलंपुर्यादिसमस्तपीठाधीश्वरश्रीमदभिनवो-द्दण्डविद्यानृसिंहभारती गुरुपादपद्माराधक श्रीमदभिनवोद्दण्डविद्याशङ्करकरकमल-संजात श्रीमदभिनवोद्दण्ड विद्यानृसिंह भारतीस्वामिवारु ॥

विरूपाक्ष श्रीमुखम्
श्रीविद्याशङ्कर
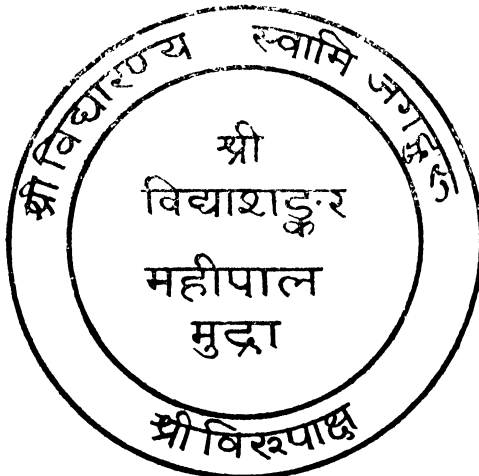
श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यवर्यपदवाक्यप्रमाणपारावारपारीणयमनियमासनप्रा-

णायामप्रत्याहारध्यानधारणसमाध्यष्टांगयोगानुष्ठाननिष्ठागरिष्ठतपश्चक्रवर्त्यनाद्यविच्छिन्न-गुरुपरंपराप्राप्तषड्दर्शनस्थापनाचार्यव्याख्यानसिंहासनाधीश्वरसकलवेदार्थप्रकाशकसांख्य-त्रयीप्रतिपालकसकलनिगमागमसारहृदयवैदिकमार्गप्रवर्तक सर्वतन्त्रस्वतन्त्रादि राज-धानीविद्यानगरमहाराजधानी कर्णाटकसिंहासनप्रतिष्ठापनाचार्य श्रीमद्राजाधिराजमहा-राजगुरुभूमण्डलाचार्य तुंगभद्रातीरवासऋष्यश्रृङ्गगिरिपुरवराधीश्वर श्रीश्रृङ्गगिरि श्रीविरूपाक्ष श्रीविद्याशङ्करदेवदिव्य श्रीपादपद्माराधकश्रीमदभिनवशङ्करभारती-स्वामिकरकमलसंजात श्रृंगेरी श्रीमदभिनवोद्दण्डनृसिंह भारती स्वामिभिः ॥

श्रृङ्गगिरि श्रीमुखम्

श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यवर्यपदवाक्यप्रमाणपारावारपारीणयमनियमासन-प्राणायामप्रत्याहारध्यानधारणसमाध्यष्टांगयोगानुष्ठाननिष्ठिततपश्चक्रवर्त्यनाद्यविच्छिन्न-गुरुपरंपराप्राप्तषड्दर्शनस्थापनाचार्यव्याख्यानसिंहासनाधीश्वर सकलनिगमागमसारहृदय-सांख्यत्रयीप्रतिपादकवैदिकमार्गप्रवर्तकसर्वतन्त्रस्वतन्त्रादि राजधानी विद्यानगर महाराजधानी कर्णाटकसिंहासनप्रतिष्ठापनाचार्यश्रीमद्राजाधिराजगुरु भूमण्डलाचार्य ऋश्यश्रृङ्गपुरवराधीश्वर तुंगभद्रातीरवास श्रीमद्विद्याशङ्करपादपद्माराधक श्रीमदभिनव-सच्चिदानन्दभारतीस्वामिकरकमलसंजातश्रीश्रृंगेरीश्रीनृसिंहभारती स्वामिभिः ॥

अथेदानीं सकलवैदिकलौकिकव्यवहारोपयोगितया
श्रीमत्सुरेश्वराचार्यप्रकल्पितं श्रीमच्छङ्करभगवत्पादाचार्य-
बिरुदाङ्कितं श्रीमुखं व्याख्यायते ॥

॥ श्रीमुखम् ॥

श्री चन्द्रमौलीश्वर

श्री
चन्द्रमौलीश्वराय नमः
श्रीमत्परमहंस परिव्राजका
चार्य श्री मच्छङ्कर भगवत्पाद
प्रतिष्ठित श्री कामकोटि पीठाधिप
श्री महादेवेन्द्र सरस्वती
संयमीन्द्रो विजयते
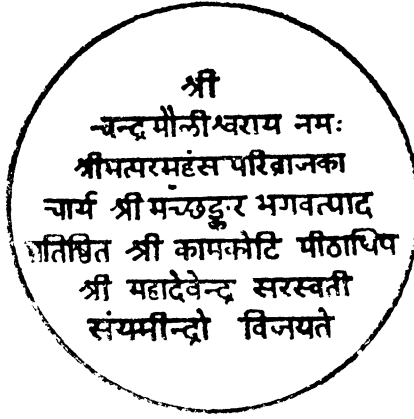
स्वस्ति श्रीमदखिलभूमण्डलालङ्कारत्रयस्त्रिंशत्कोटिदेवतासेवितश्रीकामाक्षीदेवी-सनाथश्रीमदेकाम्रनाथ श्रीमहादेवीसनाथश्रीहस्तिगिरिनाथसाक्षात्कारपरमाधिष्ठान सत्यव्रतनामाङ्कित काञ्चीदिव्यक्षेत्रे, शारदामठसुस्थितानां, अतुलितसुधारसमाधुर्यकमला-सनकामिनीधम्मिल्लसंफुल्लमल्लिकामालिकानिष्यन्दमकरन्दझरीसौवस्तिकवाङ्निगुंभविजृं-भणानन्दतुन्दिलितमनीषिमण्डलानां अनवरताद्वैतविद्याविनोदरसिकानां, निरन्तरा लंकृतीकृतशान्तिदान्तिभूम्नां, सकलभुवनचक्रप्रतिष्ठापकश्रीचक्रप्रतिष्ठाविख्यातयशोऽ-लंकृतानां, निखिलपाषण्डषण्डकण्टकोत्पाटनेन विशदीकृतवेदवेदान्तमार्गषण्मत-प्रतिष्ठापकाचार्याणां श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यवर्य श्रीमच्छङ्करभगवत्पादाचार्याणां अधिष्ठाने सिंहासनाभिषिक्तश्रीचन्द्रशेखरेन्द्रसरस्वतीसंयमीन्द्राणां अन्तेवासिवर्य ❀ श्रीमन्महादेवेन्द्रसरस्वतीश्रीपादैः ॥

❀ महादेवेति चन्द्रशेखरेति च तादात्विकाचार्याणां नामधेयम् ।

श्री मुद्राएँ

श्रृङ्गगिरि (श्रृङ्गेरी)

मठाधिपानाम् वर्तुलांगुलद्वयसनक्षरमुद्रा
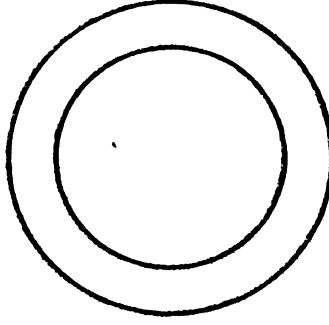
श्री काञ्ची कामकोटि पीठाधिपानाम्

चन्द्रमौलीश्वर
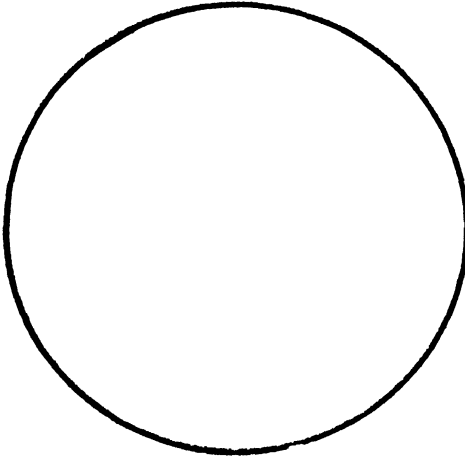
कूंडली (लगी) मठाधिपानाम्
श्रीविद्याशङ्कर
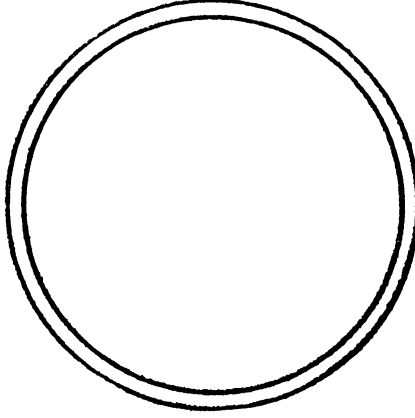
आमनिमठाधिपानाम्
श्री विद्याशङ्कर
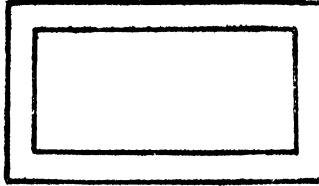
पुष्पगिरिमठाधिपानाम्
श्री विद्याशङ्कर
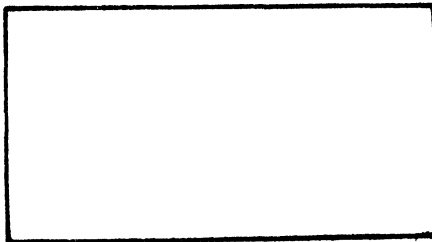
विरूपाक्षमठाधिपानाम्
श्री विद्याशङ्कर
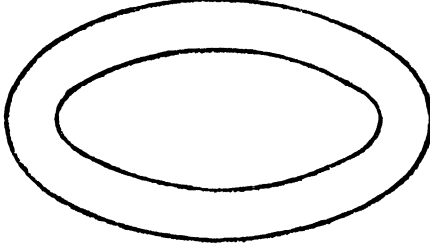
करवीरमठाधिपानाम्
विद्याशङ्कर भारती
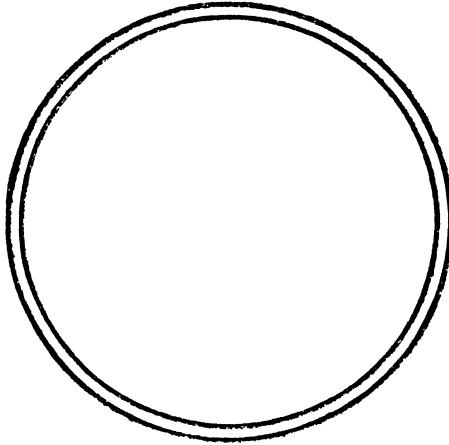
चतुर्थ खण्ड

उपदेश-खण्ड

(१) अद्वैत वेदान्त : इतिहास
(२) अद्वैतवाद : विवरण
(३) विशिष्ट-समीक्षा

सप्तदश परिच्छेद

अद्वैत वेदान्त का इतिहास

आचार्य शङ्कर अद्वैत वेदान्त के सबसे प्रौढ़ तथा प्रामाणिक व्याख्याता थे। यह वेदान्त भारतीय अध्यात्म शास्त्र का मुकुटमणि माना जाता है। भारतीय हिन्दू जनता का यही सर्वमान्य सिद्धान्त है। वेदान्त का मूल स्वयं उपनिषद् है। वेदान्त का मूल जानने के लिए उपनिषदों का अनुशीलन नितान्त आवश्यक है। वेदान्त 'वेद' और 'अन्त' इन दो शब्दों के योग से बना हुआ है। अतः इसका व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है 'वेद का अन्त'। अन्त शब्द का अर्थ है रहस्य या सिद्धान्त, अतः वेदान्त का अर्थ हुआ वेद का मन्तव्य, वेद का प्रतिपाद्य सिद्धान्त। इस अर्थ में वेदान्त शब्द का प्रयोग उपनिषदों में ही सबसे पहले उपलब्ध होता है। श्वेताश्वतर[1], मुण्डक[2] तथा महानारायण[3] उपनिषद् में इस शब्द का प्रयोग स्पष्ट रूप से उपलब्ध होता है। कालान्तर में उपनिषदों के सिद्धान्तों का समझना दुरूह होने लगा क्योंकि उनमें आपाततः अनेक विरोध दिखलाई पड़ने लगे। इन्हीं विरोधों के परिहार के लिए तथा एकवाक्यता लाने के लिए महर्षि बादरायण व्यास ने ब्रह्मसूत्रों की रचना की। यह ग्रन्थ तो केवल पाँच सौ पचपन सूत्रों का नितान्त स्वल्प कलेवर ग्रन्थ है परन्तु इसे वेदान्त का आकर-ग्रन्थ समझना चाहिए। आचार्य शङ्कर ने सबसे पहले इन्हीं सूत्रों पर अपना भाष्य लिखा और इसमें उन्होंने अपने सिद्धान्त की पूर्ण प्रतिष्ठा कर दी। आचार्य शङ्कर का यह कार्य इतना उपादेय प्रमाणित हुआ कि अवान्तर काल के अनेक आचार्यों ने अपने मतानुसार भाष्य-ग्रन्थों की रचना की। ये सूत्र-ग्रन्थ समय की दृष्टि से नितान्त प्राचीन हैं। ये सूत्र भिक्षुओं अर्थात् संन्यासियों के लिए उपादेय हैं इसलिए इन्हें भिक्षु-सूत्र भी कहते हैं। पाणिनि ने 'पाराशर्यशिलालिभ्यां भिक्षुनटसूत्रयोः' में पाराशर्य भिक्षु-सूत्रों का उल्लेख किया है। पाराशर्य का अर्थ है पराशर का पुत्र। ब्रह्मसूत्र भी पराशर के पुत्र बादरायण व्यास के द्वारा विरचित हैं, अतः अष्टाध्यायी में उल्लिखित भिक्षुसूत्र तथा प्रकृत ब्रह्मसूत्र की अभिन्नता मानना न्यायसंगत प्रतीत होता है। भगवद्गीता में भी १३।३ में ब्रह्मसूत्र का

---

[1] वेदान्ते परमं गुह्यम्—श्वेता ६।२२

[2] वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितार्थाः—मुण्डक ३।२।६

[3] वेदादौ स्वरः प्रोक्तो वेदान्ते च प्रतिष्ठित—महाना० १०।८

उल्लेख है[१] इस शब्द के समुचित अर्थ के विषय में टीकाकारों में पर्याप्त मतभेद है। श्रीधर स्वामी की सम्मति में गीता ब्रह्मसूत्रों का ही उल्लेख करती है। यदि यह बात सच हो तो ब्रह्मसूत्रों का समय विक्रम पूर्व षष्ठ शतक से उतर कर नहीं है। तर्कपाद में सर्वास्तिवाद और विज्ञानवाद के खण्डन अवश्य उपलब्ध होते हैं। परन्तु उससे पूर्वोक्त सिद्धान्त को तनिक भी हानि नहीं पहुँचती। क्योंकि भारतीय अध्यात्म शास्त्र के इतिहास में ये मत गौतमबुद्ध से भी प्राचीन हैं। परवर्ती काल में वसुबन्धु तथा असङ्ग के साथ इन मतों का घनिष्ठ सम्बन्ध अवश्य है परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि इन आचार्यों ने इन मतों की प्रथम उद्भावना की। ये तो केवल तर्कबहुल ग्रन्थ की रचना कर इन मतों के व्यवस्थापक मात्र थे।

ब्रह्मसूत्र

ब्रह्मसूत्र में चार अध्याय हैं और प्रत्येक अध्याय में चार पाद हैं। इस प्रकार यह ग्रन्थ बहुत ही स्वल्पकाय है परन्तु विषय प्रतिपादन के विचार से यह नितान्त महत्वपूर्ण है। अवान्तर काल के आचार्यों ने इसके ऊपर प्रामाणिक भाष्य लिखकर अपने मत की पुष्टि के लिए आधार खोज निकाला है। इन भाष्यकारों में निम्नलिखित विशिष्ट मत के स्थापक होने से नितान्त प्रसिद्ध हैं।

ब्रह्मसूत्र के प्रसिद्ध भाष्यकार

संख्या	नाम	भाष्यनाम	मत
१.	शङ्कर (७८८-८२०)	शारीरकभाष्य	निर्विशेषाद्वैत
२.	भास्कर (१०००)	भास्करभाष्य	भेदाभेद
३.	रामानुज (११५०)	श्रीभाष्य	विशिष्टाद्वैत
४.	मध्व (१२३८)	पूर्णप्रज्ञ	द्वैत
५.	निम्बार्क (१२५०)	वेदान्तपारिजात	द्वैताद्वैत
६.	श्री कण्ठ (१२७०)	शैवभाष्य	शैवविशिष्टाद्वैत
७.	श्रीपति (१४००)	श्रीकरभाष्य	शक्तिविशिष्टाद्वैत
८.	वल्लभ (१५००)	अणुभाष्य	शुद्धाद्वैत
९.	विज्ञानभिक्षु (१६००)	विज्ञानामृत	अविभागाद्वैत
१०.	बलदेव (१७२५)	गोविन्दभाष्य	अचिन्त्यभेदाभेद

इन भाष्यों में केवल सिद्धान्तों का ही अन्तर नहीं है बल्कि सूत्रों की संख्या तथा उनका रूप और अधिकरणों की संख्या में भी महान् अन्तर है। कोई सूत्र किसी भाष्यकार के मत से पूर्व पक्ष है तो दूसरे की सम्मति में वह उत्तरपक्ष (अर्थात् सिद्धान्त) है। सूत्रों की तथा अधिकरणों की संख्या शङ्कर के अनुसार क्रमशः

---

[१] ब्रह्मसूत्रपदैश्चैव हेतुमद्भिर्विनिश्चितैः—गीता १३।३

५५५, और १६१ है। रामानुज मत में ५४५ और १६० है, माध्व मत में ५६४ और २२३ है, निम्बार्कमत में ५४६ और १६१ है, श्रीकण्ठ के अनुसार ५४४ और १८२ तथा वल्लभ मत में ५५४ और १७१ है।

ब्रह्मसूत्र अल्पाक्षर होने के कारण बहुत ही दुरूह है। बिना किसी वृत्ति या भाष्य की सहायता से उनका अर्थ समझना असम्भव नहीं तो दुःसम्भव अवश्य है। ब्रह्मसूत्र के आध्यात्मिक सिद्धान्त कौन-कौन से हैं, इसका यथोचित उत्तर देना बहुत ही कठिन है। साम्प्रदायिक भाष्यकारों की व्याख्याएँ हमें इतनी उलझन में लगा देती हैं कि सूत्रकार का अपना मत जानना एक विषम समस्या सी प्रतीत होने लगती है। इस विषय की चर्चा करने के पहले ब्रह्मसूत्र के विषय का संक्षिप्त विवेचन आवश्यक है।

ब्रह्मसूत्र के प्रथम अध्याय का नाम 'समन्वयाध्याय' है जिसमें समग्र वेदान्त वाक्यों का तात्पर्य साक्षात् रूप से या परम्परा रूप से अद्वितीय ब्रह्म के प्रतिपादन में ही बताया गया है। इस अध्याय के प्रथम पाद में उन वाक्यों का विचार किया गया है जिनमें ब्रह्मद्योतक चिह्न स्पष्ट तथा वर्तमान हैं। आरम्भ के चार सूत्र सिद्धान्त की दृष्टि से महत्त्वशाली माने जाते हैं। इन्हीं का नाम 'चतुःसूत्री' है। द्वितीय पाद में उन वाक्यों का विवेचन है जो अस्पष्ट ब्रह्मलिंग से युक्त और उपास्य ब्रह्म के विषय में हैं। तृतीय पाद में प्रायः ज्ञेय-ब्रह्म-विषयक वाक्यों का विचार है। अन्तिम पाद में अज, अव्यक्त, आदि शब्दों के अर्थ का विवेचन है जिन्हें सांख्यवादी प्रधान के लिए प्रयुक्त बतलाते हैं।

दूसरे अध्याय का नाम है 'अविरोधाध्याय' जिसमें स्मृति और तर्क आदि के द्वारा सम्भावित विरोध का परिहार कर ब्रह्म की स्थिति के विषय में सब प्रकार से अविरोध दिखलाया गया है। इस अध्याय के प्रथम पाद का नाम है 'स्मृतिपाद' क्योंकि यहाँ सांख्य, योग आदि स्मृतियों के सिद्धान्तों का खण्डन किया गया है। दूसरे पाद का नाम है 'तर्कपाद' जिसमें सांख्य, वैशेषिक, जैन, सर्वास्तिवाद और विज्ञानवाद (बौद्ध), पाशुपत तथा पाञ्चरात्र[1] मतों का युक्तियों से क्रमशः खण्डन कर वेदान्त मत की प्रतिष्ठा की गयी है। ये दोनों पाद तर्कयुक्तियों की सूक्ष्मता, समर्थता तथा व्यापकता के कारण अत्यन्त प्रसिद्ध हैं। तीसरे पाद में दो विभाग हैं। पूर्व भाग में महाभूत की सृष्टि आदि के विषय में श्रुति में जो कहीं कहीं विरोध दिखलाई पड़ता है, उसका परिहार है। उत्तर भाग में जीव के

---

[1] यह कथन शाङ्कर भाष्य के अनुसार है। रामानुज के श्रीभाष्य के अनुसार सूत्रकार पांचरात्र का मण्डन ही करते हैं, खण्डन नहीं। इस विरोध का परिहार करना नितान्त कठिन है।

स्वरूप का वर्णन है। चौथे पाद का विषय है इन्द्रिय आदि के विषय में उपलब्ध होने वाली श्रुतियों के विरोध का परिहार। इस प्रकार इस अध्याय में तर्क की सहायता से विरोधियों के सिद्धान्तों का खण्डन कर यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया गया है कि उपनिषदों के द्वारा प्रतिपाद्य एकमात्र ब्रह्म ही है।

तीसरे अध्याय का नाम है 'साधनाध्याय' जिसमें वेदान्त के लिए उपयुक्त साधनमार्ग का विवेचन है। प्रथम पाद में जीव के परलोक-गमन का विचार कर वैराग्य का निरूपण किया गया है। दूसरे पाद में पहले तो त्वं पदार्थ का परिशोधन है और उसके अनन्तर तत् पदार्थ का। तीसरे पाद में सगुण ब्रह्म का प्रतिपादन कर समग्र विद्याओं का विशेष वर्णन है। चौथे पाद में निर्गुण ब्रह्म विद्या के वहिरङ्ग साधन—आश्रम धर्म, यज्ञदान आदि का तथा अन्तरङ्ग साधन—शम, दम, निदिध्यासन आदि का विस्तृत निरूपण किया गया है।

चौथे अध्याय का नाम है 'फलाध्याय'। इसमें सगुण विद्या और निर्गुण विद्या के विशिष्ट फलों का पृथक्-पृथक् निरूपण है। इस अध्याय के पहले पाद में श्रवण आदि की आवृत्ति से निर्गुण ब्रह्म की उपलब्धि कर अथवा उपासना की आवृत्ति से सगुण ब्रह्म का साक्षात्कार कर जीवित रहने वाले पुरुष की जीवन्मुक्ति का वर्णन है। दूसरे पाद में मरने वाले व्यक्ति के उत्क्रान्ति का वर्णन है। तीसरे पाद में सगुण ब्रह्मविद्या के वेत्ता पुरुष के मरने के अनन्तर होने वाली गति का प्रतिपादन है। अन्तिम पाद में निर्गुण ब्रह्म के ज्ञाता पुरुष के लिए विदेह मुक्ति तथा सगुण ब्रह्मवेता पुरुष के लिए ब्रह्मलोक में स्थिति का कथन है। ब्रह्मसूत्र के इस संक्षिप्त परिचय से हमें ब्रह्म के स्वरूप, उसकी प्राप्ति के साधन और फल का विशद वर्णन उपलब्ध होता है।

सूत्रकार बादरायण के सिद्धान्तों का निरूपण करना कठिन अवश्य है परन्तु भाष्यों की सहायता से उसका परिचय प्राप्त किया जा सकता है। यह कहना बहुत ही कठिन है कि परवर्ती काल के किस भाष्यकार ने सूत्रकार के मूल-सिद्धान्तों को अपनाया है। सच तो यह है कि साम्प्रदायिक भाष्यकारों की दृष्टि अपने विषय की ही ओर अधिक झुकने के कारण मूल अर्थ के स्वारस्य की रक्षा नहीं कर सकी। जीव आदि के विषय में बादरायण का मत यों प्रतीत होता है[1] :—

जीव—ब्रह्म की अपेक्षा जीवन परिमाण में अणु प्रतीत होता है। यह ब्रह्म के साथ बिल्कुल अभिन्न नहीं है, और साथ ही साथ उससे बिल्कुल भिन्न भी

---

[1] विशेष के लिए द्रष्टव्य - Ghate—The 'Vedant' pp. 179-184 (प्रकाशक, भाण्डारकर ओरियण्टल सीरीज, पूना) तथा स्वामी चिद्घनानन्दकृत ब्रह्मसूत्र-भाष्य-निर्णय (काशी)।

नहीं हैं। जीव ब्रह्म का अंश है। जीव चेतन स्वरूप है। यह ज्ञाता है अथवा ज्ञान को उसका धर्म कह सकते हैं। जीव क्रियाशील है। उसका यह कर्तृत्व ब्रह्म से ही आविर्भूत होता है।

ब्रह्म—ब्रह्म ही जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और लय का कारण है (ब्रह्मसूत्र १।१।२)। ब्रह्म चेतनरूप है तथा चेतन और अचेतन उभय प्रकार के पदार्थों का वही कारण है (२।१।४—११)। ब्रह्म जगत् का उपादान कारण है तथा साथ ही साथ निमित्त कारण भी है (१।४।२३)। ब्रह्म की उपासना करने से ज्ञान की प्राप्ति होती है और यही ज्ञान मुक्ति प्रदान करता है (३।४।५१ —५२)। ब्रह्म एक है, उसमें ऊँच नीच का किसी प्रकार का भेद नहीं।

कारण—कारण का ही परिणाम कार्य है। सूत्रकार परिणामवाद के पक्षपाती प्रतीत होते हैं विवर्तवाद के नहीं। 'आत्मवृत्तेः परिणामात्' (१।४।२६) में परिणाम शब्द का स्पष्ट निर्देश है। ब्रह्म-ज्ञान प्राप्त करने के लिए श्रुति ही हमारा प्रधान साधन है। ब्रह्म तर्क का विषय नहीं हो सकता। श्रुति के अनुकूल होने पर ही तर्क का आदर है। (२।१।११)।

(२)

आर्ष वेदान्त

आजकल प्राचीन वेदान्त का स्वरूप जानने के लिए केवल एक ही ग्रन्थ उपलब्ध है। यह ग्रन्थ बादरायण व्यास-रचित ब्रह्म-सूत्र है। इस ग्रन्थ के अनुशीलन से पता चलता है कि प्राचीन काल में अनेक ऋषियों ने वेदान्त के विषय में अपने सिद्धान्त का निर्धारण कर रखा था जिनका उल्लेख ब्रह्मसूत्र में किया गया है। सम्भवतः इन ऋषियों के द्वारा विरचित सूत्रग्रन्थ रहे होंगे। परन्तु ये ग्रन्थ कालकवलित होने से कहीं भी उपलब्ध नहीं हैं। बादरायण के द्वारा निर्देश किए जाने के कारण इतना तो स्पष्ट मालूम पड़ता है कि ये ऋषि लोग इस विषय में विशेष प्रभावशाली थे। इनमें से कई आचार्यों का नाम जैमिनि के सूत्रों में भी उपलब्ध होता है। इस प्राचीन सम्प्रदाय का संक्षिप्त परिचय यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है।

आत्रेय

इनका नाम ब्रह्मसूत्र में एक बार उल्लिखित हुआ[1] है। सूत्र का विषय उपासना के विषय में है। अङ्गाश्रित उपासना दोनों प्रकार से हो सकती है—यजमान के द्वारा तथा ऋत्विक् के द्वारा। अब संशय यह उत्पन्न होता है कि अङ्ग उपासना का फल किस व्यक्ति को प्राप्त होगा। इस विषय में आत्रेय की सम्मति

[1] स्वामिनः फलश्रुतेरित्यात्रेयः—ब्रह्मसूत्र ३।४।४

उद्धृत की गयी है कि यह फल स्वामी अर्थात् यजमान को ही प्राप्त होता है। मीमांसा सूत्र[1] में भी आत्रेय का नाम दो बार उल्लिखित हुआ है (४।३।१८), (६।१।२६)। महाभारत में भी निर्गुण ब्रह्म विद्या के उपदेशक रूप में एक आत्रेय का नाम पाया जाता है (१३।१३०।३) परन्तु ये आत्रेय ब्रह्मसूत्र में निर्दिष्ट आत्रेय से भिन्न हैं या अभिन्न, इसका निर्णय यथाविधि नहीं किया जा सकता।

आश्मरथ्य

ब्रह्मसूत्र में आश्मरथ्य का नाम दो बार आता है (ब्रह्मसूत्र १।२।२९, १।४।२०)—

(क) प्रसङ्ग 'प्रादेशमात्र' शब्द की व्याख्या के विषय में है। परमेश्वर को प्रादेशमात्र कहने से क्या अभिप्राय है, जब वह वस्तुतः विधि है। इस पर आश्मरथ्य का कहना है कि परमेश्वर वस्तुतः अनन्त होने पर भी भक्तों के अनुग्रह करने के लिए स्थान-विशेष में अपने को अभिव्यक्त किया करता है। उसकी उपलब्धि के स्थान हृदय आदि प्रदेश हैं। इन प्रदेशों में सीमित होने के कारण ही परमेश्वर वेद में 'प्रादेशमात्र' कहा गया है।

(ख) इनके मत में परमात्मा तथा विज्ञानात्मा में भेदाभेद सम्बन्ध है। 'आत्मनि विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवति' आदि श्रुतियों का भी तात्पर्य भेदाभेद के प्रतिपादन में ही है। ये इस प्रकार द्वैताद्वैत मत के सबसे प्राचीन आचार्य हैं। मीमांसादर्शन में भी इनका नाम एक बार आता है—(मीमांसादर्शन ६।५।१६)। रामानुज के भाष्यकार सुदर्शनाचार्य का कहना है कि इन्हीं आश्मरथ्य के भेदाभेद-बाद को पीछे आचार्य यादव-प्रकाश ने अङ्गीकार किया था तथा अन्य प्रमाणों से पुष्ट किया था[2]।

---

[1] फलमात्रेयो निर्देशात् अश्रुतौ ह्यनुमानं स्यात्—मीमांसादर्शन (४।३।१८); निर्देशाद्वा त्रयाणां स्यादग्न्याधेये ह्यसम्बन्धः क्रतुषु ब्राह्मणश्रुतिरित्यात्रेय :—(६।१।२६)।

[2] इनके मत के स्पष्टीकरण के लिए देखिए—भामती (१।४।२१) एतदुक्तं भवति-मविच्यन्तमभेदमुपादाय भेदकालेऽप्यभेद उक्तः। यदाहुः पाञ्चरात्रिकाः—

आमुक्तेर्भेद एव स्यात् जीवस्य च परस्य च।
मुक्तस्य तु न भेदोऽस्ति भेदहेतोरभावतः॥

आशय यह है कि मुक्ति होने तक जीव और ब्रह्म में भेद ही रहता है। अभेद तो मुक्तावस्था में रहता है क्योंकि उस समय भेद उत्पन्न करने वाले कारण ही नहीं रहते।

औडुलोमि

इनका नाम ब्रह्मसूत्र में तीन जगह आता है—(१।४।२१, ३।४।४५, ४।४।६)। ये भी भेदाभेदवादी हैं। यह भेदाभेद भिन्न अवस्थाओं के कारण ही उत्पन्न होता है। संसारी दशा में जीव ब्रह्म से नितान्त भिन्न है। देह, इन्द्रिय आदि के सम्पर्क होते ही जीव कलुषित हो जाता है परन्तु ज्ञान-ध्यान के उपयोग से जब उसका कालुष्य दूर हो जाता है, तब वह प्रसन्न होकर ब्रह्म के साथ एकत्व प्राप्त कर लेता है। अतः मुक्त अवस्था में अभेद है; परन्तु संसार दशा में भेद है।

अङ्गाश्रित उपासना के विषय में भी औडुलोमि की स्पष्ट सम्मति है कि यह ऋत्विक् का ही काम है, यजमान का नहीं। अतः फल भी ऋत्विक् को ही प्राप्त होता है। इसी प्रकार मुक्त पुरुष के विषय में इनका कहना है कि चैतन्यरूप से ही उसकी अभिव्यक्ति होती है, सर्वज्ञ तथा सर्वेश्वर रूप से उसकी अभिव्यक्ति नहीं होती। आत्मा को अवश्य ही अपहतपाप्मा (पापरहित) उस समय कहा गया है, पर इसका तात्पर्य पाप आदि के निराकरण में ही है। अभिव्यक्ति तो चैतन्य-मात्र से ही होती है।

कार्ष्णाजिनि

इनका नाम ब्रह्मसूत्र में एक ही बार आता है (ब्र० सू० ३।१।९)। पुनर्जन्म के विषय में इनकी सम्मति है कि अनुशयभूत कर्मों के द्वारा प्राणियों को नयी योनि प्राप्त हुआ करती है। 'अनुशय' से अभिप्राय उन कर्मों से हैं जो भोगे गये कर्मों के अतिरिक्त भी बचे रहते हैं। अतः इनकी दृष्टि में ये कर्म ही नयी योनि के कारण हैं, आचार या शील नहीं। शङ्कराचार्य ने इनके मत का उपन्यास बड़े ही सुन्दर ढंग में इस प्रकार किया है—"तस्मात्कर्मैव शीलोपलक्षितमनुशयभूतं योन्यापत्तौ कारणमिति कार्ष्णाजिनेर्मतम्। नहि कर्मणि सम्भवति शीलात् योन्यापत्तिर्युक्ता। नहि पद्भ्यां पलायितुं पारयमाणो जानुभ्यां रंहितुमर्हति"।

मीमांसा सूत्र में भी इनका नामोल्लेख उपलब्ध होता है—मीमांसा सूत्र (४।३।१७, ६।७।३५)।

काशकृत्स्न

ब्रह्मसूत्र (१।४।२१) में इनका नाम आता है। इनका कहना यह है कि परमात्मा ही जीवात्मा के रूप में 'अवस्थान' करता है। तेज, पृथ्वी आदि की सृष्टि जिस प्रकार ब्रह्म से होती है, उस प्रकार की सृष्टि जीव के लिए नहीं सुनी जाती। अतः जीव ब्रह्म का विकार नहीं है, प्रत्युत विकारविहीन ब्रह्म ही (अविकृत-ब्रह्म) सृष्टि काल में जीवरूप से स्थित होता है। आचार्य ने इस मत को

श्रुत्यनुसारी माना है, क्योंकि 'तत्त्वमसि' आदि महावाक्यों से इस मत की पुष्टि होती है[1]।

जैमिनि

बादरायण ने सबसे अधिक इन्हीं के मत का उल्लेख अपने ग्रन्थ में किया है। इनका नामनिर्देश ११ बार ब्रह्मसूत्र में किया गया मिलता है (१।२।२८, १।२।३१, १।३।३१, १।४।१८, ३।२।४०, ३।४।२, ३।४।१८,३।४।४०, ४।३।१२, ४।४।५, ४।४।११) अतः इसमें सन्देह नहीं कि ये जैमिनि कर्म-मीमांसा के सूत्रकार ही हैं। जैमिनि और बादरायण का परस्पर सम्बन्ध एक विशेष विचारणीय विषय है। बादरायण ने जैमिनि को उद्धृत किया है और जैमिनि ने बादरायण को[2]। इससे तो दोनों समसामयिक प्रतीत हो रहे हैं। प्राचीन सम्प्रदाय यह है कि जैमिनि व्यास के शिष्य थे। अतः शिष्य का गुरु के ग्रन्थ में तथा गुरु का शिष्य के ग्रन्थ में उद्धृत किया जाना कोई आश्चर्य की बात नहीं है।

बादरि

इनका नाम ब्रह्मसूत्र में चार बार आता है (ब्र० सू० १।२।३०, ३।१।११, ४।३।७, ४।४।१०)। मीमांसा सूत्रों में भी इनका नाम उपलब्ध है (३।१।३, ६।१।२७, ८।३।६, ९।२।३०)। इन सूत्रों के अध्ययन करने से इनके कतिपय विशिष्ट मतों का परिचय पर्याप्त रूप से मिलता है—

(क) उपनिषदों में सर्वव्यापक ईश्वर को 'प्रादेशमात्र' (प्रदेश, अर्थात् एक स्थान में रहने वाला) बतलाया गया है। इसकी व्याख्या आचार्यों ने भिन्न-भिन्न रूप से की है। आचार्य आश्मरथ्य तथा जैमिनि के विशिष्ट मतों के साथ बादरि के मत का उल्लेख ब्रह्मसूत्र में किया गया है। इनका मत था कि हृदय में अधिष्ठित होने वाले मन के द्वारा परमेश्वर का स्मरण किया जाता है। इसीलिए परमेश्वर को प्रादेशमात्र कहा गया है।

(ख) छान्दोग्य उपनिषद् में पुनर्जन्म के विषय में यह प्रसिद्ध श्रुति है— 'तद् य इह रमणीय चरणाः'। 'चरण' शब्द को लेकर आचार्यों में गहरा मतभेद है। इनके मत में सुकृत और दुष्कृत ही चरण शब्द के द्वारा लक्षित किये गये हैं। चरण का अर्थ है कर्म। अतः 'रमणीय चरणाः' का अर्थ हुआ शोभन काम

---

[1] काशकृत्स्नस्याचार्यस्य अविकृतः परमेश्वरो जीवो नान्य इति मतम्। तत्र काशकृत्स्नीयं मतं श्रुत्यनुसारीति गम्यते प्रतिपिपादयिषितार्थानुसारात् 'तत्त्वमसि' इत्यादिश्रुतिभ्यः। —शाङ्कर भाष्य १।४।२२

[2] मीमांसा सूत्र—१।१।५

करने वाले पुरुष और 'कपूय चरणाः' शब्द का अर्थ हुआ निन्दित काम करने वाले पुरुष।

(ग) छान्दोग्य उपनिषद् (४।१५।५) में यह वाक्य आता है 'स एनान् ब्रह्म गमयति'। यहाँ यह सन्देह उठता है कि ब्रह्म से अभिप्राय किससे है ? परब्रह्म से या कार्यब्रह्म से ? जैमिनि के मत से यह परब्रह्म ही है परन्तु बादरि ने इसका खण्डन कर इसे कार्यब्रह्म ही सिद्ध किया है। परब्रह्म तो सर्वव्यापक ठहरा, उसे गन्तव्यरूप कहने की क्या आवश्यकता ? 'कार्यब्रह्म' ही प्रदेश से युक्त है। अतः उसका गन्तव्य स्थान होना नितान्त उचित है।

(घ) मुक्त पुरुष के विषय में यह सन्देह किया जाता है कि उसे शरीर और इन्द्रियाँ होती हैं या नहीं ? जैमिनि मुक्त पुरुष में इन दोनों की सत्ता मानते हैं। परन्तु बादरि का कहना है कि उस अवस्था में मन की ही स्थिति रहती है, शरीर तथा इन्द्रियों की नहीं, क्योंकि छान्दोग्य (८।१२।५) में स्पष्ट ही इस बात का उल्लेख है।

(ङ) मीमांसा सूत्रों में वैदिक कर्मों के अधिकारी के विषय में इनका एक विलक्षण विप्लवकारी मत उल्लिखित किया गया है। इनकी सम्मति में वैदिक कर्मों में सब का अधिकार है—द्विजों का तथा शूद्रों का भी[1]। परन्तु जैमिनि ने इसका बड़े आग्रह से खण्डन किया है और दिखलाया है कि यज्ञानुष्ठान में शूद्रों का अधिकार कथमपि नहीं है। इसका कारण यह है कि वेदविद्या का अधिकारी-पुरुष ही यज्ञ का अधिकारी है। जब शूद्रों को वेदाध्ययन का ही निषेध किया गया है तो यज्ञों में उनके अधिकार का खण्डन स्वतः हो जाता है।

इन ऋषियों के अतिरिक्त असित, देवल, गर्ग, जैगीषव्य, भृगु आदि अनेक ऋषियों के नाम तथा कार्य का परिचय महाभारत तथा पुराणों के अध्ययन से प्राप्त किया जा सकता है। इन ऋषियों ने अपने समय में दार्शनिक ज्ञान की उद्भावना कर उसका खूब प्रचार किया था। इनके ग्रन्थ भी रहे होंगे परन्तु इस समय फुटकल उद्धरणों के सिवाय और कुछ नहीं मिलता। इसी प्रकार प्राचीन समय में आचार्य काश्यप के भी वेदान्तसूत्र थे, क्योंकि इनके मत का उल्लेख भक्तिसूत्रकार शाण्डिल्य ने बादरायण के साथ-साथ किया[2] है। काश्यप भेदवादी वेदान्ती थे और बादरायण अभेदवादी; यही दोनों में अन्तर था।

आर्ष वेदान्त का यह सम्प्रदाय नितान्त प्राचीन है।

---

[1] निमित्तार्थेन बादरिः, तस्मात्सर्वाधिकारं स्यात्—मी० सू० ६।१।२७

[2] तामैश्वर्यपरां काश्यपः परत्वात्—भक्तिसूत्र २९; आत्मैकपरां बादरायणः—भक्तिसूत्र ३०

(३)

शंकरपूर्व वेदान्ताचार्य

शङ्कराचार्य के पूर्व अनेक वेदान्ताचार्य इस देश में वर्तमान थे जिनके ग्रन्थों का अध्ययन तथा सिद्धान्तों का प्रसार विशेष रूप से था। ऐसे आचार्यों में भर्तृ-प्रपञ्च, ब्रह्मनन्दी, टङ्क, गुहदेव, भारुचि, कपर्दी, उपवर्ष, भर्तृहरि, बोधायन, सुन्दरपाण्ड्य, द्रविड़ाचार्य तथा ब्रह्मदत्त के नाम विशेष रूपेण उल्लेखनीय हैं। इनके मतों का पता तो हमें परवर्ती ग्रन्थकारों के उल्लेखों से भली-भाँति चलता है परन्तु हम नहीं जानते कि प्रस्थानत्रयी के किस ग्रन्थ (ब्रह्मसूत्र, गीता या उपनिषद्) पर इन्होंने अपनी टीकाएँ लिखी थीं। कई आचार्यों के विषय में हमारा ज्ञान सामान्य न होकर विशिष्ट है।

भर्तृप्रपंच

ये शङ्कराचार्य के पूर्व विशिष्ट वेदान्ताचार्य थे। इन्होंने कठ तथा बृहदारण्यक उपनिषद् भाष्य की रचना की थी, इसका पता हमें भली-भाँति चलता है। सुरेश्वराचार्य और आनन्दगिरि के समय में भी इनका ग्रन्थ अवश्य उपलब्ध था। क्योंकि इन ग्रन्थकारों ने इनके मत का उपन्यास तथा प्रपञ्चन जिस प्रकार से किया है, वह ग्रन्थ के साक्षात् अध्ययन के बिना संभव नहीं हो सकता। शङ्कर ने बृहदारण्य भाष्य में इन्हें 'औपनिषदंमन्यं' कह कर परिहास किया है। परन्तु इनकी विद्वत्ता तथा पाण्डित्य उच्चकोटि का था, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं।

इनका मत दार्शनिक दृष्टि से द्वैताद्वैत, भेदाभेद, अनेकान्त आदि अनेक नामों से प्रसिद्ध था। इनका मत है कि परमार्थ एक भी है और नाना भी हैं। ब्रह्मरूप में वह एक है और जगत् रूप में वह नाना है। इसीलिए इन्होंने कर्म अथवा ज्ञान को एकान्ततः उपयोगी न मानकर दोनों के समुच्चय को मोक्ष-साधन में उपादेय माना है। इसीलिए इनका सिद्धान्त ज्ञानकर्म-समुच्चयवाद कहलाता है। इनकी दृष्टि में जीव नाना है और परमात्मा का एकदेशमात्र है। जिस प्रकार ऊसर देश पृथ्वी के एक देश में आश्रित रहता है, जीव भी उसी प्रकार परमात्मा के एक देश में आश्रित रहता है। जीव का नानात्व (अनेक होना) उपाधिजन्य नहीं है, अपितु धर्म तथा दृष्टि के भेद से वास्तविक है। ब्रह्म एक होने पर भी समुद्र के तरङ्ग के समान भेदाभेद भाव युक्त है। जिस प्रकार समुद्र रूप होने से तरङ्गों में अद्वैत भाव है और तरङ्ग की पृथक् स्थिति पर ध्यान देने से उनमें द्वैत-भाव है; ब्रह्म की भी ठीक यही दशा है। वह अद्वैत होते हुए भी द्वैत है। जब उसके ब्रह्मरूप पर विचार करते हैं तब तो वह एक ही है: परन्तु जगत रूप पर विचार करने से वह

अनेक है। इस प्रकार द्वैत और अद्वैत का समन्वय भर्तृप्रपञ्च के सिद्धान्त की महती विशेषता है।[1]

भर्तृप्रपञ्च परिणामवादी हैं। जीव ब्रह्म का परिणाम-स्वरूप है। ब्रह्म का परिणाम तीन प्रकार से होता है—(१) अन्तर्यामी तथा जीव रूप में, (२) अव्याकृत, सूत्र, विराट् देवता रूप में, (३) जाति तथा पिण्ड रूप में। इस प्रकार जगत् आठ प्रकार से विभक्त है और ये आठों अवस्थाएँ ब्रह्म की ही अवस्थाएँ हैं। इन्हीं अवस्थाओं में ब्रह्म परिणाम प्राप्त करता है। दूसरे प्रकार से ये तीन भागों में या 'राशियों' में विभक्त किए जाते हैं—(१) परमात्म राशि, (२) जीव-राशि, (३) मूर्त्तामूर्त्त राशि। इनकी सम्मति में मोक्ष दो प्रकार का है—(१) अपर मोक्ष (अथवा अपवर्ग), (२) परामुक्ति (अथवा ब्रह्मभावापत्ति)। इसी देह में रह कर जब ब्रह्म का साक्षात्कार होता है तब उसे 'अपवर्ग' कहते हैं। यह जीवन्मुक्ति के समान है। संसार के विषयों में आसक्ति छोड़ देने से इस अपर मोक्ष का आविर्भाव होता है। देहपात हो जाने पर जब जीव ब्रह्म में लीन हो जाता है तब परम मोक्ष का उदय होता है। यह अवस्था अविद्या की निवृत्ति होने पर ही होती है। इससे सिद्ध होता है कि इनके मत से ब्रह्मसाक्षात्कार होने पर भी अपवर्ग दशा में अविद्या की बिल्कुल निवृत्ति नहीं हो जाती। यह तो देहपात के साथ ही साथ होती है। ये लौकिक प्रमाण तथा वेद, दोनों को सत्य मानते थे। इसीलिए इनके मत में केवल कर्म, मोक्ष का साधन नहीं हो सकता, न केवल ज्ञान, प्रत्युत् ज्ञान-कर्म का समुच्चय ही मोक्ष का प्रकृष्ट साधन है।

भर्तृमित्र

यामुनाचार्य ने सिद्धित्रय के आरम्भ में अपने से पूर्व जिन आचार्यों का नाम निर्देश किया[2] है उनमें भर्तृमित्र भी अन्यतम हैं। इस उल्लेख से प्रतीत होता है कि ये भी वेदान्त के ही आचार्य थे। इन्होंने कर्म-मीमांसा के ऊपर भी ग्रन्थनिर्माण

---

[1] (ननु) अनेकात्मकं ब्रह्म, यथानेकशाखावृक्षः एवमनेकशक्ति-प्रवृत्तियुक्तं ब्रह्म। अत एकत्वं नानात्वं चोभयमपि सत्यमेव यथा वृक्ष इत्येकत्वम्, शाखा इति नानात्वम्। यथा च समुद्रात्मनैकत्वम् फेनतरङ्गाद्यात्मना नानात्वम्। यथा च मृदात्मनैकत्वम् घटशरावाद्यात्मना नानात्वम्। इन शब्दों में शङ्कराचार्य ने भर्तृप्रपञ्च के भेदाभेद का उपन्यास कया है।—शारीरकभाष्य ब्र०सू० २।१।१४

[2] आचार्य टङ्क भर्तृप्रपञ्च भर्तृमित्र भर्तृहर ब्रह्मदत्त शंकर श्रीवत्साङ्क भास्करादि रचित सितासितविविधनिबन्धन श्रद्धा-विप्रलब्ध-बुद्धयो न यथावदन्यथा च प्रतिपद्यन्त इति तत्प्रतिपत्तये युक्तः प्रकरणप्रक्रमः—सिद्धित्रय

किया था, इसका भी परिचय मीमांसा-ग्रन्थों के अनुशीलन से भलीभाँति मिलता है। कुमारिल भट्ट ने अपने श्लोकवार्तिक (१।१।१।१०; १।१।६।१३०-३१) में इनका उल्लेख किया है। इसका प्रमाण पार्थसारथि मिश्र की उन श्लोकों की टीका है। कुमारिल का कहना है कि भर्तृमित्र आदि आचार्यों के प्रभाव से मीमांसा, चार्वाक दर्शन के समान बिल्कुल अवैदिक बन गई थी और इसी दोष को प्रधानतया दूर करने के लिए उन्होंने अपना विख्यात ग्रन्थ लिखा। इससे प्रतीत होता है कि सम्भवतः भर्तृमित्र ने मीमांसादर्शन की टीका लिखी थी। यह विचारणीय प्रश्न है कि यामुनाचार्य के द्वारा उल्लिखित भर्तृमित्र और श्लोकवार्तिक में निर्दिष्ट भर्तृमित्र एक ही व्यक्ति थे या भिन्न व्यक्ति ? उपयुक्त साधन के अभाव में इसका भलीभाँति निर्णय नहीं हो सकता। सम्भव है कि इन्होंने दोनों दर्शनों के सम्बन्ध में ग्रन्थरचना की हो।

भर्तृहरि

यामुनाचार्य ने इनका नाम वेदान्त के आचार्यों में निर्दिष्ट किया है। ये वाक्यपदीय के कर्त्ता वैयाकरण भर्तृहरि ही प्रतीत होते हैं। यद्यपि इनका लिखा हुआ कोई वेदान्तग्रन्थ उपलब्ध नहीं हुआ है तथापि अपने दार्शनिक सिद्धान्तों के कारण, जिनका पल्लवीकरण वाक्यपदीय में विशिष्ट रूप से किया गया है, इनकी गणना वेदान्त के आचार्यों में की गयी है। भर्तृहरि भी अद्वैतवादी थे[1] परन्तु इनका अद्वैत, शङ्कर के अद्वैत से भिन्न था। इनका **शब्दाद्वैतवाद** दार्शनिक जगत् में एक महत्त्वपूर्ण विषय है। बहुत सम्भव है कि इनका प्रभाव परवर्ती वेदान्ताचार्यों पर भी पड़ा था, विशेषतः मण्डन मिश्र पर जिन्होंने **स्फोट सिद्धि** नामक अपने ग्रन्थ में भर्तृहरि के द्वारा प्रदर्शित मार्ग का अनुसरण किया है। प्रत्यभिज्ञा दर्शन के आचार्य, उत्पलाचार्य के गुरु सोमानन्द ने अपने **शिवदृष्टि** नामक ग्रन्थ में इस शब्दाद्वैतवाद की विस्तृत आलोचना की है। इतना ही नहीं, बौद्ध दार्शनिक शान्तरक्षित के तत्त्वसंग्रह में, अद्वैत वेदान्ती अविमुक्तात्मा की 'इष्टसिद्धि' में और नैयायिक जयन्त भट्ट की न्यायमञ्जरी में शब्दाद्वैतवाद का उल्लेख मिलता है। भर्तृहरि ने भलीभाँति दिखलाया है कि व्याकरण आगमशास्त्र है जिसके सिद्धान्तों का अनुशीलन कर योग्य साधक मोक्ष पा सकता है। शब्दब्रह्म, परब्रह्म, परावाक्, आदि शब्द एक अद्वैत परम तत्त्व के द्योतक हैं। उसी

---

[1] महाभाष्यं व्याचक्षाणो भगवान्भर्तृहरिरपि अद्वैतमेवाभ्युपगच्छति यथोक्तं शब्दकौस्तुभे स्फोटवादान्ते तदेवं पक्षभेदे अविद्यैव वा ब्रह्मैव वास्फुटत्यर्थोऽस्मादिति व्युत्पत्त्यास्फोट इति स्थितम्—उमामहेश्वरकृततत्त्वदीपिका।

तत्त्व से अर्थ रूप नानात्मक जगत् की उत्पत्ति होती है। जगत् वास्तविक नहीं है, अपि तु काल्पनिक है।

भर्तृहरि की दृष्टि में पश्यन्ती वाक् ही परमतत्त्व है; वह चैतन्यस्वरूप है, अखण्ड, अभिन्न और अद्वैत रूप परमार्थ वही है। उसमें ग्राह्य और ग्राहक का परस्पर भेद प्रतीत नहीं होता। देश और काल के द्वारा जिस क्रम की उत्पत्ति होती है उस क्रम का भी उसमें सर्वथा अभाव है। इसीलिए उसको अक्रमा तथा प्रतिसंहृतक्रमा शब्दों के द्वारा अभिहित किया जाता है। वही आत्मतत्त्व है। जब अर्थप्रतिपादन की इच्छा उत्पन्न होती है तब यही शब्द-तत्त्व मनोविज्ञान का रूप धारण कर लेता है। तब इसका नाम है 'मध्यमा' वाक्। यही आगे चल कर, स्थूल रूप धारण करने पर 'वैखरी' वाक् के रूप में प्रकट होती है। जिस ध्वनि को हम अपने कान से सुनते हैं वही वैखरी वाक् है। वस्तुतः पश्यन्ती वाक् ही मुख में आकर कण्ठ और तालु आदि स्थानों के विभाग से वैखरी नाम से प्रसिद्ध होती है। यह जगत् शब्दब्रह्म का ही परिणाम है, भर्तृहरि का यही सर्वमान्य सिद्धान्त है। अविद्या के कारण ही अद्वैत रूप शब्द नाना अर्थरूप में परिणत हो जाता है, परन्तु वस्तुतः वाचक (शब्द) से वाच्य (अर्थ) कथमपि अलग नहीं है। वाचक और वाच्य का विभाग ही काल्पनिक है परन्तु काल्पनिक और अयथार्थ होने पर भी अर्थ का अवलम्बन लेना ही पड़ता है। क्योंकि विद्या-ग्रहण करने का यही साक्षात् उपाय है[1]। इसके विषय में भर्तृहरि ने स्पष्ट कहा है—

> उपाया शिक्षमाणानां बालानामुपलालनाः।
> असत्ये वर्त्मनि स्थित्वा ततः सत्यं समीहते ॥

जगत् की शब्द से उत्पत्ति के विषय में इनका कहना है—

> अनादि निधनं ब्रह्म शब्दतत्त्वं यदक्षरम्।
> विवर्ततेऽर्थभावेन प्रक्रिया जगतो यतः ॥

बोधायन

इनके विषय में हमारा ज्ञान विशेष नहीं है। रामानुज ने 'वेदार्थसंग्रह' में इन्हें अपना उपजीव्य बतलाया है। यामुनाचार्य के उल्लेख से समझा जाता है कि इन्होंने ब्रह्मसूत्र पर वृत्ति लिखी थी। इसी वृत्ति से आचार्य रामानुज ने अपने श्रीभाष्य में अनेक बचनों को उद्धृत किया है। दुःख है कि इस वृत्ति के अस्तित्व का पता नहीं चलता। प्रपञ्चहृदय के देखने से प्रतीत होता है कि बोधायन ने

---

[1] इसका विशेष मत जानने के लिए देखिए, बलदेव उपाध्याय—भारतीयदर्शन (नवीन संस्करण, काशी, १९६०)।

मीमांसा सूत्रों पर भी वृत्ति की रचना की थी। इस ग्रन्थ के भी अस्तित्व का पता नहीं चलता। प्रपञ्चहृदय के अनुसार बोधायनरचित वेदान्तवृत्ति का नाम 'कृतकोटि' था, ऐसा जान पड़ता है।[१]

टङ्क

इनका नामनिर्देश रामानुज ने वेदार्थसंग्रह (पृष्ठ १५४) में किया है जिससे प्रतीत होता है कि ये रामानुज से पूर्व विशिष्टाद्वैतवादी आचार्य थे। इनके विषय में अन्य बातों का पता नहीं लगता। विशिष्टाद्वैत के विद्वान् 'टङ्क' तथा ब्रह्मनन्दी को एक ही अभिन्न व्यक्ति मानते हैं परन्तु प्रमाणों के अभाव में इस मत के सत्यासत्य का निर्णय नहीं किया जा सकता।

ब्रह्मनन्दी

प्राचीन काल में ब्रह्मनन्दी वेदान्ताचार्य की प्रसिद्धि थी। मधुसूदन सरस्वती ने संक्षेप शारीरक की अपनी टीका में (३।२१७) इनके मत को उद्धृत किया है। इससे तो स्पष्ट मालूम पड़ता है कि ये अद्वैत वेदान्त के ही आचार्य थे। प्राचीन वेदान्त साहित्य में ब्रह्मनन्दी छान्दोग्य वाक्यकार के नाम से अथवा केवल 'वाक्य-कार' के नाम से प्रसिद्ध थे। विशिष्टाद्वैतवादी लोग इन्हें तथा आचार्य टङ्क को एक ही व्यक्ति मानते हैं। इसका उल्लेख अभी किया गया है।

ब्रह्मनन्दी के मत के विषय में पर्याप्त भिन्नता है। शङ्कर उन्हें विवर्तवादी मानते हैं, भास्कर परिणामवादी तथा रामानुज उन्हें भक्तिवाद का समर्थक मानते है। ब्रह्मनन्दी वाक्यकार के नाम से तथा द्रविड़ाचार्य भाष्यकार के नाम से उल्लिखित मिलते हैं। इससे प्रतीत होता है कि ब्रह्मनन्दी ने छान्दोग्य पर लघुकाय वाक्य लिखे थे, जिनकी व्याख्या द्रविडाचार्य ने अपने भाष्य में की थी। इनके वाक्यों के कुछ अंश संग्रहीत किये गये हैं[२]।

भारुचि

इनका नाम आचार्य रामानुज ने 'वेदार्थ संग्रह' में बड़े आदर और सत्कार के साथ लिया है। श्रीनिवासदास ने भी इनका निर्देश यतीन्द्रमत-दीपिका में किया है[३]।

---

[१] प्रपञ्चहृदय—अनन्तशयन ग्रन्थावली में प्रकाशित, पृष्ठ ३९

[२] द्रष्टव्य K. B. Pathak, Commemoration Volume pp. 151-158

[३] पूना संस्करण, पृष्ठ २

इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि ये सविशेष ब्रह्म के मानने वाले वेदान्ताचार्य थे। इनके विषय में विशेष ज्ञात नहीं। धर्मशास्त्र के इतिहास के भी भारुचि के मत का उल्लेख मिलता है। विज्ञानेश्वर ने मिताक्षरा में (१।१८, २।१२४) तथा माधवाचार्य ने 'पराशर संहिता' की अपनी टीका 'पराशरमाधव' में (२।३, पृष्ठ ५१०) में इनके नाम का निर्देश किया है। 'विष्णु धर्मसूत्र' के ऊपर इनके टीका लिखने की भी बात प्रमाणित होती है। यह बतलाना बहुत ही कठिन है कि वेदान्ती 'भारुचि' और धर्मशास्त्रकार भारुचि एक ही व्यक्ति थे या भिन्न-भिन्न व्यक्ति थे। यदि दोनों एक ही व्यक्ति हों तो इनका समय नवम शताब्दी का पूर्वार्ध सिद्ध होता है जैसा कि प्रोफेसर काणे ने अपने धर्मशास्त्र के इतिहास में दिखलाया है[1]।

कपर्दी और गुहदेव

प्राचीन काल में इनकी विशेष ख्याति थी। रामानुज ने वेदार्थ संग्रह में इन्हें अपना उपजीव्य बतलाया है जिससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि इन आचार्यों की सम्मति में सगुण ब्रह्म ही उपनिषदों का प्रतिपाद्य विषय है। ईश्वर की प्राप्ति के लिए ज्ञान के साथ-साथ कर्म का भी उपयोग है। भक्ति के द्वारा आवर्जित होकर भगवान भक्तों का मनोरथ पूर्ण करते हैं और अपना दिव्य-दर्शन प्रदान करते हैं। इन वेदान्तियों के सिद्धान्त का यही सामान्य परिचय है। इनके विषय में और कुछ विशेष उपलब्ध नहीं होता।

द्रविड़ाचार्य

ये भी एक प्राचीन वेदान्त के आचार्य थे। इन्होंने छान्दोग्य तथा बृहदारण्यक उपनिषदों पर अति विस्तृत भाष्य की रचना की थी। आचार्य शङ्कर ने अपने भाष्यों में इनका उल्लेख बड़े आदर के साथ किया है। माण्डूक्य उपनिषद् के भाष्य में (२।२२, २।३२) शङ्कर ने इनको 'आगमवित्' कह कर इनका उल्लेख किया है। बृहदारण्यक के भाष्य में भी इनका उल्लेख 'सम्प्रदायवित्' कह कर किया गया[2] है। शङ्कर ने इनका उल्लेख अपने मत की पुष्टि में किया है, खण्डन करने के लिए कभी नहीं किया है। इससे यह प्रतीत होता है कि ये अद्वैतवादी थे। बृहदारण्यक के भाष्य में 'तत्वमसि' के व्याख्याप्रसंग में

---

[1] P. V. Kane, History of Dharma Shastra, Vol. I, page 265.

[2] बृहदारण्यक भाष्य (आनन्दाश्रम सिरीज) पृष्ठ २९७—९८ आनन्दगिरि की सम्मति में ये 'सम्प्रदायवित्' द्रविड़ाचार्य ही हैं जिनकी सम्मति को अपने मत की पुष्टि में आचार्य ने उद्धृत किया है।

आचार्य ने इनके द्वारा निर्दिष्ट व्याध-संवर्धित राजपुत्र की रोचक आख्यायिका दी है। व्याध के कुल में रहते हुए राजपुत्र को अपने प्राचीन गौरव, पद तथा प्रतिष्ठा की बिल्कुल विस्मृति हो गई थी परन्तु गुरु के द्वारा बतलाए जाने पर उसे उन बातों का ध्यान तुरन्त आ गया। ठीक उसी प्रकार यह संसारी जीव भी आचार्य के उपदेश से अपने मूल विशुद्ध स्वरूप को प्राप्त करता है। इस प्रकार इनकी सम्मति में अग्नि से उत्पन्न होने वाले विस्फुलिंगों के समान ब्रह्म से उत्पन्न होने वाले जीव के वर्णन का अभिप्राय अभेद प्रतिपादन में है, भेद के प्रदर्शन में नहीं। इस प्रकार इनका अद्वैत मत नितान्त स्पष्ट है।

रामानुज सम्प्रदाय में भी द्रविड़ाचार्य नाम से एक प्राचीन आचार्य का उल्लेख मिलता है[1]। पता नहीं कि ये आचार्य शङ्कर निर्दिष्ट आचार्य से भिन्न है या अभिन्न? यामुनाचार्य ने सिद्धित्रय के आरम्भ में बादरायण के सूत्रों पर परिमित गम्भीर भाष्य लिखने वाले जिस आचार्य की ओर संकेत किया है वे यही द्रविड़ाचार्य माने जाते हैं[2]। यामुनाचार्य ने केवल 'भाष्यकृत्' शब्द का प्रयोग किया है जिसका तात्पर्य द्रविड़ाचार्य से ही समझा जाता है।

सुन्दर पाण्ड्य

शङ्करपूर्व वेदान्तियों में सुन्दर पाण्ड्य भी अपना एक विशिष्ट स्थान रखते हैं। इन्होंने कारिकाबद्ध किसी वार्त्तिकग्रन्थ की रचना की थी परन्तु यह वार्त्तिक किस ग्रन्थ पर था, इसका ठीक-ठीक पता नहीं चलता। ब्रह्मसूत्र (१।१।४) के भाष्य के अन्त में 'अपि चाहुः' कह कर तीन गाथाएँ उद्धृत की हैं[3]। वाचस्पति मिश्र ने इन श्लोकों को 'ब्रह्मविदां गाथा' कह कर उल्लेख किया है। पद्मपाद कृत पञ्चपादिका के ऊपर आत्मस्वरूप कृत 'प्रबोध परिशोधिनी' नाम की जो टीका लिखी है, उससे प्रतीत होता है कि ये श्लोक सुन्दर पाण्ड्य की रचना हैं। माधव-

[1] रामानुज, वेदार्थसंग्रह (काशी संस्करण) पृष्ठ १५४

[2] भगवता बादरायणेन इदमर्थमेव सूत्राणि प्रणीतानि, विवृतानि च परिमित गम्भीरभाष्यकृता।—सिद्धित्रय

[3] अपि चाहुः—

गौणमिथ्यात्मनोऽसत्त्वे पुत्रदेहादिबाधनात्।
सद्ब्रह्मात्माहमित्येवं बोधे कार्यं कथं भवेत्॥
अन्वेष्टव्यात्मविज्ञानात् प्राक् प्रमातृत्वमात्मनः।
अन्विष्टः स्यात् प्रमातैव पाप्मदोषादिवर्जितः॥
देहात्मप्रत्ययो यद्वत्प्रमाणत्वेन कल्पितः।
लौकिकं तद्वदेवेदं प्रमाणं त्वाऽऽत्मनिश्चयात्॥

मन्त्रीकृत सूत संहिता की टीका में, न्याय-सुधा में, तथा तन्त्रवार्त्तिक में इनके कतिपय श्लोक उद्धृत किये गये हैं। इससे प्रतीत होता है कि सुन्दर पाण्ड्य ने पूर्वमीमांसा और उत्तरमीमांसा, दोनों पर वार्त्तिक ग्रन्थ की रचना की थी। ये शङ्कर से ही नहीं बल्कि कुमारिल से भी पूर्ववर्ती थे। इस प्रकार इनका समय सप्तम शताब्दी का पूर्वार्ध प्रतीत होता है।[1]

उपवर्ष

ये प्राचीन काल के बड़े ही प्रख्यात वेदान्ती हैं। इन्होंने पूर्वमीमांसा और उत्तरमीमासा, दोनों पर वृत्तियाँ लिखी थीं। इनके गौरव तथा भूयसी प्रतिष्ठा का परिचय इस घटना से भी लग सकता है कि इनके नाम के साथ सदा भगवान् शब्द संयुक्त उपलब्ध होता है। शबर स्वामी ने मीमांसासूत्र के भाष्य में (१।१।५) इन्हें 'भगवान् उपवर्षः' कह कर उल्लिखित किया है[2]। शङ्कराचार्य ने भी इन्हें सर्वत्र 'भगवान् उपवर्षः' ही लिखा है[3]। शाबर भाष्य (१।१।५) में जिस वृत्तिकार की व्याख्या का विस्तृत उद्धरण दिया गया है, वे वृत्तिकार भगवान् उपवर्ष ही हैं। शङ्कर कहते हैं कि उपवर्ष ने अपनी मीमांसा वृत्ति में कहीं-कहीं पर शारीरक सूत्र पर लिखी गयी वृत्ति की बातों का उल्लेख किया है।[4] इस प्रकार शबर और शङ्कर के द्वारा उद्धृत किए जाने से स्पष्ट है कि उपवर्ष ने दोनों मीमांसा-सूत्रों पर अपनी वृत्ति लिखी थी।

---

[1] विशेष द्रष्टव्य Journal of Oriental Research, Vol. 1. No. 1, pp. 1—15, तथा

Proceedings of Third Oriental Conference, pp. 465—68.

अथ गौरित्यत्र कः शब्दः ? गकारौकार विसर्जनीयाः इति भगवानुपवर्षः —शाबर भाष्य (१।१।५)

[2] वर्णा एव तु शब्दाः इति भगवानुपवर्षः—शाङ्करभाष्य

[3] इत एव चाकृष्य शबरस्वामिना आचार्येण प्रमाणलक्षणे वर्णितम् अत-एव च भगवतोपवर्षेण प्रथमे तन्त्र आत्मास्तित्वाभिधानप्रसक्तौ शारीरके वक्ष्यामः इति उद्धारः कृतः।—शाङ्करभाष्य (३।३।५३)

[4] मणिमेखलै के उद्धरण के लिए द्रष्टव्य—डाक्टर एस० के० आयङ्गर की Mani Mekhalai in its historical Setting नामक ग्रन्थ, पृष्ठ १८६.

ये उपवर्ष कौन थे, इस प्रश्न का उत्तर निश्चित रूप से नहीं दिया जा सकता। कुछ विद्वान् लोग उपवर्ष और बोधायन को एक ही अभिन्न व्यक्ति मानते हैं परन्तु इस समीकरण में श्रद्धा के लिए विशेष स्थान नहीं है। क्योंकि 'प्रपञ्च-हृदय' में बोधायन और उपवर्ष अलग-अलग पूर्व और उत्तरमीमांसा के सम्मिलित २० अध्यायों पर वृत्तिकार के रूप से उल्लिखित किये गये हैं। 'मणिमेखलै' नामक तमिल भाषा के प्राचीन ग्रन्थ में जैमिनि और ब्यास के साथ 'कृतकोटि' नामक एक आचार्य का नाम उपलब्ध होता है जिन्होंने आठ प्रमाणों की सत्ता मानी है। कुछ लोग इसी कृतकोटि से उपवर्ष की एकता मानते हैं। परन्तु विचार करने पर ये दोनों कथन तर्क की कसौटी पर खरे नहीं उतरते। उपवर्ष ने (३।३।५३) सूत्र की अपनी वृत्ति में आत्मा के विभुत्व का प्रतिपादन किया है। इस मत का संक्षिप्त वर्णन शाबर भाष्य में आत्मवाद के प्रसङ्ग में उपलब्ध होता है। बोधायन की वृत्ति इस सूत्र पर जीव का अणुत्व प्रतिपादन करती है, इसका परिचय हमें भली-भाँति मिलता है। वृत्ति तो उपलब्ध नहीं है परन्तु श्रीभाष्य में उसका सारांश विद्यमान है। अतः रामानुज के समान ही बोधायन भी जीव का अणुत्व स्वीकार करते थे। तब जीव का विभुत्व मानने वाले उपवर्ष के साथ उनकी अभिन्नता कैसे मानी जा सकती है। इसी प्रकार 'मणिमेखलै' में निर्दिष्ट आचार्य कृतकोटि से भी उपवर्ष की समानता कथमपि सिद्ध नहीं होती, क्योंकि कृतकोटि आठ प्रमाण मानने वाले थे और उपवर्ष मीमांसक तथा वेदान्ती होने के नाते छः प्रमाणों (प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द, अर्थापत्ति, अनुपलब्धि) के ही पक्षपाती रहे होंगे, यह अनुमान करना सर्वथा न्याय्य है।

इनके समय का निर्धारण भी किया जा सकता है। शबर स्वामी के द्वारा उद्धृत होने से यह स्पष्ट है कि इनका समय दो-सौ इस्वी के पीछे नहीं हो सकता। इन्होंने वैयाकरणों के स्फोटवाद का खण्डन किया है। यह तो प्रसिद्ध बात है कि व्याकरण आगम में भगवान् पतञ्जलि ने ही पहले पहल स्फोट शब्द को वाचकत्व का आश्रय और अर्थ का प्रत्यायक माना है। महाभाष्य में ही स्फोट के सिद्धान्त का प्रथम पल्लवीकरण उपलब्ध होता है। अतः प्रतीत होता है कि उपवर्ष ने पतञ्जलि के सिद्धान्त का ही उस स्थान पर खण्डन किया है। अतः इनका समय पतञ्जलि (द्वितीय शतक ईस्वीपूर्व) तथा शबर (२०० ईस्वी) के बीच में होना चाहिए।

ब्रह्मदत्त

ये शङ्करपूर्व समय के एक अत्यन्त प्रसिद्ध अद्वैतवाद के समर्थक वेदान्ती हैं। इनकी रचना का तो परिचय नहीं चलता, परन्तु अनुमान है कि ब्रह्मसूत्र के भाष्यकार रहे हों। इनके मत का उल्लेख आचार्य शङ्कर ने उपनिषद् भाष्य में,

सुरेश्वर ने वृहदारण्यक-भाष्य वार्त्तिक में तथा वेदान्तदेशिक ने 'तत्त्वमुक्ताकलाप' की 'सर्वार्थसिद्धि' टीका में वर्णन किया है। 'मणिमञ्जरी' ने तो ब्रह्मदत्त और शङ्कर के भेंट होने का भी वर्णन किया है—मणिमञ्जरी (६।२।३)। परन्तु अन्य स्थानों से पुष्ट न होने से यह घटना प्रामाणिक प्रतीत नहीं होती। परन्तु ये अपने समय के एक बहुत ही विशिष्ट माननीय आचार्य तो थे ही। इसका परिचय तो शङ्कर और सुरेश्वर के द्वारा आग्रहपूर्वक किये गये खण्डनों से स्पष्ट मिलता है।

इनके मत

ब्रह्मदत्त के विशिष्ट मतों में पहला मत जीव की अनित्यता के विषय में[1] है। ब्रह्म ही एकमात्र नित्य पदार्थ है। जीव उसी ब्रह्म से उत्पन्न होता है और फिर उसी ब्रह्म में लीन हो जाता है। इस प्रकार उत्पत्ति और लय होने के कारण वह बिल्कुल अनित्य है। यह मत बहुत ही विलक्षण प्रतीत होता है तथा वेदान्त में माने गये मत से एकदम विरुद्ध पड़ता है। महर्षि ने स्वयं ब्रह्मसूत्र में [नात्माऽश्रुतेर्नित्यत्वाच्चताभ्यः २।३।१७] इसके विरुद्ध मत का प्रतिपादन किया है कि आत्मा स्वयं नित्य है। श्रीभाष्य (१।४।२०) के अनुशीलन से पता लगता है कि आश्मरथ्य नामक प्राचीन आचार्य की सम्मति में भी जीव ब्रह्म से उत्पन्न होता है और प्रलयकाल में उसमें लीन हो जाता है। इस तरह दोनों आचार्यों का मत इस विषय में पर्याप्त अनुरूप है। फिर भी ब्रह्मदत्त आश्मरथ्य के अनुयायी इसलिए नहीं माने जा सकते कि आश्मरथ्य द्वैताद्वैतवादी थे और ब्रह्मदत्त पूरे अद्वैतवादी थे। यह मत इतना विलक्षण था कि इसका खण्डन करना अद्वैत ग्रन्थों में उचित समझा गया।

उपनिषदों के तात्पर्य के विषय में ब्रह्मदत्त का अपना स्वतन्त्र मत है। उपनिषदों में दोनों प्रकार के वाक्य मिलते हैं—एक तो ज्ञानप्रतिपादक वाक्य यथा 'तत्त्वमसि' (तुम्हीं ब्रह्म हो) और दूसरे उपासनाप्रतिपादक वाक्य जैसे 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः' (आत्मा का दर्शन करना चाहिए)। वेदान्त के आचार्यों के मत इस विषय में नितान्त भिन्न हैं। आचार्य शङ्कर का कहना है कि उपनिषदों का तात्पर्य ज्ञान-प्रतिपादक महावाक्यों में ही है। उपासना के विषय में विधि है परन्तु ज्ञान के विषय में विधि नहीं। विधि वह पदार्थ है जो मानवीय प्रयत्न से साध्यकोटि में आ सके, परन्तु ज्ञान स्वयंसिद्ध पदार्थ है जिसके लिए मानव प्रयत्न की कथमपि आवश्यकता नहीं होती। इस प्रकार ज्ञान वस्तुतन्त्र (सत्यपदार्थ के ऊपर

---

[1] **एकं ब्रह्मैव नित्यं तदितरदखिलं तत्र जन्मादिभागित्यायातं, तेन जीवोऽपि अचिदिव जनिमान्—वेदान्त देशिक के 'तत्वमुक्ताकलाप' की सर्वार्थसिद्धि टीका से उद्धृत ब्रह्मदत्त का मत।**

अवलम्बित) है, पुरुषतन्त्र नहीं। परन्तु ब्रह्मदत्त के अनुसार ज्ञान की अपेक्षा उपासना का महत्त्व कहीं अधिक है। उपनिषदों का अभिप्राय 'तत्वमसि' आदि महावाक्य में नहीं है, अपितु 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः' आदि उपासनापरक वाक्यों के प्रतिपादन में है। आत्मतत्त्व का चिन्तन करना ही साधक का मुख्य कर्तव्य है। इस उपासना के लिए ज्ञान की आवश्यकता है। इस प्रकार ज्ञान अङ्ग है तथा उपासना अङ्गी है। शास्त्रीय भाषा में कह सकते हैं कि ब्रह्मदत्त की सम्मति में आत्मज्ञान में उपासनाविधि का शेष[1] है।

साधन-मार्ग

ब्रह्मदत्त के अनुसार साधनमार्ग भी विलक्षण है। मोक्ष की सिद्धि उपासना से ही होती है। जब तक साधक आत्मा और ब्रह्म की एकता का ज्ञान प्राप्त कर आत्मतत्त्व का चिन्तन नहीं करता, तब तक अज्ञान की निवृत्ति नहीं होती। अज्ञान को दूर करने के लिए उपासना ही एकमात्र साधन है। औपनिषद्-ज्ञान कितना भी हो, उसके द्वारा अज्ञान का निराकरण नहीं हो सकता। अद्वैतज्ञान के लाभ होने पर भी उसकी जीवनपर्यन्त भावना आवश्यक हैं। ब्रह्मदत्त का कहना है कि देह की स्थिति के समय उपायों के द्वारा देवता का साक्षात्कार हो सकता है तथापि उसके साथ मिलन तभी हो सकता है जब देह न रहे। यह देह तो प्रारब्धकर्म के कारण मिलता है। अतः उपास्य और उपासक के मिलन में यह विघ्न रूप है। जिस प्रकार स्वर्ग की प्राप्ति मृत्यु के अनन्तर ही होती है उसी प्रकार मोक्ष की भी प्राप्ति देह के छूटने के बाद ही होती है। स्वर्ग और मोक्ष वैदिक विधियों के सम्यगनुष्ठान के फलरूप हैं। ब्रह्मदत्त इस प्रकार जीवन्मुक्ति नहीं मानते। शङ्कर के मत में मोक्ष दृष्टफल है (अर्थात् जिसका फल इसी जन्म में, इसी शरीर से अनुभूत हो सके) परन्तु ब्रह्मदत्त के मत में मोक्ष अदृष्ट फल है (अर्थात् इस शरीर से मोक्ष का अनुभव नहीं हो सकता)। ब्रह्मदत्त के अनुसार साधनक्रम इस प्रकार है—पहले उपनिषदों के अभ्यास से ब्रह्म का ज्ञान प्राप्त करना चाहिए, परन्तु यह ज्ञान होता है परोक्ष, अतः इसे अपरोक्ष-ज्ञान के रूप में परिवर्त्तित करने के लिए उपासना या भावना का अभ्यास करना चाहिए। भावना का रूप होगा 'अहं ब्रह्माऽस्मि', अर्थात् मैं ही ब्रह्म हूँ। ब्रह्मदत्त की दृष्टि में यह 'अहं ग्रहोपासना' नितान्त आवश्यक है। इस अवस्था में कर्म की आवश्यकता रहती है। जीवनपर्यन्त कर्म का कभी त्याग

---

[1] केचित् स्वसम्प्रदायबलावष्टम्भादाहुः—यदेतत् वेदान्तवाक्यात् अहंब्रह्मेति विज्ञानं समुत्पद्यते तन्नैव स्वोत्पत्तिमात्रेण अज्ञानं निरस्यति किं तर्हि अहनि अहनि द्राघीयसा कालेन उपासीनस्य सतः। भावनोपचयात् निःशेषमज्ञानमपगच्छति, भूत्वा देवो देवानप्येति इति श्रुतेः।—सुरेश्वर, नैष्कर्म्यसिद्धि (१।६७)। 'ज्ञानामृतविद्या सुरभि' नाम की टीका में यह मत ब्रह्मदत्त का बतलाया गया है।

नहीं होता इसीलिए ब्रह्मदत्त का मत ज्ञानकर्मसमुच्चयवाद[1] है। इस प्रकार ब्रह्मदत्त की दृष्टि में तत्त्वमसि आदि महावाक्यों के श्रवण करने से आत्मा के स्वरूप के विषय में 'अखण्डवृत्ति' उत्पन्न नहीं हो सकती; क्योंकि इन शब्दों में ऐसा सामर्थ्य ही नहीं है। यह सामर्थ्य तो वस्तुतः निदिध्यासन (ध्यान) में है। कहना न होगा कि यह मत शङ्कर के मत से नितान्त विरुद्ध है। सुरेश्वर ने 'नैष्कर्म्य-सिद्धि' में (१।६७) तथा पद्मपाद ने 'पञ्चपादिका' में (पृष्ठ ६६) स्पष्ट ही कहा है कि महावाक्य से साक्षात् अपरोक्ष ही ज्ञान उत्पन्न होता है।

गौडपाद

जिन आचार्यो का परिचय अब तक दिया गया है, उसमें केवल दो ही चार ऐसे होंगे जिनके मत को शङ्कर ने ग्रहण किया है और वह भी यदा-कदा। अधिकांश आचार्यों का उल्लेख खण्डन के प्रसङ्ग ही में किया गया है। अद्वैत-वेदान्त की परम्परा शङ्कर से प्राचीन है। शङ्कर के गुरु का नाम गोविन्दपाद था और इनके गुरु का नाम गौडपादाचार्य था। गौडपादाचार्य तक गुरु-परम्परा को ऐतिहासिक काल के भीतर मानने में कोई भी आपत्ति नहीं है। गौडपाद के गुरु शुकदेव तथा उनके गुरु व्यास बतलाये जाते हैं। इतना तो स्पष्ट है कि काल की भिन्नता होने के कारण गौडपाद शुक के साक्षात् शिष्य नहीं माने जा सकते। यदि यह साम्प्रदायिक बात प्रामाणिक मानी जाय, तो कहना पड़ेगा कि शुकदेव ने सिद्धशरीर अथवा निर्माणकाय में आविर्भूत होकर गौडपाद को उसी प्रकार शिक्षा दी थी जिस प्रकार परमर्षि कपिल ने निर्माणकाय का अवलम्बन कर आसुरि को सांख्यशास्त्र का उपदेश किया था जैसा कि सांख्यग्रन्थों में बहुशः निर्दिष्ट है।

गौडपाद को ही हम मायावाद का प्रथम प्रचारक पाते हैं। इनकी लिखी हुई प्रसिद्ध पुस्तक 'माण्डूक्यकारिका' है। 'माण्डूक्योपनिषद्' के ऊपर ही इन कारिकाओं की रचना की गयी है। यह उपनिषद् है तो बहुत ही छोटा, पर अत्यंत सारवान् है। इसमें केवल बारह वाक्य हैं जिनमें से प्रथम सात वाक्य 'नृसिंह-पूर्वोत्तरतापिनी' तथा 'रामोत्तरतापिनी' में उपलब्ध होते हैं। 'माण्डूक्यकारिका' चार प्रकरणों में विभक्त है—(१) आगम प्रकरण, कारिका संख्या २९, (२) वैतथ्यप्रकरण, का० सं० ३८, (३) अद्वैत प्रकरण, का० सं० ४८, (४) अलातशान्ति प्रकरण, का० सं० १००। इस प्रकार सब कारिकाएँ मिलाकर २१५ हैं। प्रथम प्रकरण एक प्रकार से

---

[1] ज्ञानोत्तम ने 'नैष्कर्म्य सिद्धि' की टीका में इन्हें ज्ञानकर्म-समुच्चयवादी स्पष्टतः कहा है यथा—वाक्यजन्यज्ञानोत्तरकालीनभावनोत्कर्षाद्भावनाजन्य साक्षात्कारलक्षणज्ञानान्तरेणैव अज्ञानस्य निवृत्ते। ज्ञानाभ्यासदशायां ज्ञानस्य कर्मणा समुच्चयोपपत्तिः।

उपनिषद् का भाष्य है। इस प्रकरण की कारिकाएँ मूल उपनिषद् के वाक्यों के साथ मिली हुई हैं। षष्ठ वाक्य के बाद नौ कारिकाएँ हैं, सप्तम के बाद भी नौ, एकादश के बाद पाँच तथा द्वादश के बाद छः। इस प्रकार आगम प्रकरण की कारिकाएँ मूल वाक्यों के साथ मिलकर तदाकार बन गयी हैं।

अद्वैत वेदान्त में उपनिषद् के वाक्य ही श्रुति माने जाते हैं और आगम-प्रकरण की कारिकाएँ गौडपाद की स्वीकृत की जाती हैं। परन्तु द्वैतवादियों के यहाँ कारिकाएँ भी श्रुति समझी जाती हैं। इन लोगों के कथनानुसार गौडपाद ने अन्तिम तीन प्रकरण की ही कारिकाओं का निर्माण किया। प्रथम प्रकरण की कारिकाएँ श्रुति रूप होने से गौडपाद की रचना नहीं हो सकतीं। कुछ लोग इससे विपरीत ही मत मानकर मूल उपनिषद् के बारह वाक्यों को भी गौडपाद की ही रचना मानते हैं। इस प्रकार इन कारिकाओं के विषय में विद्वानों में पर्याप्त मतभेद है। कुछ विद्वानों का तो यहाँ तक कहना है कि गौडपाद किसी व्यक्ति-विशेष का नाम नहीं है, प्रत्युत् किसी सम्प्रदाय-विशेष का सूचक है। परन्तु यह उचित नहीं प्रतीत होता। सुरेश्वराचार्य ने (४।११ नैष्कर्म्यसिद्धि) जहाँ 'गौडैः' और 'द्राविडैः' पदों का प्रयोग किया है, वहाँ उनका अभिप्राय क्रमशः गौडपाद तथा शङ्कर से है[1]।

इन कारिकाओं के अतिरिक्त 'उत्तरगीता' का भाष्य भी इन्हीं की कृति है। सांख्यकारिका के ऊपर भी गौडपाद भाष्य मिलता है और वह प्राचीन भी है। परन्तु सांख्य भाष्यकार वेदान्ती गौडपाद से भिन्न हैं या अभिन्न, यह निर्णय करना दुष्कर है। रामभद्र दीक्षित ने अपने 'पतञ्जलिचरित' ग्रंथ में गौडपाद को पतञ्जलि का शिष्य बतलाया है तथा उनके विषय में एक प्राचीन रोचक कथा का उल्लेख किया है। इस ग्रंथ की सहायता से भी गौडपाद के व्यक्तित्व पर विशेष प्रकाश नहीं पड़ता। जो कुछ हो, गौडपाद का नाम अद्वैत वेदान्त के इतिहास में स्वर्णाक्षरों में लिखने योग्य है। शङ्कर के मत को समझने के लिए गौडपाद से ही आरम्भ करना होगा।

गौडपाद के दार्शनिक सिद्धान्त

'माण्डूक्यकारिका' के अनुशीलन से आचार्य गौडपाद के सिद्धान्तों का भव्यरूप हमारी दृष्टि में भली-भाँति आ जाता है। आगम-प्रकरण तो माण्डूक्य उपनिषद् की विस्तृत व्याख्या है। ओंकार ही परमतत्व का द्योतक पद है। 'ओम्' के तीन अक्षर 'अ' 'उ' 'म्' क्रमशः वैश्वानर, हिरण्यगर्भ तथा ईश्वर एवं जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति अवस्थाओं का द्योतन करते हैं। परमतत्व तीनों में पृथक्

---

[1] Indian Antiquary, October 1933, pp. 192-193.

है, अथ च अनुष्ठान तथा साक्षी रूप में इनमें अनुमित भी है। वह ओंकार के चतुर्थपाद के द्वारा वर्णित होने से 'तुरीय' कहलाता है। दूसरे प्रकरण का नाम है वैतथ्य अर्थात् 'मिथ्यात्व'। इस प्रकरण में जगत् का मायिक होना युक्ति और उपपत्ति के द्वारा पुष्ट किया गया है। यहाँ सबसे पहले स्वप्न दृश्य का मिथ्यात्व प्रतिपादित है। स्वप्न में देखे गये पदार्थ नितान्त असत्य हैं। क्योंकि देह के भीतर नाडी-विशेष में स्वप्न की उपलब्धि होती है। वहाँ पदार्थों की स्थिति के लिए अवकाश कहाँ है? जागने पर स्वप्न में देखे गये पदार्थ कहीं उपलब्ध नहीं होते। जाग्रत् जगत् दृश्य होने के कारण स्वप्न के समान ही है। जगत् का नाना रूप, तरह-तरह की विचित्रता में माया के कारण होता है। माया की महिमा से ही आत्मा अव्यक्त वासना रूप से रहने वाले भेद-समूह को व्यक्त करता है। यह माया न सत् है, न असत्, न सदसत् है। वस्तुतः स्वरूप की विस्मृति ही माया है और स्वरूप के ज्ञान से उसकी निवृत्ति हो जाती है। वास्तविक परमार्थ वह है जिसका न प्रलय है, न उत्पत्ति है। जो न बद्ध है, न साधक है। जो न तो मुक्ति की इच्छा करता है न तो कभी स्वयं मुक्त होता है। यही अखण्ड आत्मतत्व वस्तुतः एकमात्र सत्ता है—

न विरोधो न चोत्पत्तिर्न बद्धो न च साधक.।
न मुमुक्षुर्न वै मुक्त इत्येषा परमार्थता ॥

—माण्डूक्यकारिका, २।३२

अद्वैत प्रकरण में अद्वैत तत्त्व का वर्णन दृढ़ युक्तियों के सहारे सिद्ध किया गया है। यह अद्वैत तत्त्व आत्मा है जो सुख-दुःख के भावों से कभी सम्बद्ध नहीं रहता। उसमें सुख-दुःख की कल्पना करना बालकों की दुर्बुद्धि का विलास है। ठीक उसी प्रकार, जिस प्रकार धूलि और धूम के संसर्ग से हम आकाश को मलिन बतलाते हैं। जिस प्रकार एक घटाकाश के धूलि और धूम से युक्त होने पर समस्त घटाकाशों में यह दोष उत्पन्न नहीं हो जाता, उसी प्रकार एक जीव के सुखी या दुःखी होने पर समस्त जीव सुखी या दुःखी नहीं माने जा सकते (मा०का०२।१५)। वस्तुतः आत्मा अमृत है। आचार्य अजातवाद के समर्थक हैं। उनका यह कहना है कि द्वैतवादी लोग जन्महीन आत्मा के भी जन्म की इच्छा रखते हैं। जो पदार्थ निश्चय ही अजन्मा और मरणहीन है, वह मरणशीलता कैसे प्राप्त कर सकता है? प्रकृति या स्वभाव का परिवर्तन कभी हो नही सकता। अमृत पदार्थ न तो मर्त्य हो सकता है और न मरणशील वस्तु अमर बन सकती है—

अजातस्यैव भावस्य जातिमिच्छन्ति वादिनः।
अजातो ह्यमृतो भावो मर्त्यतां कथमेष्यति ॥

न भवत्यमृतं मर्त्यं न मर्त्यममृतं तथा।
प्रकृतेरन्यथाभावो न कथञ्चिद् भविष्यति ।।
—माण्डूक्यकारिका ३।२०।२१

अतएव आत्मा की उत्पत्ति या जाति नहीं होती, यही गौडपाद का परिनिष्ठित मत है। यही है गौडपाद का विख्यात अजातवाद का सिद्धान्त। इस आत्मा के एकत्व का जब सच्चा बोध उत्पन्न होता है, तब चित्त संकल्प नहीं करता और मन अमनस्त्व को प्राप्त हो जाता है। यह अग्रहण निरोध के कारण उत्पन्न नहीं होता बल्कि ग्राह्य वस्तु के अभाव के ही कारण होता है। इसी को ब्रह्माकार वृत्ति कहते हैं। इस बोध की स्थिति को गौडपाद 'अस्पर्शयोग' के नाम से पुकारते[1] हैं।

चौथे प्रकरण का नाम 'अलातशन्ति' है। अलात शब्द का अर्थ है उल्का या मसाल। मसाल को घुमाने पर उससे तरह-तरह की चिनगारियाँ निकलती हैं और वह घूमता हुआ गोलाकार दीख पड़ता है। परन्तु ज्योंही उसका घुमाना बन्द हो जाता है त्यों ही वह आकार भी गायब हो जाता है। अतः निश्चित है कि यह गोल आकृति की प्रतीति भ्रमणव्यापार से उत्पन्न होती है। इसी प्रकार यह दृश्य प्रपञ्च माया तथा मन के स्पन्दन के कारण उत्पन्न होता है। मन के इस व्यापार के बन्द होते ही यह जगत् न जाने कहाँ चला जाता है। प्रपञ्च की प्रतीति और अप्रतीति दोनों ही भ्रान्तिजनित हैं। परमार्थदृष्टि से न इसकी उत्पत्ति होती है, न लय होता है। कोई भी भ्रान्ति बिना आधार के नहीं हो सकती। सर्प की भ्रान्ति में रज्जु आधार है और चाँदी की भ्रान्ति में शुक्ति। इसी प्रकार जगत् की भ्रान्ति का अधिष्ठान वस्तुतः एक अद्वैत ब्रह्म ही है। यही इस अध्याय का सारांश है।

इस प्रकरण की भाषा, पारिभाषिक शब्द (विज्ञप्ति आदि) तथा सिद्धान्त के अनुशीलन से अनेक आधुनिक विद्वानों की धारणा है कि गौडपाद ने यहाँ बुद्धधर्म के तत्त्वों का ही प्रतिपादन किया है। परन्तु यह ठीक नहीं। बहुत सम्भव है कि ये पारिभाषिक शब्द अध्यात्मशास्त्र के उस समय सर्वजनमान्य साधारण शब्द थे जिनका प्रयोग करना बौद्ध दार्शनिकों के समान गौडपाद के लिए भी न्याय्य था। बौद्धदर्शन के ग्रन्थों से गौडपाद के परिचित होने का हम

---

[1] ग्रहो न तत्र नोत्सर्गश्चिन्ता यत्र न विद्यते।
आत्मसंस्थं तदा ज्ञानमजातिसमतां गतम् ।।
अस्पर्शयोगो वै नाम दुर्दर्शः सर्वयोगिभिः।
योगिनो बिभ्यति ह्यस्मादभये भयदर्शिनः ।। —मा० का० ३।३८।३९

निषेध नहीं करते, परन्तु वेदान्त के छल से बौद्धधर्म के तत्वों का प्रतिपादन करने का दोष उनके ऊपर लगाने के भी हम पक्षपाती नहीं हैं[1]।

गोविन्दपाद

ये गौडपादाचार्य के शिष्य तथा शङ्कराचार्य के गुरु थे। इनकी न तो जीवनी का ही पता चलता है और न इनके द्वारा विरचित किसी वेदान्त ग्रन्थ का हो। शङ्करदिग्विजय से यही पता चलता है कि ये नर्मदा के तट पर रहते थे। ये महायोगी थे तथा इनका देह रसप्रक्रिया से सिद्ध था। ऐसी किंवदन्ती साधकमण्डली में अब भी सुनी जाती है। ये महाभाष्यकार पतञ्जलि के अवतार माने जाते हैं। इनकी एकमात्र रचना है 'रसहृदयतन्त्र' परन्तु यह रसायनशास्त्र का ग्रन्थ है। 'सर्वदर्शनसंग्रह' में माधव ने रसेश्वर-दर्शन के प्रसङ्ग में इस ग्रन्थ का प्रामाण्य स्वीकार किया है तथा इसे उद्धृत भी किया है। इसके सिवा इनके संबंध में विशेष ज्ञात नहीं है।

आचार्य शङ्कर इन्हीं गोविन्दपाद के शिष्य थे। अद्वैत वेदान्त का विपुल प्रचार जो कुछ आजकल दीख पड़ता है, उसका समस्त श्रेय आचार्य शङ्कर तथा उनके शिष्यों को ही है। आचार्य ने प्रस्थानत्रयी पर जिन भाष्यों की रचना की है, वे पाण्डित्य की दृष्टि से अनुपम हैं। इन ग्रन्थों का विवरण विशेष रूप से पहले दिया गया है। शङ्कर के साक्षात् शिष्यों ने जिन ग्रन्थों की रचना की, उनका भी परिचय पहले दिया जा चुका है। अब यहाँ शङ्कर के अनन्तर होने वाले अद्वैत वेदान्त के मुख्य-मुख्य आचार्यों का संक्षिप्त परिचय ही प्रस्तुत किया जा रहा है।

शङ्कर-पश्चात् आचार्य

शङ्कराचार्य के साक्षात् शिष्यों के अनन्तर अनेक आचार्य हुए जिन्होंने आचार्य ग्रन्थों के ऊपर भाष्य लिखकर अद्वैत वेदान्त को लोकप्रिय बनाया। ऐसे अद्वैत वेदान्त के आचार्यों की एक बड़ी लम्बी परम्परा है। परन्तु स्थानाभाव के कारण कतिपय माननीय आचार्यों का ही संक्षिप्त परिचय यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है।

१. सर्वज्ञात्म मुनि—ये सुरेश्वराचार्य के शिष्य थे। इन्होंने अपने गुरु का नाम देवेश्वर लिखा है, जो टीकाकारों के कथनानुसार सुरेश्वर को ही लक्षित करता है। कुछ लोग देवेश्वर को सुरेश्वर से नितान्त भिन्न मानते हैं। इनका रचा हुआ 'संक्षेपशारीरक' नामक ग्रन्थ 'ब्रह्मसूत्र' शाङ्करभाष्य के आधार पर लिखा

[1] द्रष्टव्य—दासगुप्त – History of Indian Philosophy. भाग १, पृ० ४२३—४२९ तथा विधुशेखर भट्टाचार्य—'आगमशास्त्र आफ़ गौडपाद'। इसके खण्डन के लिए देखिए, स्वामी निखिलानन्द कृत 'माण्डूककारिका' का अंग्रेजी अनुवाद भू० प्र० १५ – ३०

गया है। यह चार अध्यायों में विभक्त है। विषयों का क्रम भी वैसा ही है। पहले अध्याय में ५६२, दूसरे में २४८, तीसरे में ३६५ और चौथे में ५३ श्लोक हैं। इस पर अनेक विशिष्ट वेदान्ताचार्यों की टीकाएँ भी विद्यमान हैं, जिनमें नृसिंहाश्रम की 'तत्त्वबोधिनी', मधुसूदन सरस्वती का 'सारसंग्रह', पुरुषोत्तम दीक्षित की 'सुबोधिनी' तथा रामतीर्थ की 'अन्वयार्थप्रकाशिका' प्रधान हैं। सुरेश्वर के अनन्तर सर्वज्ञात्म मुनि श्रृंगेरी पीठ के अध्यक्ष हुए थे, ऐसी मान्यता है।

२. **वाचस्पति मिश्र**—इनका नाम अद्वैत वेदान्त के इतिहास में प्रसिद्ध है। वैशेषिक को छोड़ कर इन्होंने शेष पाँच दर्शनों पर टीकाएँ लिखी हैं। ये टीकाएँ क्या हैं, उन दर्शनों के सिद्धान्त जानने के लिए बहुमूल्य उपादेय ग्रन्थरत्न हैं। ये मिथिला के निवासी थे, अपने आश्रयदाता का नाम इन्होंने राजा नृग लिखा है। 'न्यायसूचीनिबन्ध' की रचना इन्होंने ८९८ विक्रमी (८४२ ई०) में किया[1]। अतः इनका समय नवम शताब्दी का मध्यभाग है। अद्वैत वेदान्त के इनके दो ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं—'भामती' तथा 'ब्रह्मतत्त्वसमीक्षा'। भामती तो 'ब्रह्मसूत्र शाङ्करभाष्य' की सबसे पहली पूरी टीका है। 'ब्रह्मतत्वसमीक्षा' का निर्देश भामती में मिलता है। यह मण्डन मिश्र की 'ब्रह्मसिद्धि' की टीका है और अभी तक उपलब्ध नहीं है। आचार्य के मत को जानने के लिए 'भामती' सचमुच एक विद्वत्तापूर्ण व्याख्या-ग्रन्थ है।

३. **विमुक्तात्मा**—ये अव्ययात्मा के शिष्य थे। इनका 'इष्टसिद्धि' नामक ग्रन्थ बड़ौदा के गायकवाड़ ग्रन्थमाला से हाल में प्रकाशित हुआ है। यह ग्रन्थ अद्वैत वेदान्त के ग्रन्थों में नितान्त मौलिक माना जाता है। प्राचीन काल से ही इसकी कीर्त्ति अक्षुण्ण रूप से चली आ रही है। मधुसूदन सरस्वती ने अपने अद्वैत सिद्धि को सिद्धनामान्त ग्रन्थों में इसीलिए चतुर्थ कहा है। क्योंकि उनके पहले 'ब्रह्मसिद्धि' (मण्डनमिश्र कृत), नैष्कर्म्यसिद्धि (सुरेश्वर कृत) तथा इष्टसिद्धि (अविमुक्तात्मा कृत) पहले से विद्यमान थीं। इसके ऊपर ज्ञानोत्तम की बड़ी प्रामाणिक व्याख्या है। ये टीकाकार मान्य अद्वैती थे। इस टीका के अतिरिक्त इन्होंने (नैष्कर्म्यसिद्धि) पर 'चन्द्रिका' और ब्रह्मसूत्र शारीरक भाष्य पर 'विद्याश्री' नामक दो टीकाएँ रची थीं।

४. **प्रकाशात्म यति**—इन्होंने चन्द्रपादाचार्य की 'पञ्चपादिका' पर विवरण नाम से एक प्रौढ़ व्याख्या-ग्रन्थ की रचना की है। यह ग्रन्थ वेदान्त के इतिहास में इतना महत्त्व रखता है कि 'भामतीप्रस्थान' के अनन्तर इसने एक नए प्रस्थान (विवरण प्रस्थान) को जन्म दिया है। यह ग्रन्थ नितान्त प्रामाणिक माना जाता

[1] न्यायसूची निबन्धोऽयमकारि विदुषां मुदे।
श्रीवाचस्पतिमिश्रेण वस्वङ्कवसु वत्सरे॥

है। इनके दो और भी ग्रन्थ थे— (१) न्यायसंग्रह (शारीरक भाष्य के ऊपर), (२) शब्द निर्णय (स्वतन्त्र ग्रन्थ अनन्तशयन-ग्रन्थावली में प्रकाशित)।

५. श्रीहर्ष—नैषधचरित के रचयिता श्रीहर्ष काव्यजगत् के चित्त को विकसित करनेवाले महाकवि थे। साथ ही साथ अद्वैत वेदान्त के इतिहास में भी इनका नाम विशेष महत्त्व रखता है। इनका 'खण्डनखण्डखाद्य' एक उत्कृष्ट खण्डनात्मक प्रकरणग्रन्थ है। अनेक नैयायिकों ने (यथा अभिनववाचस्पति मिश्र ने 'खण्डनोद्धार' में) इस ग्रन्थ के खण्डन करने का यथासाध्य खूब परिश्रम किया, परन्तु खण्डन की प्रभा किसी प्रकार मलिन नहीं हुई, प्रत्युत शङ्करमिश्र जैसे नैयायिक की टीका से मण्डित होकर यह और भी प्रद्योतित हो उठा। अद्वैत-पाण्डित्य (समय १२वीं शती) की यह कसौटी समझा जाता है।

६. रामाद्वय—यह अद्वयाश्रम के शिष्य थे। इनका प्रसिद्ध ग्रन्थ है 'वेदान्त कौमुदी' जो 'ब्रह्मसूत्र' के प्रथम चार अधिकरणों के ऊपर एक आलोचनात्मक निबन्ध है। यह ग्रन्थ उपलब्ध हुआ है, लेकिन अभी तक प्रकाशित नहीं हुआ है। इनके महत्त्व का परिचय इसी घटना से लग सकता है कि 'सिद्धान्तलेशसङ्ग्रह' तथा अन्य परवर्ती ग्रन्थों में इनका सादर उल्लेख 'कौमुदीकार' के नाम से किया गया है।

७. आनन्दबोधभट्टारक—इनकी सर्वश्रेष्ठ प्रसिद्ध कृति 'न्यायमकरन्द' है जिसने इन्हें अद्वैत-वेदान्त के इतिहास में अमर बना दिया है। ये संन्यासी थे और इनके गुरु का नाम था आत्मवास (समय १२वीं शताब्दी के आस-पास)। इनके अन्य ग्रन्थ हैं—प्रमाणरत्नमाला, न्यायदीपावली, दीपिका (प्रकाशात्म यति के 'शाक निर्णय' की टीका)। चित्सुखाचार्य ने 'न्यायमकरन्द' पर टीका लिखी है।

८. चित्सुखाचार्य—ये बड़े भारी वेदान्ताचार्य थे—(समय १२वीं शताब्दी)। इनके गुरु का नाम था ज्ञानोत्तम जो अपने समय के प्रसिद्ध आचार्य प्रतीत होते हैं और जिनके 'न्यायसुधा' (तत्त्वप्रदीपिका में उल्लिखित) तथा 'ज्ञानसिद्धि' का निर्देश मिला है, परन्तु ये दोनों ग्रन्थ अभी उपलब्ध नहीं हुए हैं। चित्सुख की सबसे प्रसिद्ध पुस्तक है तत्त्वप्रदीपिका (चित्सुखी) जो अद्वैतवेदान्त का एक मौलिक प्रकरणग्रन्थ माना जाता है। इनके अन्य ग्रन्थ ये हैं—(१) भाव-प्रकाशिका (शारीरकभाष्य की टीका), (२) अभिप्राय प्रकाशिका ('ब्रह्मसिद्धि' की टीका), (३) भावतत्त्वप्रकाशिका नैष्कर्म्यसिद्धि पर टीका), (४) भावद्योतिनी (पञ्चपादिका विवरण पर व्याख्या), (५) न्यायमकरन्द टीका, (६) प्रमाणरत्नमाला व्याख्या, (७) खण्डनखण्डखाद्य-व्याख्यान। इनके अतिरिक्त 'अधिकरणसङ्गति' तथा 'अधिकरणमञ्जरी' नामक छोटे ग्रन्थ भी इन्हीं की रचनायें हैं।

९. **अमलानन्द**—ये दक्षिण में देवगिरि के राजा महादेव तथा राजा रामचन्द्र के समसामयिक थे। महादेव ने १२६० से लेकर १२७१ तक शासन किया। इस प्रकार १३वीं सदी का उत्तरार्ध इनके आविर्भाव का समय है। ये दक्षिण के रहने वाले थे। इनकी सबसे उत्कृष्ट कृति है 'वेदान्त कल्पतरु' जो वाचस्पति की भामती का अति उत्कृष्ट व्याख्यान-ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ के ऊपर अप्पयदीक्षित कृत 'परिमल' नितान्त प्रसिद्ध है। अन्य टीकाएँ भी थीं जिनमें वैद्यनाथकृत 'कल्पतरुमञ्जरी' का नाम उल्लेखनीय है। अमलानन्द ने ब्रह्मसूत्र के अभिप्राय को समझाने के लिये 'शास्त्रदर्पण' नामक एक स्वतन्त्र वृत्ति लिखी है। आकार में छोटा होने पर भी यह महत्त्व में किसी प्रकार न्यून नहीं है।

१०. **अखण्डानन्द**—इनके गुरु का नाम आनन्दशैल या आनन्दगिरि था। इन्होंने 'पञ्चपादिका विवरण' के ऊपर 'तत्त्वदीपन' नामक निबन्ध लिखा जो एक प्रामाणिक ग्रन्थ माना जाता है। विवरण के ऊपर 'भावप्रकाशिका' नामक टीका में नृसिंहाश्रम ने इनकी टीका का उल्लेख किया है तथा अप्पयदीक्षित ने इनके मत का उल्लेख किया है। इन्होंने भामती पर 'ऋजुप्रकाशिका' नामक टीका लिखी है।

११. **विद्यारण्य**—वेदभाष्यकार सायणाचार्य के ज्येष्ठ भ्राता माधवाचार्य शृंगेरी पीठ के अध्यक्ष होने पर विद्यारण्य के नाम से प्रसिद्ध हुए। इनके जीवन और ग्रन्थों का विवरण पीछे दिया गया है। इनके दो गुरु थे—विद्यातीर्थ और भारतीतीर्थ। ये दोनों शृंगेरी मठ के आचार्य थे। विद्यातीर्थ की कोई वेदान्ती रचना नहीं मिलती। भारतीतीर्थ का नाम 'वैयासिक न्यायमाला' तथा 'पञ्चदशी' की रचना में विद्यारण्य के साथ संयुक्त मिलता है। विद्यारण्य के समकालीन माधवमन्त्री का भी उल्लेख करना यहाँ उचित है। असाधारण योद्धा होने पर भी ये एक विशेष वेदान्त-ज्ञाता थे जिन्होंने सूतसंहिता के ऊपर 'तत्त्वप्रकाशिका' नामक सुन्दर टीका (समय १४वीं शताब्दी का पूर्वार्ध) लिखी है।

१२. **शङ्करानन्द**—ये भी एक उत्कृष्ट वेदान्ती थे। इन्होंने शाङ्करमत को पुष्ट तथा प्रचारित करने के लिए 'प्रस्थानत्रयी' पर टीकाएँ लिखीं जो 'दीपिका' नाम से प्रसिद्ध हैं। 'ब्रह्मसूत्रदीपिका' बड़ी सरल भाषा में ब्रह्मसूत्र की व्याख्या है। गीता की टीका 'शङ्करानन्दी' जिज्ञासुओं के लिए नितान्त उपादेय है। कैवल्य, कौषीतकी, नृसिंहतापनीय, ब्रह्म, नारायण आदि भिन्न-भिन्न उपनिषदों पर इनकी दीपिका टीका लघुकाय होने पर भी नितान्त उपादेय है।

१३. **आनन्दगिरि**—ये शङ्कराचार्य के भाष्यों के प्रसिद्ध टीकाकार हैं। इन्होंने वेदान्तसूत्र के शाङ्करभाष्य पर 'न्यायनिर्णय' नामक सुबोध टीका लिखी है। इसके अतिरिक्त इनके ग्रन्थ ये हैं—गीताभाष्य की टीका, पञ्चीकरणविवरण,

उपदेशसाहस्री टीका, तथा शङ्करकृत प्रत्येक उपनिषद्भाष्य पर टीकाएँ। इनका दूसरा नाम 'आनन्दज्ञान' है। इनकी सबसे बड़ी पाण्डित्यपूर्ण रचना सुरेश्वराचार्य के 'बृहदारण्यकवार्त्तिक' की टीका है।

१४. प्रकाशानन्द—इनकी एकमात्र रचना है 'वेदान्त-सिद्धान्त-मुक्तावली' जिसने इनका नाम अमर बना दिया। अप्पयदीक्षित के ये पूर्ववर्ती हैं क्योंकि दीक्षित ने 'सिद्धान्तलेश' में इनके नाम का निर्देश किया है। इनका ग्रन्थ एक-जीववाद के ऊपर नितान्त प्रामाणिक, पाण्डित्यपूर्ण तथा प्राञ्जल माना जाता है। इनके शिष्य नाना दीक्षित ने इसके ऊपर 'सिद्धान्तदीपिका' नामक व्याख्या लिखी है।

१५. मधुसूदन सरस्वती—नव्य अद्वैत वेदान्त के इतिहास में इनका नाम अग्रगण्य है। काशी में १६वीं शताब्दी के मध्य में ये रहते थे, और अपने समय के संन्यासी सम्प्रदाय के अग्रणी थे। इनके ग्रन्थ ये हैं—(१) संक्षेप-शारीरक टीका, (२) गीता-टीका (गूढार्थदीपिका), (३) दशश्लोकीटीका (सिद्धान्तबिन्दु), (४) वेदान्तकल्पलतिका (मुक्ति के स्वरूप का विवेचक मौलिकग्रन्थ), (५) अद्वैत रत्नरक्षण (शङ्करमिश्र रचित 'भेदरत्न' का खण्डन)। मधुसूदन की प्रधान कीर्ति है 'अद्वैतसिद्धि'। यह ग्रन्थ 'न्यायामृत' नामक द्वैत मत के ग्रन्थ का खण्डनरूप है, परन्तु सामान्य रूप से नैयायिक-पद्धति से अद्वैत तत्त्व के जानने का सबसे प्रसिद्ध ग्रन्थ है।

१६. नृसिंहाश्रम—ये भी मधुसूदन के समकालीन काशीस्थ प्रौढ़ वेदान्ती थे। ये पहिली अवस्था में दक्षिण में रहते थे, पीछे काशी में आकर रहने लगे। भट्टोजीदीक्षित के घर के सब लोग इनके शिष्य थे। सुनते हैं कि अप्पयदीक्षित ने इन्हीं के प्रभाव में आकर शांकर-मत ग्रहण किया। इनके प्रधान ग्रन्थ ये हैं :—(१) वेदान्त तत्त्वविवेक (रचनाकाल १६०४ संवत्—१५४७ ई०, 'दीपन नामक' इनकी अपनी टीका है), (२) 'तत्त्वबोधिनी' संक्षेपशारीरक की टीका, (३) वेदान्तरत्नकोष (पञ्चपादिका टीका), (४) प्रकाशिका (पञ्चपादिका विवरण की टीका), (५) भावप्रकाशिका (तत्त्वदीपन की टीका), (६) अद्वैतदीपिका तथा (७) भेदधिक्कार (द्वैतवाद का खण्डनरूप नितान्त प्रसिद्ध ग्रन्थ)।

१७. अप्पयदीक्षित—इनकी प्रतिभा सर्वतोमुखी थी। शांकरवेदान्ती होने के पहले ये शिवाद्वैत के पक्षपाती थे। इनका समय १७ वीं शताब्दी (१६ वीं का उत्तरार्ध तथा १७ वीं का आरम्भ) है। मधुसूदन सरस्वती ने 'अद्वैतसिद्धि' में इनका सम्मानपूर्वक उल्लेख किया है। इनके मुख्य वेदान्त ग्रन्थ ये हैं—(१) न्यायरक्षामणि (ब्रह्मसूत्र की टीका), (२) कल्पतरुपरिमल (भामती की टीका 'कल्पतरु' की प्रसिद्ध व्याख्या), (३) सिद्धान्तलेश (अद्वैत वेदान्त के आचार्यों के भिन्न-भिन्न मतों

का प्रामाणिक निरूपण)। इस ग्रन्थ की सहायता से अनेक अनुपलब्ध वेदान्तियों के मतों का परिचय हमें मिलता है। इसके अतिरिक्त 'शिवार्कमणिदीपिका' तथा 'श्रीकण्ठभाष्य' की टीका है। इसके अतिरिक्त 'ब्रह्मतर्कस्तव' में श्रुति, स्मृति तथा पुराणों के द्वारा शिव का प्राधान्य निश्चित किया गया है। 'माध्वमुखमर्दन' माध्वसिद्धान्त का खंडन है।

१८. **धर्मराजाध्वरीन्द्र**—ये नृसिंहाश्रम के प्रशिष्य तथा दक्षिण भारत के वोलांगुलि निवासी वेङ्कटनाथ के शिष्य थे। ये प्रसिद्ध नैयायिक थे। इन्होंने 'तत्त्वचिन्तामणि' की प्राचीन दस टीकाओं का खंडन कर एक नवीन टीका बनाई थी। इनका प्रसिद्ध ग्रन्थ है—'वेदान्तपरिभाषा'। यह वेदान्त के प्रमाण विषयक विचार जानने के लिये प्रसिद्ध ग्रंथ है। इनके पुत्र रामकृष्ण ने इस पर 'वेदान्त-शिखामणि' नामक टीका लिखी है जो प्रकाशित है।

१९—२०. **नारायणतीर्थ तथा ब्रह्मानन्द सरस्वती**—ये दोनों वेदान्त के आचार्य, काशी में ही निवास करते थे। दोनों ने मधुसूदन के 'सिद्धान्तबिन्दु' पर टीकायें लिखी हैं, जिनके नाम क्रमशः 'लघुव्याख्या' तथा 'न्यायरत्नावली' है ब्रह्मानंद वङ्गदेशीय थे, इसलिये वे गौड ब्रह्मानंद के नाम से प्रसिद्ध हैं। इनकी सबसे विशिष्ट कृति है 'अद्वैतसिद्धि' की अद्वैत-चंद्रिका नामक टीका।

२१. **सदानन्द**—ये काश्मीर के रहने वाले थे। ये पूर्वोक्त दोनों आचार्यों के शिष्य थे। इनका विद्वत्तापूर्ण ग्रंथ 'अद्वैतब्रह्मसिद्धि' है। स्वरूप निर्णय, स्वरूप-प्रकाश, तथा ईश्वरवाद इन्हीं की रचनायें हैं जो अब तक अप्रकाशित हैं।

२२. **गोविन्दानन्द**—ये गोपाल सरस्वती के शिष्य थे। ये काशी में ही रहते थे। इन्होंने अपने ग्रन्थ में नृसिंहाश्रम के वचन उद्धृत किये हैं, अतः इनका समय १७ वीं शताब्दी प्रतीत होता है। इनकी सबसे प्रसिद्ध रचना है—शांकरभाष्य पर 'रत्नप्रभाटीका'। यह टीका शारीरक-भाष्य के अर्थ को सरलता से बताने के लिए नितान्त उपयोगी है।

संक्षेपतः अद्वैत-वेदान्त के प्रसिद्ध आचार्यों का सामान्य परिचय यही है।

अष्टादश परिच्छेद

अद्वैतवाद

शङ्कराचार्य ने अद्वैतवाद का प्रतिपादन किया है। उपनिषद्, गीता तथा ब्रह्मसूत्र—इस प्रस्थानत्रयी पर इसी तत्त्व को प्रतिपादन करने के लिए उन्होंने अपना विद्वत्तापूर्ण भाष्य लिखा है। वेदान्त में और भी अनेक मत हैं जिनमें कुछ शङ्कर से प्राचीन भी हैं परन्तु इनका विशेष रूप से प्रतिपादन शङ्कर के पीछे ही किया गया। इन मतों में रामानुज का विशिष्टद्वैत मत, मध्व का द्वैतवाद, निम्बार्क का द्वैताद्वैत तथा वल्लभाचार्य का शुद्धाद्वैत, नितान्त प्रसिद्ध हैं। इन आचार्यों ने भी अपने मत की पुष्टि के लिये ब्रह्मसूत्र तथा गीता पर भाष्य लिखे हैं। उपनिषदों पर भी इनके मतानुसार टीकायें लिखी गईं। शङ्कर के पूर्व भी वेदान्ताचार्यों ने इन ग्रन्थों के ऊपर भाष्य या व्याख्या-ग्रन्थ लिखे थे। परन्तु शङ्कर के भाष्य इतने विशद, इतने पाण्डित्यपूर्ण, इतने सुबोध हुए कि इनके सामने प्राचीन भाष्य ग्रन्थ विस्मृतप्राय हो गये। पिछले आचार्यों को भाष्य लिखने की पेरणा आचार्य के ग्रन्थों से ही मिलो। इस प्रकार वेदान्त के इतिहास में शङ्कराचार्य का कार्य नितान्त व्यापक तथा उपादेय हुआ है, इसे स्वीकार करने में किसी को आपत्ति न होगी।

अद्वैत-सिद्धान्त का मूलमत्र इस सुप्रसिद्ध श्लोक में निबद्ध किया गया है :—

"ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या जीवो ब्रह्मैव नापरः।"

(१) ब्रह्म ही सत्य है, (२) जगत् मिथ्या है, (३) जीव ब्रह्म ही है, (४) जीव ब्रह्म से कथमपि भिन्न नहीं है– ये ही चार सिद्धान्त अद्वैत-वेदान्त की आधार-शिला हैं। इन्हीं का विस्तृत विवेचन हम आगे के पृष्ठों में करेंगे। यह तो हुई वेदान्त की तत्त्वमीमांसा। इसके अनन्तर अद्वैत के साधनमार्ग का प्रतिपादन आचारमीमांसा में किया गया है। अद्वैत-सम्मत प्रमाणमीमांसा का यहाँ उल्लेख स्थानाभाव से नहीं किया गया है।

आत्मा की स्वयंसिद्धता

अद्वैत वेदान्त का मूलमन्त्र है परमार्थसत्ता-रूप ब्रह्म की एकता तथा अनेकात्मक जगत् की मायिकता। इस तथ्य को हृदयङ्गम करने के लिए कतिपय मौलिक-सिद्धान्तों से परिचित होना आवश्यक है। अद्वैत-वेदान्त का एक मौलिक सिद्धान्त है ज़िसे भली-भाँति समझ लेने पर ही अन्य तत्त्वों का अनुशीलन किया

जा सकता है। वह तत्त्व है—आत्मप्रत्यय की स्वयंसिद्धता। जगत् अनुभूति पर अवलम्बित है। अनुभव के आधार पर जगत् के समस्त व्यवहार प्रचलित होते हैं। इस अनुभूति के स्तर में आत्मा की सत्ता स्वत:सिद्ध रूपेण अवस्थित रहती है। विषय के अनुभव के भीतर चेतन विषयी की सत्ता स्वयं सिद्ध है, क्योंकि आत्मा की ज्ञातरूपेण उपलब्धि के अभाव में विषय का ज्ञान नितरां दुरुपपाद है। प्रत्येक अनुभव की प्रक्रिया में अनुभवकर्त्ता को अपनी सत्ता का अनुभव अवश्यमेव होता है, इस सिद्धान्त का प्रतिपादन आचार्य ने बड़े ही सौन्दर्यपूर्ण शब्दों में किया है[1]।

इस उद्धरण का तात्पर्य है कि आत्मा प्रमाण आदि सकल व्यवहारों का आश्रय है, अत: इन व्यवहारों से पहले ही आत्मा की सिद्धि है। आत्मा का निराकरण नहीं हो सकता। निराकरण होता है आगन्तुक (बाहर से आने वाली) वस्तु का, स्वभाव का नहीं। क्या उष्णता अग्नि के द्वारा निराकृत की जा सकती है? ज्ञातव्य में अन्यथाभाव (परिवर्तन) सम्भव है, ज्ञाता में नहीं।

'वर्तमान को इस समय जानता हूँ', 'अतीत वस्तु को मैं जानता हूँ', 'अतीत वस्तु को मैंने जाना' तथा 'अनागत वस्तु को मैं जानूँगा'—इस अनुभव-परम्परा में ज्ञातव्य वस्तु का ही परिवर्तन दृष्टिगोचर होता है, परन्तु ज्ञाता का स्वरूप कथमपि परिवर्तित नहीं होता क्योंकि वह सर्वदा अपने स्वरूप से वर्तमान रहता है। आचार्य ने संक्षेप में अन्यत्र इसी तत्व का प्रतिपादन किया है कि सब किसी को आत्मा के अस्तित्व में भरपूर विश्वास है, ऐसा कोई भी व्यक्ति नहीं है जो विश्वास करे कि मैं नहीं हूँ। यदि आत्मा की अस्तित्व-प्रसिद्धि न होती तो सब किसी को अपने अनस्तित्व में विश्वास होता। परन्तु ऐसा न होने से आत्मा की स्वत: सिद्धि स्पष्टत: प्रमाणित होती है[2]।

अत: आत्मा के अस्तित्व के विषय में शंका करने की तनिक भी जगह नहीं है। यह उपनिषदों का ही तत्त्व है। याज्ञवल्क्य ने बहुत ही पहले कहा था कि जो सब किसी को जानने वाला है उसे हम किस प्रकार जान सकते हैं[3]? सूर्य के प्रकाश से जगत् प्रकाशित होता है, पर सूर्य को क्योंकर प्रकाशित किया जा सकता है?

---

[1] आत्मा तु प्रमाणादिव्यवहाराश्रयत्वात् प्रागेव प्रमाणादिव्यवहारात् सिध्यति। न चेदृशस्य निराकरणं संभवति, आगन्तुकं हि वस्तु निराक्रियते न स्वरूपम्। नहि अग्नेरौष्ण्यमग्निना निराक्रियते—२।३।७

[2] सर्वोहि आत्मास्तित्वं प्रत्येति, न नाहमस्मीति। यदि हि नात्मत्वप्रसिद्धि: स्यात् सर्वो लोको नाहमस्तीति प्रतीयात्। ब्र० सू० १।१।१ पर शांकरभाष्य।

[3] विज्ञातारमरे केन विजानीयात्—बृह० उ० २।४।१४

इसी कारण प्रमाणों की सिद्धि का कारणभूत आत्मा किस प्रमाण के बल पर सिद्ध किया जाय ? अतः आत्मा की सत्ता स्वयं-सिद्ध होती है[1]।

आत्मा की ज्ञानरूपता

आत्मा ज्ञान-रूप है और ज्ञाता भी है। ज्ञाता वस्तुतः ज्ञान से पृथक् नहीं होता। ये दो भिन्न-भिन्न वस्तु नहीं हैं। ज्ञेय-पदार्थ का आविर्भाव होने पर ज्ञान ही ज्ञातारूप से प्रकट हो जाता है। परन्तु ज्ञेय के न होने पर 'ज्ञाता' की कल्पना ही नहीं उठती। जगत् की ज्ञेयरूपेण जब उपस्थिति रहती है, तभी आत्मा के ज्ञातारूप का उदय होता है। परन्तु उसके अभाव में आत्मा की ज्ञानरूपेण सर्वदा स्थिति रहती है। एक ही ज्ञान, कर्त्ता तथा कर्म से सम्बद्ध होने पर भिन्न-सा प्रतीत होता है, परन्तु वह वास्तव में एक ही अभिन्न पदार्थ है। 'आत्मा आत्मानं जानाति' (आत्मा आत्मा को जानता है) इस वाक्य में कर्तारूप आत्मा और कर्मरूप आत्मा एक ही वस्तु है। रामानुज ने भी धर्मीभूत ज्ञान और धर्मभूत ज्ञान को मानकर इसी सिद्धान्त को अपनाया है। नित्य आत्मा को ज्ञानस्वरूप होने में कोई विप्रतिपत्ति नहीं है क्योंकि ज्ञान भी नित्यानित्य भेद से दो प्रकार का होता है। अनित्य ज्ञान अन्तःकरणावच्छिन्न वृत्तिमात्र है जो विषयसान्निध्य होने पर उत्पन्न होता है। परन्तु तदभाव में अविद्यमान रहता है। दूसरा शुद्ध ज्ञान इससे नितान्त भिन्न है। वह सर्वथा तथा सर्वदा विद्यमान रहता है।[2] दृष्टि दो प्रकार की होती है—नेत्र की दृष्टि अनित्य है क्योंकि तिमिर रोग के होने से वह नष्ट हो जाती है—पर रोग के अपनयन होने पर उत्पन्न हो जाती है। किन्तु आत्मा की दृष्टि नित्य होती है। इसीलिए श्रुति आत्मा की दृष्टि को द्रष्टा बतलाती है। लोक में भी आत्मदृष्टि की नित्यता प्रमाणगम्य है क्योंकि जिसका नेत्र निकाल लिया गया हो वह भी कहता है कि स्वप्न में मैंने अपने भाई को या किसी प्रिय को देखा। बधिर पुरुष भी स्वप्न में मन्त्र सुनने की बात कहता है, अतः आत्मा की दृष्टि तथा ज्ञान नित्यभूत है। नित्य आत्मा ज्ञान स्वरूप है, इस विषय में तनिक भी सन्देह नहीं[3]।

प्रत्येक विषय के अनुभव में दो अंश होते हैं—एक तो होता है अनुभव करने वाला आत्मा और दूसरा होता है अनुभव का विषय बाहरी पदार्थ। यथार्थवादी

---

[1] यतो राद्धिः प्रयाणानां स कं तैः प्रसिध्यति।—सुरेश्वराचार्य

[2] ऐतरेय उपनिषद् २।१ का शांकरभाष्य।

[3] द्वे दृष्टी चक्षुषोऽनित्याहृष्टिर्नित्याचात्मनः ।......आत्मदृष्ट्यादीनां प्रसिद्धमेव लोके। वदति हि उद्धृतचक्षुः स्वप्नेऽद्य मया भ्राता दृष्ट इति।
—ऐत० भाष्य २।१

की दृष्टि में जीव और जगत् दो पृथक् स्वतन्त्र सत्तायें हैं, परन्तु सूक्ष्म दृष्टि से विचार करने पर आत्मा ही एक मात्र सत्ता सिद्ध होता है। जगत् की सत्ता केवल लोकव्यवहार को सिद्धि के लिए मानी गई है। अतः वह परमार्थरूप से सत्य न होकर व्यवहाररूप से सत्य है। शङ्कराचार्य जगत् की व्यावहारिकता सिद्ध करने के अवसर पर कहते हैं—ज्ञप्ति[1] (ज्ञान) आत्मा का स्वरूप है तथा नित्य है। चक्षु आदि द्वारों से परिणत होने वाली बुद्धि रूप, रस आदि विषयों का ग्रहण करती है। ये प्रतीतियाँ आत्म-विज्ञान के विषय होकर ही उत्पन्न होती हैं। अतः वे आत्म-ज्ञान के द्वारा व्याप्त होती हैं। इसलिए जगत् की कोई भी वस्तु ऐसी नहीं है जो आत्म-ज्ञान के द्वारा व्याप्त न होकर उत्पन्न होती हो। जगत् के पदार्थ नामरूपात्मक हैं; वे भीतर रहने वाली कारण शक्ति के साथ ही परिवर्तित हुआ करते हैं। नामरूप की जिन-जिन अवस्थाओं में विकृति होती है, उन सब अवस्थाओं में यह विकृति आत्मस्वरूप को छोड़ नहीं सकती। कारण यह है कि कार्यसत्ताओं में कारणसत्ता सर्वदा तथा सर्वथा अनुस्यूत रहती है। जगत् में कार्य-कारण का यही नियम है। कोई भी कार्य अपने कारण को छोड़कर एक क्षण के लिए भी अवस्थित नहीं हो सकता। घट कार्य है मृत्तिका उसका कारण है। क्या घड़ा मिट्टी को छोड़कर एक क्षण के लिए भी टिक सकता है? वस्त्र कार्य है और तन्तु उसका कारण है, अतः वस्त्र एक क्षण के लिए भी अपने कारण तन्तु को छोड़कर रह नहीं सकता। शङ्कराचार्य का कथन इस विषय में नितान्त स्पष्ट है। वे कहते हैं —जगत् के सब पदार्थ केवल सन्मूलक नहीं हैं, अपि तु स्थितिकाल में भी वे सत्रूप ब्रह्म के ऊपर आश्रित रहते हैं[2]। इस सारगर्भित वाक्य का अभिप्राय यह है कि जगत् के पदार्थ कार्यरूप हैं जिनका कारण स्वयं ब्रह्म है। वे अपनी किसी भी अवस्था में ब्रह्म को छोड़कर टिक नहीं सकते। ब्रह्म की सता से तो जगत् के पदार्थों की सता है। जगत् की कलायें उत्पत्ति, स्थिति तथा लय की दशाओं में चैतन्य से पृथक् नहीं रह सकतीं।[3]

अतः अद्वैत-वेदान्त का यह पक्का सिद्धान्त है कि इस विशाल विश्व के भीतर देश काल से विभक्त, भूत, वर्तमान तथा भविष्य में होने वाली कोई भी वस्तु

---

[1] विषयाकारेण परिणामिन्या बुद्धेर्ये शब्दाद्याकारवभासाः त आत्मविज्ञानस्य विषयभूता उत्पद्यमाना एव आत्मविज्ञानेन व्याप्ता उत्पद्यन्ते। —तै० भा० २।१

[2] प्रजाः न केवलं सन्मूला एव, इदानीमपि स्थितिकाले सदायतनाः सदाश्रयाः एव। —छा० भा० ६।४

[3] चैतन्याव्यतिरेकेण एव हि कलाः जायमानाः तिष्ठन्त्यः प्रतीयमानाश्च सर्वदा लक्ष्यन्ते। —प्र० उ० भा० ६।२

ऐसी नहीं है जो आत्मा से पृथक् रह सके—आत्मा से भिन्न हो[1]। सच तो यह है कि नामरूप से जगत् के पदार्थ विभिन्न भले प्रतीत हों परन्तु उनके भीतर चैतन्यरूप से एक ही आत्मा झलक रहा है। कोई भी पदार्थ ऐसा नहीं जो आत्मा से व्याप्त न हो। अतः प्रत्येक अनुभव में हम आत्मा को ही उपलब्धि करते हैं। वही विषय रूप है और विषयी रूप है। अनुभवकर्ता के रूप में वह ही विद्यमान है तथा अनुभव के कर्म रूप से वही अवस्थित है। वह भीतर भी है बाहर भी है, कर्ता भी है कर्म भी है। इसीलिए शङ्कर का कथन है कि इस विश्व में एक ही सत्ता सर्वत्र लक्षित हो रही है। वह अखण्ड है उसका खण्ड नहीं किया जा सकता। बाहरी जगत् में जो पदार्थ दिखलाई पड़ते हैं वे तो इसी महती सत्ता के ऊपर प्रतिष्ठित होकर ही दिखलाई पड़ते हैं। विषयी-विषय का यह पार्थक्य वास्तविक नहीं है अपितु व्यवहार के लिए ही कल्पित किया गया है। तात्पर्य यह है कि जगत् के भीतर सर्वत्र एक निर्विकार सत्ता अखण्ड रूप से व्याप्त है। यही सत्ता नाना रूपों से हमारी दृष्टि के सामने आती है। जिसे हम घट के नाम से पुकारते हैं वह वस्तुतः इस सत्ता का एक उन्मेषमात्र है। वह स्वतन्त्र कोई भी वस्तु नहीं है। शङ्कर के अद्वैत वेदान्त का यही रहस्य है।

ब्रह्म

इस निर्विकल्पक, निरुपाधि तथा निर्विकार सत्ता का नाम ब्रह्म है। उपनिषदों ने निर्गुण तथा सगुण ब्रह्म दोनों का प्रतिपादन किया है। परन्तु आचार्य की सम्मति में निर्गुण ब्रह्म ही उपनिषदों का प्रतिपाद्य विषय है। श्रुति का पर्यवसान निर्गुण की व्याख्या में है क्योंकि निर्गुण ब्रह्म ही पारमार्थिक है। सगुण ब्रह्म तो जगत् के समान मायाविशिष्ट होने से मायिक सत्ता को धारण करता है। आचार्य ने ब्रह्म के वास्तव स्वरूप के निर्णय करने के लिये दो प्रकार के लक्षणों को स्वीकार किया है—(१) स्वरूप लक्षण तथा (२) तटस्थ लक्षण। 'स्वरूप लक्षण' पदार्थ के सत्यतात्त्विक रूप का परिचय देता है परन्तु तटस्थ लक्षण कतिपय कालावस्थायी आगन्तुक गुणों का ही निर्देश करता है। लौकिक उदाहरण से इसका स्पष्टीकरण किया जा सकता है। कोई ब्राह्मण किसी नाटक में एक क्षत्रिय नरेश की भूमिका ग्रहण कर रंगमंच पर अवतीर्ण होता है। वह शत्रुओं को परास्त कर अपनी विजय-वैजयन्ती फहराता है और अनेक शोभन[1] कृत्यों का सम्पादन कर

---

[1]नहि आत्मनोऽन्यत्............तत्प्रविभक्तदेशकालं भूतभवत् भविष्यद्वा वस्तु विद्यते। यदा नामरूपे व्याक्रियते, तदा नामरूपे आत्मस्वरूपापरित्यागेनैव ब्रह्मणाऽप्रविभक्तदेशकाले सर्वासु अवस्थासु व्याक्रियते। —शारी० भा० २।१।६

[2]स्वरूपं सद्व्यावर्तकं स्वरूपलक्षणम्। कदाचित्कत्वे सति व्यावर्तकं तटस्थ-लक्षणम्।

प्रजा का अनुरञ्जन करता है। परन्तु इस ब्राह्मण के सत्य स्वरूप के निर्णय करने के लिये उसे राजा बतलाना क्या उचित है? राजा है वह अवश्य, परन्तु कब तक? जब तक नाटक का व्यापार चलता रहता है। नाटक की समाप्ति होते ही वह अपने विशुद्ध रूप में आ जाता है। अतः उस पुरुष को क्षत्रिय राजा मानना 'तटस्थ लक्षण' हुआ तथा ब्राह्मण बतलाना 'स्वरूप लक्षण' हुआ।

ब्रह्म जगत् की उत्पत्ति, स्थिति तथा लय का कारण है। आगन्तुक गुणों के समावेश करने के कारण यह उसका तटस्थ लक्षण है। 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' (तैति० उ० २। १। १) तथा 'विज्ञानमानन्दं ब्रह्म' (बृह० उप० ३। ९। २८) ब्रह्म के स्वरूप प्रातिपदिक लक्षण हैं। आचार्य ने सत्यादि शब्दों के अर्थों की मार्मिक अभिव्यंजना की है। 'सत्य', 'ज्ञान' तथा 'अनन्त' शब्द एकविभक्तिक होने से ब्रह्म के विशेषण प्रतीत होते हैं। ब्रह्म विशेष्य है और सत्यादि विशेषण हैं। परन्तु विशेषणों की सार्थकता तभी मानी जा सकती है जब एकजातीय अनेक-विशेषण-योगी अनेक द्रव्यों की सत्ता विद्यमान हो। किन्तु ब्रह्म के एक अद्वितीय होने से इन विशेषणों की उपपत्ति नहीं होती। इस पर आचार्य कहते हैं कि ये विशेषण लक्षणार्थ-प्रधान हैं। विशेषण और लक्षण में अन्तर होता है[1]। विशेषण, विशेष्य को उसके सजातीय पदार्थों से ही व्यावर्तन (भेद) करने वाले हैं, किन्तु लक्षण उसे सभी से व्यावृत्त कर देता है। अतः ब्रह्म के एक होने के कारण सत्यं, ज्ञानं ब्रह्म के लक्षण हैं विशेषण नहीं। 'सत्य' का अर्थ है अपने निश्चित रूप से कथमपि व्यभिचरित न होने वाला पदार्थ (यद्रूपेण यन्निश्चितं तद्रूपं न व्यभिचरति तत् सत्यम्) अर्थात् कारण सत्ता ब्रह्म में कारणत्व होने पर मृत्तिका के समान अचिद्रूपता प्राप्त न हो जाय, अतः ब्रह्मज्ञान कहा गया है। ज्ञान का अर्थ है अवबोध। जो वस्तु किसी से प्रविभक्त न हो सके, वही 'अनन्त' है। (यद्धि न कुतश्चित् प्रविभज्यते तद् अनन्तम्) यदि ब्रह्म को ज्ञान का कर्त्ता माना जायगा, तो उसे ज्ञेय, तथा ज्ञान से विभाग करना पड़ेगा। ज्ञानप्रक्रिया में ज्ञाता, ज्ञान तथा ज्ञेय की त्रिपुटी सदैव विद्यमान रहती है। अतः अनन्त होने से ब्रह्म ज्ञान ही है। ज्ञान का कर्ता नहीं, अतः ब्रह्म जगत् का कारण, ज्ञान स्वरूप और पदार्थान्तर से अविभक्त है। वह सत् (सत्ता), चित् (ज्ञान) और आनन्दरूप (सच्चिदानन्द) है। यही ब्रह्म का स्वरूप लक्षण है परन्तु यही ब्रह्म मायावच्छिन्न होने पर सगुण ब्रह्म का स्वरूप धारण करता है परन्तु अपर ब्रह्म या ईश्वर कहलाता है जो इस जगत् की स्थिति, उत्पत्ति तथा लय का कारण होता है।

---

[1] समानजातीयेभ्य एव निवर्तकानि विशेषणानि विशेषस्य। लक्षणं तु सर्वत एव। यथाऽवकाशप्रदानात् आकाशमिति.। —तैति० भा० २। १

शङ्कर-रामानुज में ब्रह्म कल्पना

शङ्कर तथा रामानुज की ब्रह्म-मीमांसा में अन्तर पड़ता है। शङ्कर के अनुसार ब्रह्म सजातीय, विजातीय तथा स्वगत—इन तीनों भेदों से रहित है। परन्तु रामानुज की सम्मति में ब्रह्म प्रथम दो भेदों से रहित होने पर भी स्वगत-भेद शून्य नहीं है, क्योंकि चिदचिद्-विशिष्ट ब्रह्म में चिदंश, अचिदंश से नितान्त भिन्न हैं। अतः अपने में इन भिन्न-विरोधी अंशों के सद्भाव के कारण रामानुज-दर्शन में ब्रह्म स्वगत-भेद सम्पन्न स्वीकृत किया गया है।

निर्विशेष निर्लक्षण ब्रह्म से सविशेष सलक्षण जगत् की उत्पत्ति क्योंकर हुई, एक ब्रह्म से नानात्मक जगत् की सृष्टि कैसे हुई, इस प्रश्न के यथार्थ उत्तर के लिए 'माया' के स्वरूप को जानना परमावश्यक है। शङ्कराचार्य ने माया तथा अविद्या शब्दों का प्रयोग समानार्थक रूप से किया है (शारीरक भा० १।४।३)। परन्तु परवर्त्ती दार्शनिकों ने इन दोनों शब्दों में सूक्ष्म अर्थभेद की कल्पना की है। परमेश्वर की बीजशक्ति का नाम 'माया' है। मायारहित होने पर परमेश्वर में प्रवृत्ति नहीं होती और न वह जगत् की सृष्टि करता है। यह अविधात्मिका बीज-शक्ति 'अव्यक्त' कही जाती है। यह परमेश्वर में आश्रित होने वाली महासुप्तिरूपिणी है जिसमें अपने स्वरूप को न जानने वाले संसारी जीव शयन किया करते हैं[1]। अग्नि की अपृथग्भूता दाहिका शक्ति के अनुरूप ही माया ब्रह्म की अपृथग्भूता शक्ति है। त्रिगुणात्मिका माया ज्ञानविरोधी भाव रूप पदार्थ हैं। भावरूप कहने से अभिप्राय है कि वह अभावरूपा नहीं है। माया न तो सत् है और न असत्। इन दोनों से विलक्षण होने के कारण उसे 'अनिर्वचनीय' कहते हैं। जो पदार्थ सद्रूप से या असद्रूप से वर्णित न किया जा सके उसे 'अनिर्वचनीय' कहते हैं। माया को 'सत्' कह नहीं सकते क्योंकि ब्रह्मबोध से उसका बाध होता है। सत् तो त्रिकालाबाधित होता है। अतः यदि वह सत् होती, तो कभी बाधित नहीं होती। अतः उसकी प्रतीति होती है। इस दशा में उसे असत् कहना भी न्याय-संगत नहीं क्योंकि असत् वस्तु कभी प्रतीयमान् नहीं होती (सच्चेन्न बाध्यते, असच्चेत् न प्रतीयते)। इस प्रकार माया में बाधा तथा प्रतीति उभयविध विरुद्ध गुणों का सदभाव रहने से माया को अनिर्वचनीय ही कहना पड़ता है। प्रमाणसहिष्णुत्व ही अविद्या का अविद्यत्व है[2]। तर्क की सहायता से माया का ज्ञान प्राप्त करना अन्धकार की

---

[1]अविद्यात्मिका हि बीजशक्तिरव्यक्तशब्दनिर्देश्या परमेश्वराश्रया मायामयी महासुप्तिः यस्यां स्वरूपप्रतिबोधरहिताः शेरते संसारिणो जीवाः—शारीरक-भाष्य। —१।४।३

[2]अविद्यया अविद्यत्वमिदमेवतु लक्षणम् यत् प्रमाणसहिष्णुत्वमन्यथा वस्तु सा भवेत्। —बृह० भाष्यवार्तिक १८१

सहायता से अन्धकार का ज्ञान प्राप्त करना है। सूर्योदय काल में अन्धकार की भाँति ज्ञानोदय काल में माया टिक नहीं सकती। अतः नैष्कर्म्यसिद्धि का कहना है कि "यह भ्रान्ति आलम्बनहीन तथा सब न्यायों से नितान्त विरोधिनी है। जिस प्रकार अन्धकार को सूर्य नहीं सह सकता उसी प्रकार माया विचार को नहीं सह सकती।[१]" इस प्रकार प्रमाणसहिष्णु और विचार-सहिष्णु होने पर भी इस जगत् की उत्पत्ति के लिए माया को मानना तथा उसकी अनिर्वचनीयता स्वीकार करना नितान्त युक्ति-युक्त है। इसीलिए शङ्कराचार्य ने माया का स्वरूप दिखलाते समय लिखा है कि माया भगवान् की अव्यक्त शक्ति है जिसके आदि का पता नहीं चलता। यह गुणत्रय से युक्त अविद्यारूपिणी है। उसका पता उसके कार्य से चलता है। वही इस जगत् को उत्पन्न करती है :—

अव्यक्तनाम्नी परमेशशक्तिरनाद्यविद्या त्रिगुणात्मिका या[२]।
कार्यानुमेया सुधियैव माया यया जगत् सर्वमिदं प्रसूयते॥

माया सत् भी नहीं है, असत् भी नहीं है और उभयरूप भी नहीं है। वह न भिन्न है, न अभिन्न है और न भिन्नाऽभिन्न उभय रूप है। न अंगसहित है और न अंगरहित है और न उभयात्मिका ही है, किन्तु वह अत्यन्त अद्भुत अनिर्वचनीय है—वह ऐसी है जो कहीं न जा सके :—

सन्नाप्यसन्नाऽप्युभयात्मिका नो भिन्नाप्यभिन्नाप्युभयात्मिका नो।
सांगाप्यनंगाप्युभयात्मिका नो महाद्भुताऽनिर्वचनीयरूपा[३]॥

माया की दो शक्तियाँ हैं[४]— आवरण तथा विक्षेप। इन्हीं की सहायता से वस्तुभूत ब्रह्म के वास्तव रूप को आवृत्त कर उसमें अवस्तु-रूप जगत् की प्रतीति का उदय होता है।

माया की शक्तियाँ

लौकिक भ्रान्तियों में भी प्रत्येक विचारशील पुरुष को इन दोनों शक्तियों की निःसन्दिग्ध सत्ता का अनुभव हुए बिना रह नहीं सकता। अधिष्ठान के सच्चे रूप को जब तक ढक नहीं दिया जाता तब तक भ्रान्ति की उत्पत्ति हो नहीं

---

[१]सेयं भ्रान्तिर्निरालम्बा सर्वन्यायविरोधिनी।
सहते न विचारं सा तमो यद्वद् दिवाकरम्॥ — नैष्कर्म्यसिद्धि २। ६६

[२-३]विवेक चूड़ामणि, श्लोक ११०, १११, द्रष्टव्य—प्रबोधसुधाकर, ८१–१०६

[४]शक्तिद्वयं हि मायाया विक्षेपावृत्तिरूपकम्।
विक्षेपशक्तिर्लिङ्गादि ब्रह्माण्डान्तं जगत् सृजेत्॥
अन्तर्दृग्दृश्ययोर्भेदं बहिश्च ब्रह्मसर्गयोः।
आवृणोत्यपरा शक्तिः सा संसारस्य कारणम्॥ —दृग्दृश्यविवेक, १३।१५

सकती । भ्रमोत्पादक जादू के खेल इसके प्रत्यक्ष प्रमाण हैं । ठीक इसके अनुरूप ही भ्रान्तिस्वरूपा माया में इन दो शक्तियों की उपलब्धि पाई जाती है । आवरण-शक्ति ब्रह्म के शुद्ध स्वरूप को मानों ढक लेती है और विक्षेप शक्ति उस ब्रह्म में आकाश आदि प्रपंच को उत्पन्न कर देती है । जिस प्रकार एक छोटा-सा मेज दर्शकों के नेत्र को ढक देने के कारण अनेक योजन विस्तृत आदित्यमंडल को आच्छादित-सा कर देता है, उसी प्रकार परिचित अज्ञान अनुभवकर्त्ताओं की बुद्धि को ढक देने के कारण अपविच्छिन्न असंसारी आत्मा को आच्छादित सा कर देता है । इसी शक्ति की संज्ञा 'आवरण' है जो शरीर के भीतर द्रष्टा और दृश्य के तथा शरीर के बाहर ब्रह्म और सृष्टि के भेद को आवृत कर देती है । जिस प्रकार रज्जु का अज्ञानावृत भाव रज्जु में अपनी शक्ति से सर्पादि की उद्‌भावना करता है, ठीक उसी प्रकार माया भी अज्ञानाच्छादित आत्मा में इस शक्ति के बल पर आकाश आदि जगत्प्रपञ्च को उत्पन्न करती है । इस शक्ति का अभिधान विक्षेप है । मायोपाधिक ब्रह्म ही जगत् का रचयिता है । चैतन्य पक्ष के अवलम्बन करने पर ब्रह्म जगत् का निमित्त कारण है और उपाधि पक्ष की दृष्टि में वही ब्रह्म उपादान कारण है । अतः ब्रह्म के जगत्कर्तृत्व में माया को ही सर्वप्रधान कारण मानना उचित है ।

ईश्वर

यही निर्विशेष ब्रह्म माया के द्वारा अविच्छिन्न होने पर जब सविशेष या सगुण भाव को धारण करता है तब उसे 'ईश्वर' कहते हैं । विश्व की सृष्टि, स्थिति तथा लय का कारण यही ईश्वर है । परन्तु ईश्वर द्वारा जगत् की सृष्टि करने में कौन-सा उद्देश्य सिद्ध होता है, यह भी एक विचारणीय प्रश्न है । बुद्धिशाली चेतन पुरुष जब कभी छोटे कार्य में प्रवृत्त होता है तब उसका कोई न कोई प्रयोजन अवश्य रहता है । तब भला संसार की रचना जैसे गुरुतर कार्य का कोई प्रयोजन न होगा, यह कैसे माना जायेगा ? अतः इस प्रयोजन को खोज निकालना आवश्यक है । श्रुति ईश्वर को 'सर्वकामः' कह कर पुकारती है अर्थात् उसकी सब इच्छायें परिपूर्ण हैं । यदि ईश्वर का इस सृष्टिव्यापार से कोई आत्मप्रयोजन सिद्ध होता है तो परमात्मा का श्रुतिप्रतिपादित परितृप्तत्व बाधित होता है । अथ च यदि निरुद्देश्य प्रवृत्ति की कल्पना मानी जाय तो ईश्वर की सर्वज्ञता को गहरा धक्का लगता है । जो सब वस्तुओं का ज्ञाता है वह स्वयं सृष्टि के उद्देश्य से कैसे अपरिचित रह सकता है ? अतः परमेश्वर का यह व्यापार लीलामात्र है । जैसे लोक में सब मनोरथ की सिद्धि होने वाले पुरुष के व्यापार, बिना किसी प्रयोजन के लीला के

लिये होते हैं उसी प्रकार सर्वकाम तथा सर्वज्ञ ईश्वर का यह सृष्टिव्यापार लीला-विलास है[1]।

ईश्वरकर्तृत्व के विषय में वेदान्त तथा न्याय वैशेषिक के मत पृथक्-पृथक् हैं। न्याय ईश्वर को जगत् का केवल निमित्त कारण मानता है। परन्तु वेदान्त के मत में ईश्वर ही जगत् का उपादान कारण भी है। जगत् की सृष्टि इक्षापूर्वक है—स ईक्षांचक्रे, स प्राणमसृजत (प्रश्न उप० ६।३-४)। ईक्षणपूर्वक सृष्टिव्यापार के कर्त्ता होने के कारण ईश्वर निमित्त कारण निःसन्देह है। पर उसके उपादानत्व के प्रमाणों की भी कमी नहीं है। उपनिषद् में इस प्रश्न के उत्तर में कि जिस एक वस्तु के जानने पर सब वस्तुयें ज्ञात हो जाती हैं, ब्रह्म ही उपदिष्ट है। जिस प्रकार एक मृत्पिण्ड के जानने से समग्र मिट्टी के बने पदार्थों का ज्ञान हो जाता है क्योंकि मृत्तिका ही सत्य है, मृण्मय पदार्थ केवल नामरूपात्मक है; उसी प्रकार एक ब्रह्म के जानने पर समस्त पदार्थ जाने जाते हैं (छान्दो० उप० ६।१। २)। ब्रह्म का मृत्तिका के साथ दृष्टान्त उपस्थित किये जाने से ब्रह्म का उपादानत्व नितान्त स्पष्ट है (ब्र० सू० १।४।२३)। मुण्डकोपनिषद् (३।१।३) ब्रह्म को 'योनि' शब्द से अभिहित करता है (कर्तारमीशं पुरुषं ब्रह्म योनिम्)। अतः ब्रह्म ही इस जगत् का निमित्त कारण और उपादान कारण है। वेदान्त चेतन ब्रह्म को जगत्कारण मानने में विरोधियों के अनेक तर्कों का समुचित खण्डन करता है। जो लोग सुख-दुःखात्मक तथा अचेतन जगत् से विलक्षण होने के कारण ईश्वर को कारण मानने के लिये तैयार नहीं हैं, उन्हें स्मरण रखना चाहिये कि अचेतन गोमय (गोबर) से चेतन वृश्चिक (बिच्छू) का जन्म होता है और चेतन पुरुष से अचेतन नख-केश उत्पन्न होते हैं। अतः विलक्षणत्व हेतु से ब्रह्म की जगत्-कारणता का परिहार नहीं किया जा सकता है (शांकरभाष्य २।१।३)। जगत् भोग्य है, आत्मा भोक्ता है। परन्तु उपादान कारण से दोनों की एकता सिद्ध है तो भोक्ता-भोग्य का विधान न्यायसंगत कैसे प्रतीत होगा ? परन्तु यह आक्षेप भी ठीक नहीं है, क्योंकि समुद्र तथा लहरियों में, मिट्टी तथा घड़ों में वास्तविक एकता होने पर भी व्यावहारिक भेद अवश्य है, उसी प्रकार ब्रह्म और जगत् में भी वास्तविक

---

[1] ईश्वरस्याप्यनपेक्ष्य किंचित्प्रयोजनान्तरं स्वभावादेव केवलं लीलारूपा प्रवृत्तिर्भविष्यति। नहीश्वरस्य प्रयोजनान्तरं निरूप्यमाणं न्यायतः श्रुतितो वा संभवति। न च स्वभावः पर्यनुयोक्तुं शक्यते। यद्यप्यस्माकमियं जगद्बिम्बविरचना गुरुतरसंरम्भेवाभाति तथापि परमेश्वरस्य लीलैव केवलेयं अपरिमितशक्तित्वात्। —शां० भा० २।१।३३

अभेद होने पर भी व्यावहारिक भेद अवश्यमेव विद्यमान है—(शां० भा० २।१।१४)।

उपासना के लिये निर्विशेष ब्रह्म सविशेष ईश्वर का रूप धारण करता है। ब्रह्म वस्तुतः प्रदेशहीन है तथा उपाधि विशेष से सम्बन्ध होने से वही ब्रह्म भिन्न-भिन्न प्रदेशों में स्वीकृत किया जाता है। इसीलिये उपनिषदों में सूर्य में, नेत्र में, हृदय में ब्रह्म की उपासना कही गई है। इस बात का स्मरण रखना चाहिये कि उभयबिध ब्रह्म के ज्ञान तथा उपासना का फल भी वस्तुतः भिन्न होता है। जहाँ पर निर्विशेष ब्रह्म आत्मरूप बतलाया है वहाँ फल एकत्व रूप मोक्ष ही होता है। परन्तु जहाँ प्रतीक उपासना का प्रसंग आता है अर्थात् ब्रह्म का सम्बन्ध किसी प्रतीक[1] (सूर्य आकाशादि) विशेष से बतलाया गया है, वहाँ संसारगोचर फल भिन्न-भिन्न उपास्य-उपासक के भेद की दृष्टि से ही कल्पित हैं। अतः ईश्वर और जीव की कल्पना व्यावहारिक होने से दोनों मायिक हैं—उपाधि के काल्पनिक विलास के सिवाय और कुछ नहीं है। इसलिये पञ्चदशीकार कहते हैं[2] :—

उपास्य-ब्रह्म

मायाख्यायाः कामधेनोर्वत्सौ जीवेश्वरावुभौ।
यथेच्छं पिबतां द्वैतं तत्त्वमद्वैतमेव हि॥

जीव

वह चैतन्य जो अन्तःकरण के द्वारा अवच्छिन्न होता है, 'जीव' कहलाता है। आचार्य ने शरीर तथा इन्द्रिय-समूह के ऊपर शासन करने वाले तथा कर्मों के फल भोगने वाले आत्मा को 'जीव' बतलाया है। विचारणीय विषय यह है कि आत्मा की उत्पत्ति बतलाने वाले उपनिषद्वाक्यों का रहस्य क्या है? आत्मा नित्य शुद्ध-बुद्ध-मुक्त स्वभाव माना जाता है। तब उसकी उत्पत्ति कैसे हुई? अनित्य ही वस्तु उत्पन्न होती है। जो आत्मा नित्य है उसकी उत्पत्ति किस प्रकार अङ्गीकृत हो सकती है? इस प्रश्न के उत्तर में बादरायण का स्पष्ट कथन है कि शरीरादिक उपाधियाँ ही उत्पन्न होती हैं। आत्मा नित्य होने से कभी उत्पन्न नहीं होता (२।३।१७ शां० भा०)। शङ्कराचार्य के मत में जीव चैतन्य स्वरूप है। वैशेषिक दर्शन चैतन्य को आत्मा का कदाचित् रहने वाला गुण ही माना है, परन्तु वेदान्त इस बात को स्वीकार करने के लिये तैयार नहीं है। अद्वैत वेदान्त

---

[1] यत्र हि निरस्तसर्वविशेषसम्बन्धं परं ब्रह्मात्मत्वेन उपदिश्यते तत्रैकरूपमेव फलं मोक्ष इत्यवगम्यते। यत्र तु गुणविशेषसम्बन्धं प्रतीकविशेषसम्बन्धं वा ब्रह्मोपदिश्यते, तत्र संसारगोचराण्येव उच्चावचानि फलानि दृश्यन्ते।
—१।३।२४ शां० भा०

[2] पञ्चदशी ६।२३६

के अनुसार परब्रह्म और आत्मा में नितान्त एकता है। ब्रह्म ही उपाधि के सम्पर्क में आकर जीवभाव से विद्यमान रहता है। इस प्रकार दोनों में एकता होने पर यही सिद्ध होता है कि आत्मा चैतन्य रूप ही है। आत्मा के परिमाण के विषय में भी सूत्रकार तथा भाष्यकार ने खूब विचार किया है। अनेक श्रुति-वाक्यों के आधार पर पूर्वपक्ष का कथन है कि आत्मा अणु है। भाष्यकार का उत्तर है—बिलकुल नहीं। जब आत्मा ब्रह्म से अभिन्न ही है तब वह ब्रह्म के समान ही विभु, व्यापक होगा। उपनिषदों में आत्मा को अणु कहने का तात्पर्य यही है कि वह अत्यन्त सूक्ष्म है, इन्द्रियग्राह्य नहीं है। आत्मचैतन्य के प्रकट होने की तीन अवस्थायें हैं—जाग्रत, स्वप्न तथा सुषुप्ति। जाग्रत अवस्था में हम संसार के नाना कार्यों में लगे रहते हैं—हम उठते हैं, बैठते हैं, खाते हैं, पीते हैं। स्वप्नावस्था में हमारी इन्द्रियाँ बाहरी जगत् से हट कर निश्चेष्ट हो जाती हैं। उस समय हम निद्रित रहते हैं। उस समय भी चैतन्य बना रहता है। सुषुप्ति का अर्थ है गाढ़ निद्रा। चैतन्य उस समय भी रहता है, क्योंकि गहरी नींद से उठने पर हम सब लोगों की यही भावना रहती है कि हम खूब आनन्दपूर्वक सोये, कुछ जाना नहीं। चैतन्य इस दशा में भी है। परन्तु शुद्ध चैतन्य इन तीन अवस्थाओं के चैतन्य से तथा अन्नमय, मनोमय, प्राणमय, विज्ञानमय, और आनन्दमय—इन पाँचों कोषों में उपलब्ध चैतन्य से भिन्न है। इस प्रकार आत्मा ब्रह्म के समान ही सच्चिदानन्द रूप है। ब्रह्म जब शरीर ग्रहण कर अन्तःकरण से अवच्छिन्न हो जाता है तब उसे हम 'जीव' के नाम से पुकारते हैं।

जीव की वृत्तियाँ उभयमुखीन होती हैं—बाहर भी होती हैं, भीतर भी होती हैं। जब वे बहिर्मुख होती हैं तब विषयों को प्रकाशित करती हैं। जब वे अन्तर्मुख होती हैं तो अहंकर्ता को प्रकट करती हैं। जीव की उपमा नृत्यशाला में जलने वाले दीपक से दी जा सकती है। दीपक सूत्रधार, सभ्य तथा नर्तकी को एक समान प्रकाशित करता है और इनके अभाव में स्वतः प्रकाशित होता है। इसी प्रकार आत्मा अहंकार, विषय, इन्द्रिय तथा बुद्धि को अवभाषित करता है और इनके अभाव में अपने आप द्योतमान रहता है। बुद्धि में चांचल्य रहता है, अतः इस बुद्धि से युक्त होने पर जीव चंचल के समान प्रतीत होता है। वस्तुतः वह नित्य और शान्त है।

अद्वैत वेदान्त का मूल सिद्धान्त है कि व्यष्टि और समष्टि में किसी प्रकार का अन्तर नहीं। 'व्यष्टि' का अर्थ है व्यक्ति-शरीर। समष्टि का अर्थ है समूहरूपात्मक जगत्। वेदान्त तीन प्रकार का शरीर मानता है—स्थूल, सूक्ष्म और कारण। इनके अभिमानी जीव तीन नामों से अभिहित किये जाते हैं।

स्थूल शरीर के अभिमानी को 'विश्व' कहते हैं। सूक्ष्म के अभिमानी को 'तैजस्' तथा कारण के अभिमानी को 'प्राज्ञ' कहते हैं। यह तो हुई व्यष्टि की बात। समष्टि में भी समष्टि के अभिमानी चैतन्य को क्रमशः विराट् (वैश्वानर), सूत्रात्मा (हिरण्यगर्भ) तथा ईश्वर कहते हैं। व्यष्टि और समष्टि के अभिमानी पुरुष बिलकुल अभिन्न हैं परन्तु आत्मा इन तीनों से परे स्वतंत्र सत्ता है।

निम्नलिखित कोष्ठक में यह विषय संगृहीत किया जाता है—

शरीर	अभिमानी	कोश	अवस्था
स्थूल	समष्टि-वैश्वानर (विराट्) व्यष्टि-विश्व	अन्नमय	जाग्रत
सूक्ष्म	स० सूत्रात्मा व्य० तैजस्	मनोमय प्राणमय विज्ञानमय	स्वप्न
कारण	स० ईश्वर व्य० प्राज्ञ	आनन्दमय	सुषुप्ति

जीव और ईश्वर

जीव और ईश्वर के सम्बन्ध के विषय में ब्रह्मसूत्र तथा शाङ्कर भाष्य में खूब विचार किया गया है। ईश्वर उपकारक है तथा जीव उनके द्वारा उपकार्य है। यह उपकार्य-उपकारक भाव बिना सम्बन्ध के वस्तुओं में नहीं रह सकता। इसलिए दोनों में किसी सम्बन्ध की कल्पना करना उचित है। यह सम्बन्ध अंशांशी[1] भाव है। ईश्वर अंशी है और जीव उसका अंश है—जिस प्रकार अग्नि अंशी है और विस्फुलिंग (चिनगारी) उसका अंश है। सूत्रकार ने तो जीव को अंश ही कहा है (ब्र० सू० २।३।४३)। परन्तु आचार्य का कहना है कि अंश का अर्थ है अंश के समान क्योंकि सावयव वस्तु में अंश हुआ करता है। ईश्वर ठहरा निरवयव। निरवयव की अंशकल्पना कैसे? प्रश्न हो सकता है कि अंग के दुःख से अंगी का दुःखित होना लोकव्यवहार में सिद्ध है। हाथ-पैर आदि अंगों में क्लेश होने पर अंगी देवदत्त स्वयं अपने को दुःखी समझता है। ऐसी दशा में जीव के दुःख से ईश्वर को भी दुःखी होना चाहिए। इसका उत्तर आचार्य ने बड़े ही स्पष्ट शब्दों में दिया है कि जीव का दुःख का अनुभव करना मिथ्याभिमान-जनित भ्रम के कारण होता है। जीव अविद्या के बश में होकर अपने को देह से, इन्द्रियों से, मन से अभिन्न समझ लेता है। फलतः शरीर आदि के दुःखों को वह अपना ही

---

[1] अंशो नानाव्यपदेशात्—ब्र० सू० २।३।४३ पर शा० भा०

दुःख समझकर दुःखी[1] बन जाता है। अतः जब अविद्या के कारण ही जीव दुःखों का अनुभव करता है तब अविद्या से रहित ईश्वर को दुःखों का भोक्ता किस प्रकार माना जा सकता है। इस विषय में प्रकाश का उदाहरण दिया जा सकता है। जिस प्रकार जल में पड़ने वाला सूर्य-विम्ब जल के हिलने से हिलता हुआ दिखलायी पड़ता है परन्तु सूर्य में किसी प्रकार का कम्पन नहीं होता, उसी प्रकार अविद्या-जनित क्लेशों से दुःखित होने वाले जीव के क्लेशों से ईश्वर किसी प्रकार प्रभावित नहीं होता।

जीव ईश्वर का आभास है

जीव न तो साक्षात् ईश्वर ही है न वह वस्त्वन्तर है। वह ईश्वर का आभास उसी प्रकार है जिस प्रकार जल में सूर्य का प्रतिविम्ब। एक जलराशि में जब सूर्य का प्रतिविम्ब कम्पित होता है तो दूसरे जलराशि में पड़ने वाला सूर्य का प्रतिविम्ब कम्पित नहीं होता। इसी प्रकार जब एक जीव कर्म और कर्मफल के साथ सम्बद्ध है तब दूसरा जीव उसके साथ सम्बद्ध हो नहीं सकता। यही कारण है कि कर्म और कर्मफल के बीच किसी प्रकार की असङ्गति नहीं होती। जो जीव कर्म करता है वही उसके फल को पाता है। सामान्य रूप से सभी जीव ईश्वर के आभास हैं; पर इसका यह अर्थ नहीं कि एक जीव के द्वारा किया गया कार्य दूसरे जीव को फल देगा। सूर्य-प्रतिविम्ब के उदाहरण को आचार्य ने ३।२।२० के भाष्य में बड़े स्पष्ट रूप से समझाया है कि "जल में पड़ने वाला सूर्य का प्रतिविम्ब जल के बढ़ने पर बढ़ता है। जब जल घटता है तो वह संकुचित हो जाता है। जल जब हिलता है तब वह भी हिलता है। इस प्रकार प्रतिविम्ब जल-धर्म का अनुयायी होता है लेकिन बिम्बस्थानीय सूर्य स्वतन्त्र रहता है, उसमें किसी प्रकार का परिवर्त्तन नहीं होता। इसी प्रकार ब्रह्म वस्तुतः बिकार-हीन है, एक रूप है परन्तु वह जिन देह, इन्द्रिय आदि उपाधियों को धारण करता है उनके धर्मों को ग्रहण करता-सा प्रतीत होता है। वस्तुतः यह बात नहीं है।"

विचारणीय प्रश्न यह है कि अद्वैततत्व को मानने पर ईश्वर के समान जीव को भी जगत् का कर्त्ता होना अनिवार्य है। इसका उत्तर यह है कि जीव का सामर्थ्य परिमित है। जो कुछ उसकी शक्ति है वह परमेश्वर की अनुकम्पा का फल है। अतः जीव अपनी परिमित शक्ति के बल पर इतने विशाल और विचित्र

---

[1] जीवो ह्यविद्यावेशवशाद् देहाद्यात्मभावमिव गत्वा तत्कृतेन दुःखेन दुःखी अहम् इति अविद्यया कृतं दुःखोपभोगमभिमन्यते। मिथ्याभिमानभ्रमनिमित्त एव दुःखानुभवः—शा० भा० २।३।४६

संसार की सृष्टि कर ही नहीं सकता। यह तो परमेश्वर की लीला का विलास है। परमेश्वर ही नाम-रूप का कर्त्ता है, यह सब उपनिषदों का कथन है[1]। इस पर प्रश्न यह उठता है कि जिस प्रकार अग्नि और स्फुलिंग दोनों में दाहकता तथा प्रकाशकता की शक्ति है उसी प्रकार ईश्वर और जीव दोनों में सृष्टिरचना की शक्ति होनी चाहिए। क्या कारण है कि जीव में सृष्टिकर्तृत्व-शक्ति नहीं रहती। इसका उत्तर शङ्कराचार्य के ही शब्दों में इस प्रकार है—"जीव और ईश्वर में अंशाशी भाव होने पर भी जीव में ईश्वर के विपरीत धर्मों की स्थिति है।" यह घटना नितान्त प्रत्यक्ष है। तो क्या जीव और ईश्वर में समानधर्मता नहीं है? उत्तर—नहीं है। समानधर्मता विद्यमान होने पर भी अविद्या आदि व्यवधानों के कारण छिपा हुआ है। अवश्य ही यह व्यवधान यदि हटाया जाय तो उस शक्ति का उदय हो सकता है। और यह तभी सम्भव है जब उस परमेश्वर की कृपा हो। ईश्वर के ध्यान करने से साधकों में अलौकिक शक्तियाँ देखी जाती हैं जिससे वे नवीन सृष्टि उत्पन्न करने में समर्थ होते हैं। जप, तप तथा योग का यही तो फल है कि तिरोहित शक्ति का फिर से उदय हो। अविद्या का स्थान तिमिररोग के समान है। जिस प्रकार तिमिर रोग (माड़ा का छा जाना) के कारण नेत्रों की दर्शन-शक्ति कुण्ठित हो जाती है पर दवा के सेवन से वह शक्ति फिर प्रकट होती है, उसी प्रकार ईश्वर के स्वरूप के अज्ञान से जीव, बन्धन को प्राप्त होता है और ईश्वर के स्वरूप का ज्ञान हो जाने से उसे मोक्ष प्राप्त हो जाता है[2]।

हमारी इस समीक्षा का यह निष्कर्ष है कि जीव ईश्वर के अंश के समान है। वह परमेश्वर का आभास है, प्रतिबिम्ब है। अविद्या के कारण ही जीव शरीर के साथ सम्बद्ध होने के कारण नाना प्रकार के क्लेशों का अनुभव करता है परन्तु ईश्वर का इससे कोई सम्पर्क नहीं रहता। जहाँ तक जगत् की सृष्टि का सम्बन्ध है, वह शक्ति जीव में नहीं। वह शक्ति अविद्या के कारण तिरोहित हो गयी है।

जगत्

जगत् के विषय में कुछ ऐसे सिद्धान्त हैं जो अद्वैत वेदान्त के अतिरिक्त वेदान्त के अन्य सम्प्रदाय वालों को भी मान्य हैं। जगत् की उत्पत्ति के विषय में अन्य दार्शनिकों ने भी अपनी दृष्टि से खूब विचार किया है। एक सम्प्रदाय का कहना है कि यह जगत् अचेतन परमाणुओं के संघात का परिणाम है (न्याय वैशेषिक)।

---

[1] शा० भा० २।४।२० पर।

[2] 'पराभिध्यानात्तु तिरोहितं ततो ह्यस्य बन्धविपर्ययौ'—३।२।५ पर शा० भा०

तो दूसरे सम्प्रदाय का विश्वास है कि बिना किसी अन्य की सहायता के स्वयं परिणाम को प्राप्त होने वाली जड़ प्रकृति का यह जगत् विकारमात्र है—अर्थात् बिना किसी सहायता के सत्व, रज, और तमगुणविशिष्ट अचेतन प्रकृति स्वयं जगत् के रूप में परिणत हो जाती है—(सांख्य योग)। अन्य दार्शनिकों के मत में इस जगत् की उत्पत्ति दो स्वतंत्र पदार्थों—प्रकृति तथा ईश्वर—के संयोग से होती है जिसमें प्रकृति उपादान कारण होती है और ईश्वर निमित्त कारण होता है—(पाशुपत मत)। इन सिद्धान्तों में शङ्कर को तनिक भी विश्वास नहीं। उनका (तथा रामानुज का भी) यह परिनिष्ठित मत है कि यह जगत् किसी चेतन पदार्थ से आविर्भूत हुआ है। अचेतन वस्तु इस जगत् को उत्पन्न करने में नितान्त असमर्थ है। चेतन तथा अचेतन—ईश्वर तथा प्रकृति—के परस्पर संयोग से जगत् की उत्पत्ति मानना कथमपि युक्ति-युक्त नहीं है। उपनिषद् डंके की चोट पुकार रहा है—सर्वं खल्विदं ब्रह्म—यह सब कुछ ब्रह्म ही है—ब्रह्म के अतिरिक्त कोई भी अन्य सत्ता जब विद्यमान ही नहीं तब प्रकृति की अलग कल्पना करना उपनिषद् से नितान्त विरुद्ध है। प्रकृति की कल्पना केवल अनुमान के भरोसे है। इसीलिये बादरायण ने अपने ब्रह्मसूत्रों में सर्वत्र प्रकृति के लिये 'आनुमानिक' शब्द का प्रयोग किया है। निष्कर्ष यह है कि यह जगत् न तो अचेतन प्रकृति का परिणाम है और न अचेतन परमाणुओं के परस्पर संयोग से उत्पन्न होता है। इसकी उत्पत्ति ब्रह्म से ही होती है। मायाविशिष्ट ब्रह्म ईश्वर कहलाता है, वही इस जगत् की उत्पत्ति में उपादान कारण भी है तथा निमित्त कारण भी। जगत् की सृष्टि में ईश्वर की स्थिति एक ऐन्द्रजालिक की-सी है। जिस प्रकार ऐन्द्रजालिक अपनी माया-शक्ति के द्वारा विचित्र सृष्टि उत्पन्न करने में समर्थ होता है, उसी प्रकार ईश्वर भी माया-शक्ति के बल पर इस जगत् की सृष्टि करता है। जिस प्रकार बीज में अंकुर पहले ही से विद्यमान रहता है उसी प्रकार यह जगत् भी निर्विकल्पक रूप से ईश्वर में ही विद्यमान है। माया के द्वारा देश काल आदि विचित्रता की कल्पना से युक्त होकर यह जगत् मूर्त्त रूप धारण करता है—निर्विकल्पकरूप छोड़ कर सविकल्पक रूप में आता है। ऐन्द्रजालिक के समान तथा महायोगी के सदृश ईश्वर अपनी इच्छा से जगत् का विजृंभण किया करता है।[1] यह उसकी इच्छा-शक्ति का विकास है। जब सृष्टि की इच्छा हुई तब इसका

---

[1] बीजस्यान्तरिवाङ्कुरो जगदिदं प्राङ् निर्विकल्पं पुन-
र्मायाकल्पितदेशकालकलनावैचित्र्यचित्रीकृतम्।
मायावीव विजृम्भयत्यपि महायोगीव यः स्वेच्छया
तस्मै श्रीगुरुमूर्तये नम इदं श्रीदक्षिणामूर्तये॥

विस्तार कर देता है और जब संहार की इच्छा होती है तब इसे समेट लेता है। इस प्रकार यह जगत् अपनी स्थिति, सृष्टि तथा संहार के लिये ब्रह्म के ऊपर ही आश्रित रहता है।

जगत् के इस स्वरूप को समझ लेने पर उसकी सत्ता के प्रश्न का निपटारा भी अनायास किया जा सकता है। समस्या यह है कि जगत् सत्य है या असत्य ? अद्वैतवेदान्त का स्पष्ट उत्तर है—ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या—अर्थात् ब्रह्म ही सत्य है, जगत् मिथ्या है। इस अर्थगर्भित वाक्य के अभिप्राय को ठीक-ठीक न समझने के कारण शिक्षित पुरुषों में भी यह धारणा फैली हुई है कि अद्वैतमत में यह जगत् नितान्त असत्य पदार्थ है। जब जगत् ही असत्य सिद्ध हो गया तब तो उसके कार्यकलाप सुतरां असिद्ध हैं। इस विषय को भलीभाँति समझ लेना विशेष आवश्यक है। सत्य की जो परिभाषा शङ्कराचार्य ने दी है,उसके अनुसार यह जगत् सत्य नहीं माना जा सकता। आचार्य के शब्दों में सत्य का लक्षण है—यद् रूपेण यत् निश्चितं तद्रूपं न व्यभिचरति तत् सत्यम्—अर्थात् जिस रूप से जो पदार्थ निश्चित होता है यदि वह रूप सन्तत समभाव से सर्वदा विद्यमान रहे तो उसे 'सत्य' कहते हैं। इस परिभाषा के अनुसार जगत् कथमपि सत्य नहीं हो सकता। वह प्रतिक्षण में परिणाम प्राप्त करता है। सतत चञ्चल है, नियत परिवर्तनशील है। जिस रूप से हम उसे निश्चित करते हैं वह तो बदलता रहता है। यदि कोई सत्य वस्तु हो सकती है तो वह केवल एकमात्र ब्रह्म ही है, जो तीनों काल में एक रस, सच्चिदानन्द रूप से विद्यमान रहता है।

ऐसी परिस्थिति में यह जगत् ब्रह्म से नितान्त भिन्न होने के कारण सत्य नहीं माना जा सकता। तो क्या यह नितान्त असत्य है ? क्या हमारा उठना-बैठना, खाना-पीना, बोलना-चलना बिल्कुल असत्य है ? शङ्कराचार्य का स्पष्ट उत्तर है कि बिल्कुल नहीं। यह जगत् भी सत्य है। ममतामयी माता का अपने प्यारे पुत्र के लिये प्रेम की अभिव्यक्ति उसी प्रकार सत्य है जिस प्रकार बालक का अपने माता के लिये करुण स्वर में पुकारना। मूल कथा यह है कि सत्ता की कई कोटियाँ हैं। जिस कोटि में हम ब्रह्म को सत्य कहते हैं उसी कोटि से जगत् को सत्य नहीं बतलाते। ब्रह्म की सत्ता पारमार्थिक है, परन्तु जगत् की सत्ता व्यावहारिक है। जब तक हम जगत् में रह कर उसके कार्यों में ही लीन हैं, ब्रह्मज्ञान प्राप्त करने में समर्थ नहीं हुए हैं, तब तक इस जगत् की सत्ता हमारे लिये बनी ही रहेगी। पर ज्योंही परमतत्त्व का ज्ञान हमें सम्पन्न हो जाता है त्योंही जगत् की सत्ता मिट जाती है। उस समय ब्रह्म ही एक सत्ता के रूप में प्रकट हो जाता है। जगत् की जादू के साथ जो तुलना की गयी है, उससे उसके सच्चे स्वरूप का भलीभाँति परिचय मिल जाता है। जादू किसे मोह में डालता है ? उसी को तो जो उस इन्द्र

जाल के रहस्य को नहीं जानता। उसके रहस्य जानने वाले व्यक्ति के लिये वह इन्द्रजाल व्यामोह का कारण नहीं बनता। जगत् की भी ठीक यही दशा है। जो इसके रहस्य से परिचित है, जो जानता है कि यह जगत् माया के द्वारा ब्रह्म के ऊपर कल्पित किया गया है, उसके लिए जगत् की सत्ता अकिञ्चित्कर है। जो उसे नहीं जानता, जो 'जायस्व म्रियस्व' की कोटि में है, उसके लिए तो जगत् की सत्ता विद्यमान रहती ही है।

विज्ञानवादी बौद्धों के मत का खण्डन करते हुए शङ्कराचार्य ने जगत्-विषयक पूर्वोक्त मत को स्पष्ट रूप से प्रतिपादित किया है। विज्ञानवादी केवल विज्ञान को ही सत्य मानते हैं, उनकी दृष्टि में जगत् सदा असत्य है। उनका कहना है कि विषय, इन्द्रिय तथा विषय इन्द्रिय का संयोग जिससे वस्तु की प्रतीति हुआ करती है, ये सब बुद्धि में विद्यमान हैं। जगत् के समस्त पदार्थ स्वप्न के समान झूठे हैं। जिस प्रकार स्वप्न में मृगमरीचिका आदि वस्तु बाहरी पदार्थ के अस्तित्व के बिना ही आकार धारण करते हैं, उसी प्रकार जाग्रत् दशा के स्तम्भ आदि पदार्थ भी बाह्य सत्ता से शून्य हैं।[1] इस मत का खण्डन शङ्कर ने बड़ी सुन्दर युक्तियों के सहारे किया है। इनका कहना है कि जगत् के पदार्थों का हमें हर एक क्षण में अनुभव हो रहा है। कभी हमें उस लेखनी का ज्ञान होता है जिसके सहारे हम अपने विचारों को लिपिबद्ध करते हैं। और कभी हमारा ध्यान उस मसीपात्र की ओर जाता है और कभी कागज पर। यह कहना कि कलम, स्याही और कागज केवल हमारी बुद्धि में ही रहते हैं और बाहरी सत्ता नहीं रखते, उसी प्रकार हास्यास्पद है जिस प्रकार स्वादु-भोजन कर तृप्ति प्राप्त करने वाला मनुष्य न तो अपनी तृप्ति को ही माने और न भोजन की ही बात स्वीकार करे। जगत् के पदार्थ को हम स्वप्नवत् कभी भी नहीं मान सकते। स्वप्न और जागरित अवस्था में महान् भेद है। स्वप्न में देखे गये पदार्थों का जागरित अवस्था में नाश हो जाता है। अतः वे पदार्थ बाधित होते हैं। परन्तु जागरित अवस्था में अनुभव किये गये घट-पट आदि पदार्थ किसी भी अवस्था में बाधित नहीं होते। क्योंकि उनकी उपलब्धि सर्वदा होती रहती है। एक और महान् अन्तर है। स्वप्नज्ञान स्मृतिमात्र है क्योंकि जागने पर स्वप्न में देखे गये पदार्थों की स्मृति केवल रह जाती है। परन्तु जागरित अवस्था के पदार्थों का ज्ञान अनुभवरूप से होता है। इतने स्पष्ट भेद रहने पर भी यदि हम जगत् के

---

[1] यथा हि स्वप्नमायामरीच्युदकगन्धर्वनगरादिप्रत्यया विनैव बाह्येनार्थेन ग्राह्यग्राहकाकारा भवन्ति। एवं जागरितगोचरा अपि स्तम्भादिप्रत्यया भवितुमर्हन्ति प्रत्ययत्वाविशेषात्। ब्रह्मसूत्र। २। २। २८ शां० भा०।

पदार्थ को स्वप्नवत् मिथ्या कहें तो यह सत्य का अपलाप है। तब तो नील पदार्थ को पीत कहने में किसी प्रकार की हानि नहीं होगी[1]।

जगत् के विषय में शङ्कराचार्य के ये विचार इतने स्पष्ट हैं कि कोई भी विचार-शील पुरुष उन्हें जगत् को स्वप्नवत् मिथ्या बतलाने का तथा अकर्मण्यता के प्रचार करने का दोष कभी भी नहीं दे सकता। कोई भी दार्शनिक व्यवहार का अपलाप नहीं कर सकता। अवश्य ही ब्रह्म और आत्मा के ऐक्य का ज्ञान हो जाने पर ज्ञानी पुरुषों के लिए ही यह सांसारिक अनुभव ब्रह्मानुभव के द्वारा बाधित होता है। पर व्यवहार-दशा में यह जगत् इतना ठोस और वास्तव है जितना अन्य कोई पदार्थ। अतः जगत् की पारमार्थिकी सत्ता न होने पर भी व्यावहारिक सत्ता तो है ही।

सत्ता

जगत् के विषय में हमने अभी सत्ता विषयक कुछ बातें कहीं हैं। इसके स्वरूप को ठीक-ठीक जान लेना आवश्यक है। वेदान्त तीन प्रकार की सत्ता मानता है—(क) प्रातिभासिक, (ख) व्यावहारिक और (ग) पारमार्थिक।

(क) प्रातिभासिक सत्ता—इससे उस सत्ता से अभिप्राय है जो प्रतीति-काल में सत्य भासित हो परन्तु आगे चलकर (उत्तरकाल में) दूसरे ज्ञान के द्वारा बाधित हो जाय, जैसे रज्जु में सर्प की भावना अथवा शुक्ति में चाँदी की भावना। रज्जु में जब सर्प का अनुभव होता है उससे पूर्व काल में भी रज्जु सर्प-ज्ञान को उत्पन्न करती है, वर्तमान काल में उसी के आधार पर सर्वज्ञान की स्थिति है और भविष्य में रज्जु-ज्ञान के उदय होने पर सर्प-ज्ञान इसी में विलीन हो जायेगा। अतः रज्जु सर्प-ज्ञान आकाश-कुसुम के समान निराधार नहीं है, बल्कि उसमें दोष यही है कि उत्तरकाल में होने वाले रज्जु-ज्ञान के द्वारा वह बाधित हो जाता है। घनघोर अन्धकारमयी रजनी में रास्ते में पड़ी हुई रस्सी को देखकर हमें सर्प का भ्रम होता है। संयोगवश हाथ में दीपक लेकर कोई पथिक उधर से आ निकलता है तो हम उस दीपक की सहायता से उस रस्सी को देखकर 'यह रस्सी है' यथार्थ अनुभव प्राप्त कर लेते हैं। यहाँ सर्पज्ञान पूर्वकालीन है और रज्जु-ज्ञान

---

[1] न च उपलभ्यमानस्यैवाभावो भवितुमर्हति। यथा हि कश्चिद् भुञ्जानो भुजिसाध्यायां तृप्तौ स्वयमनुभूयमानायामेवं ब्रूयान्नाहं भुञ्जे न वा तृप्यामीति, तद्वदिन्द्रियसंन्निकर्षेण स्वयमुपलभमान एव बाह्यमर्थंनाहमुपलभे नच सोऽस्तीति ब्रुवन् कथमुपादेयवचनः स्यात्।—ब्रह्मसूत्र २।२।२८ पर(शां० भा०)

उत्तरकालीन है। जब तक रज्जु-ज्ञान नहीं हो जाता तब तक सर्प-ज्ञान बना ही रहता है। यही प्रातिभासिक सत्ता का उदाहरण है।[1]

(ख) व्यावहारिक सत्ता—यह सत्ता वह है जो इस जगत् के समस्त व्यवहार-गोचर पदार्थों में रहती है। पदार्थों में पाँच धर्म दीख पड़ते हैं[2]। वे संसार में विद्यमान रहते हैं (अस्ति)। वे प्रकाशित होते हैं (भाति)। वे हमें आनन्द देते हैं (प्रिय)। उनका एक विशिष्ट रूप होता है (रूप) तथा उनका कोई न कोई नाम होता है (नाम)। ये ही पाँचों धर्म—अस्ति, भाति, प्रिय, रूप तथा नाम—संसार के प्रत्येक पदार्थ में विद्यमान रहते हैं। इनमें प्रथम तीन तो ब्रह्म के रूप हैं और अन्तिम दो धर्म जगत् के। वह परम ब्रह्म जगत् के पदार्थों में घुल-मिल कर रहता है। वह सच्चिदानन्द रूप है। इन तीनों रूपों की सत्ता जगत् के पदार्थों में विद्यमान है। पदार्थों की अपनी विशिष्टताएँ दो ही हैं—नाम और रूप। पदार्थों का कोई न कोई नाम और कोई न कोई रूप है, वस्तुओं की सत्ता मानना व्यवहार के लिए नितान्त आवश्यक है। अन्तर इतना ही है कि आत्म-साक्षात्कार होने पर यह अनुभव बाधित हो जाता है। अतः जगत् को एकान्त सत् हम नहीं मान सकते; व्यवहारकाल में ही जगत् सत्य है। इसलिए जगत् के विकारात्मक पदार्थों की सत्ता व्यावहारिकी है।[3]

(ग) पारमार्थिक सत्ता—इन वस्तुओं से विलक्षण एक अन्य वस्तु है जो तीनों कालों में अबाधित रहती है। अतः वह एकांत सत्य है। वह भूत, भविष्य और वर्तमान तीनों काल में एक रूप रहने वाला है। वही ब्रह्म है। ब्रह्म की ही सत्ता को पारमार्थिक सत्ता कहते हैं। जब ब्रह्मज्ञानी की दृष्टि से जगत् को देखते हैं तभी यह असत् प्रतीत होता है। परन्तु व्यवहार के लिए बिलकुल पक्का और ठोस है। इन तीनों से भिन्न कतिपय पदार्थ हैं जैसे वन्ध्यापुत्र (बाँझ स्त्री का

---

[1] रज्जुवात्मनाऽवबोधात् प्राक्सर्पः सन्नेव भवति सतो विद्यमानस्य वस्तुतो रज्वादेः सर्पादिवत् जन्म युज्यते।—माण्डूक्यकारिका ३।२७ पर शाङ्कर भाष्य।

[2] अस्ति भाति प्रियं रूपं नाम चेत्यंशपञ्चकम्।
आद्यत्रयं ब्रह्मरूपं जगद्रूपं ततो द्वयम्॥दृग्दृश्यविवेक, श्लोक २०

[3] यावद्धि न सत्यात्मैकत्वप्रतिपत्तिस्तावत्प्रमाणप्रमेयफललक्षणेषु विकारेष्वनृतत्वबुद्धिर्न कस्यचिदुत्पद्यते। विकारानेव त्वहं ममेत्यविद्ययात्मात्मीयेन भावेन सर्वो जन्तुः प्रतिपद्यते स्वाभाविकीं ब्रह्मात्मतां हित्वा। तस्मात्प्राग्ब्रह्मात्मता प्रतिबोधादुपपन्नः सर्वो लौकिको वैदिकश्च व्यवहारः॥ २।१।१४ पर शां० भा०।

लड़का), आकाश कुसुम, आदि-आदि। ये पदार्थ बिना किसी आधार के हैं। इसीलिए इन्हें तुच्छ या अलीक कहा गया है। इसमें किसी प्रकार की सत्ता दृष्टिगोचर नहीं होती। ये नितान्त असत्य हैं। किसी काल में इनकी सत्ता दिखलायी नहीं पड़ती। सत्ताविहीन होने से ये त्रिविध-सत्ता के जगत् के बाहर हैं। इसका प्रतिपादन माण्डूक्यकारिका में आचार्य गौडपाद ने बड़े ही सुन्दर ढङ्ग से किया है :—

असतो मायया जन्म तत्त्वतो नैव युज्यते।
बन्ध्यापुत्रो न तत्त्वेन मायया वापि जायते॥ मा० क० ३।२८

अध्यास

अद्वैत वेदांतियों का बड़ा महत्त्वपूर्ण प्रश्न है कि जब आत्मा स्वभाव से ही नित्यमुक्त है तब वह इस संसार में बद्ध क्यों दृष्टिगोचर हो रहा है ? जब वह निरतिशय आनन्द रूप ही ठहरा तब वह इस प्रपञ्च के पचड़े में पड़कर विषम दु:खों के मिलने के कष्ट क्यों उठा रहा है ? इसका एकमात्र उत्तर है—अध्यास के कारण। अध्यास है कौन-सी वस्तु ? आचार्य के शब्दों में इसका लक्षण है—"अध्यासो नाम अतस्मिन् तद्बुद्धि:"—तत्पदार्थ में तद्भिन्न पदार्थ का आरोप करना अध्यास है। अर्थात् किसी वस्तु में उससे भिन्न वस्तु के धर्मों का आरोप करना। जैसे पुत्र या स्त्री के सत्कृत या तिरस्कृत होने पर जब मनुष्य अपने को सत्कृत या तिरस्कृत समझता है तब वह अपने में बाह्य धर्मों का आरोप कर रहा है। इसी प्रकार इन्द्रियों के धर्मों के कारण जब कोई व्यक्ति अपने को अन्धा, लँगड़ा, चलने वाला तथा खड़ा होने वाला समझ लेता है तब अपने में आभ्यंतर धर्मों का आरोप करता है। यह अध्यास अविद्या विजंृभित है। आत्मा के विषय में अध्यास क्यों चला और कब से चला, इसका उत्तर आचार्य ने बड़ी सुन्दरता के साथ भाष्य के आरम्भ ही में दिया है।

आत्मा के विषय में तो अध्यास असम्भव दीख पड़ता है। अध्यास तो एक विषय के ऊपर या अन्य विषय के ऊपर अन्य विषय के गुणों का आरोप करता है। परन्तु आत्मा तो विषय नहीं है, विषयी है। संसार में दो ही तरह की तो सत्ता है—विषयी (मैं, अहम् आदि) तथा विषय। अहम् से अतिरिक्त यावत् पदार्थ के प्रत्येक विषय का अनुभव आत्मा ही करता है। वह स्वयं कर्त्ता है, भोक्ता है, ज्ञाता है। वह कार्य नहीं है, भोग्य नहीं है, ज्ञेय नहीं है। ऐसी दशा में विषयी आत्मा के ऊपर विषय के धर्मों का आरोप क्योंकर हो सकता है ? यही तो विचारणीय प्रश्न है। इसका उत्तर देते हुए आचार्य कहते हैं कि आत्मा का विषयी होना ठीक है, उचित है; परन्तु आत्मा विषय भी होता है। जब हम

अनुभव करते हैं कि 'मैं हूँ, मैं सोता हूँ, मैं जागता हूँ' तो ऐसे ज्ञानों का विषय आत्मा ही तो होता है। अतः आत्मा भी कभी-कभी विषय होता है, यह मानना ही पड़ेगा। यह कोई नियम नहीं है कि प्रत्यक्ष विषय में ही विषयान्तर का आरोप किया जाय। आकाश अप्रत्यक्ष है परन्तु इसी आकाश पर बालकगण मलिनता आदि धर्मों का आरोप किया करते हैं। उसी प्रकार आत्मा के अप्रत्यक्ष होने पर भी शरीर धर्म का आरोप करना अस्वाभाविक नहीं है[1]।

अध्यास कब से चला ?

इसके उत्तर में आचार्य का स्पष्ट कथन है कि अध्यास अनादि है, अनन्त है, नैसर्गिक है। मिथ्याज्ञान रूप है, कर्तृत्व और भोक्तृत्व का प्रवर्तक है, सब के लिए प्रत्यक्ष है। जगत् के समस्त प्रमाण और प्रमेय व्यवहार की मूलभित्ति यही अध्यास है। इस विषय में पशु और मनुष्य में किसी प्रकार का अन्तर नहीं हैं। हरी-हरी घास पूर्ण अञ्जलि वाले व्यक्ति को अपनी ओर आते हुए देख कर पशु उसकी ओर लपकता है और किसी के हाथ में डण्डा देखकर सहम जाता है तथा भाग खड़ा होता है। ठीक इसी प्रकार मनुष्य भी खड्ग आदि डरावने हथियारों वाले व्यक्ति को देख कर त्रस्त होता है और अच्छी-अच्छी लुभावनी वस्तुओं को लिये हुए व्यक्ति को देखकर उसकी ओर आकृष्ट होता है। अतः पशु तथा मनुष्य, दोनों का उक्त व्यवहार समान कोटि का है। यह सब अज्ञान ही है और इसी को अध्यास कहते हैं—"तमेतमेवं लक्षणमध्यासं पण्डिता अविद्येति मन्यन्ते। तद्विवेकेन च वस्तुस्वरूपावधारणं विद्यामाहुः"—शङ्कर के इन शब्दों से स्पष्ट प्रतीत होता है कि अध्यास ही अज्ञान है। इस अध्यास को दूर करने का एकमात्र उपाय आत्मस्वरूप का ज्ञान ही है[2]। स्व स्वरूप का ज्ञान अपने प्रयत्न से साध्य है, किसी अन्य के द्वारा साध्य नहीं। आचार्य का कथन बहुत ही सुन्दर है[3]—

> ऋण-मोचन-कर्तारः पितुः सन्ति सुतादयः।
> बन्धमोचन-कर्ता तु स्वस्मादन्यो न विद्यते॥

---

[1]आह कोऽयमध्यासो नामेति। उच्यते—स्मृतिरूपः परत्र पूर्वदृष्टावभासः। सर्वथापि त्वन्यस्यान्यधर्मावभासतां न व्यभिचरति। तथा लोकेऽनुभवः—शुक्तिकाहिरजतवदवभासते,एकश्चन्द्रःसद्वितीयवदिति—शां० भा० उपोद्घात :

[2]एवमनादिरनन्तो नैसर्गिकोऽध्यासः मिथ्याप्रत्ययरूपः कर्तृत्वभोक्तृत्व-प्रवर्तकः सर्वलोकप्रत्यक्षः—शां० भा० उपोद्घातः।

[3]विवेकचूडामणि, श्लोक ५३।

विवर्तवाद

हमने देखा है कि इस जगत् का उदय ब्रह्म से है। वही इसका उपादान कारण है और स्वयं वही इसका निमित्त कारण है। ब्रह्म कारण है, जगत् उसका कार्य है। कार्य-कारण के विषय में दार्शनिकों के नाना मत हैं। यथार्थवादी (जैसे न्याय-वैशेषिक, मीमांसा आदि) दर्शन आरंभवाद मानते हैं। उनके मत में जगत् का आरम्भ परमाणुओं से होता है। कारण के समान कार्य भी नवीन वस्तु है। उसका आरम्भ होता है; पहले यह उसमें था नहीं। सांख्य-योग परिणामवाद मानता है। जिस प्रकार दूध में दही पहले से ही अव्यक्त रूप से विद्यमान है, उसी प्रकृति में अव्यक्त रूप से जगत् विद्यमान रहता है। इसी का दूसरा नाम सत्कार्य-वाद है। अद्वैतवेदान्त की कार्य-कारण कल्पना इन दोनों से ऊपर जाती है। अद्वैत की दृष्टि में ये दोनों मत भ्रान्त हैं। परमाणुओं की कल्पना तर्कहीन होने से नितान्त अयुक्त है। परिणामवादी कार्य द्रव्य को कारण से अभिन्न और साथ ही साथ भिन्न भी मानते हैं। परन्तु यह बात युक्ति-युक्त नहीं है। घट और शराब (पुरवा) दोनों मृत्तिका के कार्य हैं, अतः मृतिका से अभिन्न हैं, परन्तु वे आपस में भिन्न क्यों हैं? जो घट है वह शराब नहीं, जो शराब है वह घट नहीं। इस प्रकार अभिन्न होते हुए भी आपस में यह भेद कहाँ से आया? यदि यह परस्पर भेद प्रत्यक्ष माना जाय तो इसका मूल कारण जो मृत्तिका है, उसको भी परस्पर भिन्न मानना ही पड़ेगा। एक ही साथ दो वस्तुओं को भिन्न और अभिन्न मानना ठीक नहीं जान पड़ता। एक ही सत्य हो सकती है, दूसरी कल्पित ही होगी। अभेद भेद (नाना को कल्पित मानना उचित है। ऐसा न मानने पर असंख्य परमार्थ वस्तुओं की सत्ता माननी पड़ती है। अतः वेदान्त के अनुसार एकमात्र कारणरूप ब्रह्म ही अविनाशी निर्विकार तथा सत्पदार्थ है। उससे उत्पन्न होने वाला यह जो जगत् है, वह मिथ्या है, कल्पनामूलक है। फलतः कारण ही एक-मात्र सत्य है। कार्य मिथ्या या अनिर्वचनीय है। जगत् माया का तो परिणाम है पर ब्रह्म का विवर्त है। इन दोनों शब्दों का मार्मिक भेद वेदान्तसार में इस प्रकार बतलाया है :—

स तत्त्वतोऽन्यथाप्रथा विकार इत्युदीरितः।
अतत्त्वतोऽन्यथाप्रथा विवर्त इत्युदीरितः॥

तात्त्विक परिवर्तन को **विकार** तथा अतात्त्विक परिवर्तन को **विवर्त** कहते हैं। दही, दूध का विकार है परन्तु सर्प, रज्जु का विवर्त है क्योंकि दूध और दही की सत्ता एक प्रकार की है। सर्प की सत्ता काल्पनिक है परन्तु रज्जु की सत्ता

वास्तविक है (२ । १ । ७ शां० भा०) । इस प्रकार पञ्चदशीकार की सम्मति में भी कार्यदशा की कल्पना अज्ञानमूलक है[1] ।

जगत् के लिए ऊपर अनिर्वचनीय शब्द का प्रयोग किया गया है । इस शब्द का अर्थ जान लेना उचित है । **'अनिर्वचनीय'** का अर्थ है जिसका निर्वचन लक्षण ठीक ढंग से न किया जा सके, जैसे रस्सी में सर्प का ज्ञान । रस्सी में सर्प का ज्ञान सत्य नहीं है क्योंकि दीपक के लाने और रज्जु-ज्ञान के उदय होने पर सर्प-ज्ञान बाधित हो जाता है । परन्तु उसे असत् भी नहीं कह सकते, क्योंकि उस रज्जु के ही भय के कारण कम्प आदि की उत्पत्ति होती है । रस्सी को साँप समझ कर आदमी डर के मारे भाग खड़ा होता है । अतः यह ज्ञान सद् तथा असद् उभयविलक्षण होने से अनिर्वचनीय या मिथ्या कहलाता है । यह ज्ञान अविद्या से उत्पन्न होता है, अतः वेदान्त में **'मिथ्या'** का अर्थ असत् नहीं है, प्रत्युत् अनिर्वचनीय है[2] ।

आचार-मीमांसा

जीव अपने स्वरूप के अज्ञान के ही कारण इस संसार में अनंत क्लेशों को भोगता हुआ अपना जीवन पालन करता है । वह अपने शुद्ध-बुद्ध-मुक्त स्वभाव को अविद्या के कारण भूला हुआ है । वह वास्तव में सच्चिदानन्दात्मक ब्रह्म स्वरूप ही है । आत्मा तथा ब्रह्म में नितान्त ऐक्य है । उस ब्रह्म की प्राप्ति तथा शोक की निवृत्ति ही मोक्ष कहलाता है[3] । अब इस मोक्ष के साधन-मार्ग की रूपरेखा का निरूपण करना नितान्त आवश्यक है ।

भिन्न-भिन्न दृष्टिकोण से दार्शनिकों ने केवल कर्म, कर्मज्ञान-समुच्चय तथा केवल ज्ञान को साधनमार्ग बतलाया है । शङ्कराचार्य ने अपने भाष्यों में पूर्व दोनों मार्गों का सप्रमाण सयुक्तिक विस्तृत खण्डन कर अन्तिम साधन को ही प्रमाण कोटि में माना है । उनका कहना है कि स्वतन्त्र अथ च भिन्न-भिन्न फलों के उद्देश्य से प्रवृत्त होने वाली दो निष्ठाएँ हैं—**कर्म-निष्ठा** तथा **ज्ञान-निष्ठा** । इन दोनों का पार्थक्य नितान्त स्पष्ट है । मानव-जीवन के दो उद्देश्य हैं— सांसारिक

---

[1] **निरूपयितुमारब्धे निखिलैरपि पण्डितैः ।**
अज्ञानं पुरतस्तेषां भाति कक्षासु कासुचित् ॥—पञ्चदशी ६ । ४३

[2] **पञ्चपादिका पृ० ४ ।**

[3] **आनन्दात्मकब्रह्मावाप्तिश्च मोक्षःशोकनिवृत्तिश्च ।**
—वेदा० परि० पृ० १९७

की प्राप्ति, जिसके लिए कर्मों का विधान किया गया है और आत्मा की परमात्म-रूपेण अवगति, जिस उद्देश्य की सिद्धि काम्यकर्मों से विरक्ति और ज्ञान के अनुष्ठान से होती है। ज्ञान और कर्म का गहरा विरोध है। आचार्य का कहना है कि क्या पूर्व समुद्र जाने वाले तथा तत्प्रतिकूल पश्चिम समुद्र को जाने वाले पुरुष का मार्ग एक हो सकता है ? प्रत्यगात्म-विषयक प्रतीति के निरन्तर बनाये रखने के आग्रह को ज्ञाननिष्ठा कहते हैं। वह पश्चिम समुद्र के गमन के समान है और उसका कर्म के साथ रहने में वैसा ही महान् विरोध है जैसा पहाड़ तथा सरसों में रहता है। अतः एकान्त विरोध के रहते हुए ज्ञानकर्म का समुच्चय कथमपि सुसम्पन्न नहीं हो सकता[1]।

कर्म के द्वारा क्या आत्मा की स्वरूपापत्ति सिद्ध हो सकती है ? आचार्य ने इस विषय में अनेक कारणों की उद्भावना की है। किसी अविद्यमान वस्तु के उत्पादन के लिए कर्म का उपयोग किया जाता है

कर्म

(उत्पाद्य)। परन्तु क्या नित्य, सिद्ध सद्रूप आत्मा की स्थिति कर्मों के द्वारा उत्पन्न की जा सकती है ? किसी स्थान या वस्तु की प्राप्ति के लिए कर्म किये जाते हैं (आप्य), परन्तु आत्मा तो सदा हमारे पास है। तब कर्म का उपयोग क्या होगा ? किसी पदार्थ में विकार उत्पन्न करने की इच्छा से (विकार्य) तथा मन और अन्य वस्तुओं में संस्कार-उत्पादन की लालसा से (संस्कार्य) कर्म किये जाते हैं। परन्तु आत्मा के 'अविकार्य तथा असंस्कार्य' होने के कारण धर्म की निष्पत्ति का प्रयास व्यर्थ ही है। अतः आत्मा के अनुत्पाद्य, अनाप्य, अविकार्य तथा असंस्कार्य होने के कारण कर्म द्वारा उसकी निष्पत्ति हो ही नहीं सकती[2]।

अतः प्रयोजन न होने से कर्म के द्वारा मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो सकती[3]।

---

[1] **नहि पूर्वसमुद्रं जिगमिषोः प्रातिलोम्येन प्राक् समुद्रं जिगमिषुणा समान-मार्गत्वं सम्भवति। प्रत्यगात्मविषयप्रत्ययसन्तानकरणाभिनिवेशज्ञाननिष्ठा। स च प्रत्यक् समुद्रगमनवत् कर्मणा सहभावित्वेन विरुध्यते। पर्वतसर्षपोरिव अन्तरवान् विरोधः। —गीताभाष्य १८।५५**

[2] **द्रष्टव्य—ब्र० सू० १।१।४ तथा बृह० उप० ३।३।१ का शाङ्कर भाष्य।**

[3] **उत्पाद्यमाप्यं संस्कार्यं विकार्यं च क्रियाफलम्।**
नैवं मुक्तिर्यतस्मात् कर्म तस्या न साधनम्॥—नैष्कर्म्यसिद्धि १।५२

साधारणतया मलिन चित्त आत्मतत्त्व का बोध नहीं कर सकता, परन्तु काम्यवर्जित नित्यकर्म के अनुष्ठान से चित्त-शुद्धि उत्पन्न होती है जिससे बिना किसी रुकावट के जीव आत्म-स्वरूप को जान लेता है[1]। आत्मज्ञान की उत्पत्ति में सहायक होने के कारण नित्यकर्म मोक्षसाधक हैं। अतः कर्मकाण्ड और ज्ञानकाण्ड की एकवाक्यता सिद्ध हो सकती है। अर्थात् दोनों एक ही लक्ष्य की पूर्ति के साधन हैं। कर्म से चित्त की शुद्धि होती है और विशुद्धचित्त में ही ज्ञान उत्पन्न होकर टिकता है। तभी मोक्ष की प्राप्ति सम्भव है।

कर्म दो प्रकार के हैं—सकाम कर्म तथा निष्काम कर्म। गीता में दो प्रकार की सम्पत्ति का वर्णन किया गया है—दैवी सम्पत्ति और आसुरी सम्पत्ति। असुरों में और देवों में यही अन्तर है कि स्वाभाविक रागद्वेषमूलक प्रवृत्तियों का दास होने वाला अधर्मपरायण व्यक्ति 'असुर' कहलाता है। परन्तु राग-द्वेष को दबा कर शुभ कामना की प्रबलता से धर्माचरण करने वाला पुरुष 'देव' कहलाता है।[2] वासना की इच्छा से यदि कर्मों का सम्पादन किया जाय तो असुरत्व की प्राप्ति होती है, परन्तु राग-द्वेष की वासना को दूर कर निष्काम भाव से कर्मों का सम्पादन करना देवत्व की प्राप्ति करना है। अतः शङ्कराचार्य का कथन यह है कि सकाम कर्म का तो सर्वथा त्याग करना ही चाहिए। सकाम कर्म का अभ्यास तथा अनुष्ठान मनुष्य को पशुत्व की ओर ले जाने वाला होता है। निष्काम कर्म का अभ्यास चित्त को शुद्ध कर मुक्ति की ओर ले जायगा। शङ्कर की दृष्टि में भी कर्म कभी व्यर्थ नहीं जाता—"ये यथा मां प्रपद्यन्ते तां तथैव भजाम्यहम्" (गीता ४।११)। इसके ऊपर भाष्य लिखते समय आचार्य का कहना है कि (१) जो मनुष्य फल की इच्छा रखने वाले हैं उन्हें भगवान् फल देते हैं, (२) जो आदमी फल की इच्छा

---

[1] यो नित्यं कर्म करोति तस्य फलरागादिना अकलुषीक्रियमाणमन्तःकरणं नित्यैश्च कर्मभिः संस्क्रियमाणं विशुध्यति, विशुद्धं प्रसन्नमात्मालोचनक्षमं भवति।—गीताभाष्य १८।१०। कर्मभिः संस्कृता हि विशुद्धात्मानः शक्नुवन्ति आत्मानं अप्रतिबन्धेन वेदितुम् एवं काम्यवर्जितं नित्यं कर्मजातं सर्वमात्मज्ञानोत्पत्तिद्वारेण मोक्षसाधकत्वं प्रतिपद्यते।—बृह० उप० भाष्य ४।४।२२

[2] स्वाभाविकौ रागद्वेषौ अभिभूय यदा शुभवासना प्राबल्येन धर्मपरायणो भवति तदा देवः। यदा स्वभावसिद्धरागद्वेषप्राबल्येन अधर्मपरायणो भवति तदा असुरः। —गीता व्याख्यायां मधुसूदनः।

नहीं रखने वाले हैं और मुक्ति के इच्छुक हैं उन्हें मैं ज्ञान देता हूँ, (३) जो ज्ञानी हैं, संन्यासी है, मुक्ति की कामना करने वाले हैं, उन्हें मैं मोक्ष देता हूँ, तथा (४) जो किसी प्रकार के दु:ख और कष्ट में हैं उनकी मैं आर्ति हर लेता हूँ। इस प्रकार जो कोई भी पुरुष जिस किसी इच्छा से मेरा भजन करता है उसकी मैं उस इच्छा की पूर्ति कर देता हूँ। शङ्कराचार्य के इस कथन से स्पष्ट है कि उनकी दृष्टि में भी कर्म किसी प्रकार व्यर्थ नहीं होता, उसका फल अवश्य प्राप्त होता है। मोक्ष के साधन में वह उपयोगी है या नहीं, यह दूसरा प्रश्न है।

अब तक की गयी समीक्षा से स्पष्ट है कि आचार्य शङ्कर मोक्ष के साधन में न तो कर्म को कारण मानते हैं, न ज्ञानकर्मसमुच्चय को, प्रत्युत् एकमात्र ज्ञान को ही मानते हैं।

पद्मपादाचार्य ने जो आचार्य के पट्टशिष्य थे **विज्ञानदीपिका** नामक ग्रन्थ में शङ्कर के अनुकूल आचार-पद्धति की मीमांसा की है। कर्म की प्रबलता सर्वतो-

कर्म के तीन भेद

भावेन मानी ही जाती है। कर्म से वासना उत्पन्न होती है और वासना से यह संसार उत्पन्न होता है। वासना के ही कारण जीव आवागमन करता रहता है। अतः संसार को नष्ट करने के लिए कर्म का विनाश करना (निर्हरण) अत्यन्त आवश्यक है। कर्म तीन प्रकार के होते हैं—(१) संचित (प्राचीन), (२) संचीयमान (भविष्य में फल उत्पन्न करने वाला), (३) प्रारब्ध (जिस कर्म का वर्तमान काल में आरम्भ कर दिया गया है)। इन तीनों की उपमा अन्न के साथ दी जा सकती है। संचित कर्म घर में रक्खे हुए अन्न के समान है, संचीयमान कर्म खेत में बीज रूप से बोये गये अन्न के समान है तथा प्रारब्ध कर्म भुक्त अन्न के समान है। घर में रक्खे गये तथा खेत में डाले गये अन्न का विनाश नाना उपायों से किया जा सकता है। परन्तु जो अन्न खाये जाने पर हमारे पेट में विद्यमान है, उसे तो पचाना ही पड़ेगा। बिना पचाये उस अन्न का कथमपि नाश नहीं हो सकता है। कर्मों की भी यही गति है। संचित और संचीयमान कर्म तो ज्ञान के द्वारा नष्ट किया जा सकता है, परन्तु प्रारब्ध कर्म तो भोग के द्वारा ही क्षीण होता है। इसीलिए यह प्रसिद्ध बात है—"प्रारब्ध कर्मणां भोगादेव क्षयः।" इस प्रकार कर्म का क्षय कर्मयोग, ध्यान, सत्संग, जप, अर्थ और परिपाक के अवलोकन से उत्पन्न होता है[1]। फल की इच्छा से रहित

---

[1] **कर्मतो योगतो ध्यानात् सत्संगाज्जपतोऽर्थतः।**
परिपाकावलोकाच्च कर्मनिर्हरणं जगुः॥—विज्ञानदीपिका २२

अर्थात् निष्काम कर्म का अनुष्ठान पुण्य-पाप आदि कर्मों का नाश कर देता है और इसके कारणभूत स्थूल और सूक्ष्म शरीर का विलय कर देता है। पद्मपाद की सम्मति में यही कर्म-निर्हार है[१]।

कर्म के इस विवेचन से हम इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि मुमुक्षु के अंतःकरण (चित्त) की शुद्धि के लिए कर्म व्यर्थ नहीं है बल्कि वे नितान्त उपादेय हैं। मुक्ति का वास्तव साधन 'ज्ञान' है—ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः—बिना ज्ञान के मुक्ति की प्राप्ति नहीं होती। आचार्य की सम्मति में इस प्रकार न तो कर्म से मुक्ति होतो है, न ज्ञान और कमं के समुच्चय से, प्रत्युत् केवल ज्ञान से होती है—यही निश्चित सिद्धांत है[२]।

ज्ञान-प्राप्ति की प्रक्रिया

इस प्रक्रिया का वर्णन शङ्कर ने 'विवेकचूणामणि' तथा 'उपदेश-साहस्री' में बड़ी सुन्दर भाषा में किया है। वेदान्त-ज्ञान की प्राप्ति के लिए शिष्य को चार साधनों से युक्त होना चाहिए। पहला साधन है—नित्यानित्य-वस्तु-विवेक। ब्रह्म ही केवल नित्य है, उससे भिन्न समस्त पदार्थ अनित्य हैं, इसका विवेक होना पहला साधन है। दूसरा साधन है—इहामुत्र-फलभोगविराग अर्थात् सांसारिक तथा पारलौकिक समस्त फलों के भोग से उसे वैराग्य उत्पन्न होना चाहिए। तीसरा साधन है—शमदमादि साधन सम्पत्ति। शम (मन की एकाग्रता), दम (इन्द्रियों को वश में रखना), उपरति (वृत्तियों का वाह्य विषयों का आश्रय न लेना), तितिक्षा (चिन्ता शोक से रहित दुःखों को सहना), समाधान (श्रवण आदि में चित्त को एकाग्ररूप से लगाना) तथा श्रद्धा (गुरु और वेदान्त के वाक्यों में अटूट विश्वास)। चतुर्थ साधन है—मुमुक्षा अर्थात् मुक्ति पाने की इच्छा। इस चतुर्थ साधन का उदय बड़े ही भाग्य से होता है। आचार्य का कथन है कि मनुष्यत्व, मुमुक्षुत्व तथा महापुरुष की संगति बड़े भाग्य से मिलती है[3]। इन समग्र साधनों से सम्पन्न होने पर साधक वेदान्त-श्रवण का अधिकारी बनता है। तब शिष्य, शान्त, दान्त, अहेतुदयाशील, ब्रह्मवेत्ता गुरु के शरण में आत्मा के विषय में पूछता है। गुरु को निष्प्रपञ्च ब्रह्म के स्वरूप का यथार्थ ज्ञान अपने शिष्य को

---

[१] विज्ञानदीपिका, श्लो० ३०।

[२] द्रष्टव्य, गीताभाष्य तथा ऐतरेय भाष्य का उपोद्घात।

[3] दुर्लभं त्रयमेवैतद् देवानुग्रहहेतुकम्।
मनुष्यत्वं मुमुक्षुत्वं महापुरुषसंश्रयः॥ ३॥—विवेकचूडामणि

कराना प्रधान कार्य है। इसलिए वह अध्यारोप और अपवाद विधि से ब्रह्म का उपदेश करता है[1]। **अध्यारोप** का अर्थ है ब्रह्म में जगत् के पदार्थों का आरोप कर देना और **अपवाद** का अर्थ है आरोपित वस्तुओं में से प्रत्येक को क्रमशः निराकरण करना। आत्मा के ऊपर प्रथमतः शरीर का आरोप दिया जाता है। पीछे युक्ति के सहारे आत्मा को अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय और आनन्दमय कोशों से अतिरिक्त बता दिया जाता है। वह स्थूल, सूक्ष्म तथा कारण शरीरों से पृथक् सिद्ध किया जाता है। इस प्रकार गुरु अपने शिष्य को ब्रह्म का स्वरूप समझाने में समर्थ होता हैं। वेदान्त की यह व्याख्या-पद्धति बड़ी प्रामाणिक और शुद्ध वैज्ञानिक है।

ब्रह्मवेत्ता गुरु शरणापन्न अधिकारी शिष्य को 'तत्त्वमसि' आदि महावाक्यों का उपदेश देता है जिसका अभिप्राय यही है कि जीव ब्रह्म ही है। इस वाक्य के अर्थ के ऊपर वेदान्त के आचार्यों ने बड़ा विचार किया है। जीव अल्पज्ञ ठहरा और ब्रह्म सर्वज्ञ। ऐसी दशा में दोनों की एकता कैसे मानी जा सकती है? इस दोष को दूर करने के लिए भागवृत्ति या जहदजहत् लक्षणा यहाँ मानी जाती है[2]। इस लक्षणा के बल पर अल्पज्ञ का 'अल्प' अंश और सर्वज्ञ का 'सर्व' अंश छोड़ दिया जाता है। 'ज्ञ' अर्थात् ज्ञात अंश को लेकर ही दोनों की एकता सम्पन्न की जाती है। जीव ब्रह्म ही है। यही अद्वैत वेदान्त का शंखनाद है। श्रवण, मनन, तथा निदिध्यासन—ये तीन साधन बताये गये हैं। वेदान्त के वाक्यों के द्वारा गुरुमुख से आत्मा के स्वरूप को सुनाना चाहिए। यह हुआ 'श्रवण'। उस स्वरूप के विरोध में जो कोई अन्य बातें हों उन्हें दूर कर देना चाहिए। यह हुआ 'मनन'। तदनन्तर उस आत्मा के स्वरूप पर लगातार ध्यान लगाना चाहिए—यही हुआ 'निदिध्यासन'। इन तीन उपायों का वर्णन इस प्रसिद्ध श्लोक में किया गया है—

> श्रोतव्यः श्रुतिवाक्येभ्यो मन्तव्यश्चोपपत्तिभिः।
> मत्वा च सततं ध्येयो, ह्येते दर्शनहेतवः॥

मैत्रेयी को शिक्षा देते समय महर्षि याज्ञवल्क्य ने इसी तत्त्व का प्रतिपादन किया है—आत्मा वारे द्रष्टव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यो मैत्रेयि।

आत्मसाधना के इन तीन उपायों में कौन प्रधान है और कौन गौण है, इस विषय को लेकर अवान्तरकालीन आचार्यों में बड़ा मतभेद है। इस विषय में

---

[1] **अध्यारोपापवादाभ्यां निष्प्रपञ्चं प्रपञ्च्यते॥**

[2] **विशेष जानने के लिए द्रष्टव्य बलदेव उपाध्याय—भारतीय दर्शनशास्त्र (नवीन सं०), पृ० ४४८-४५०।**

प्रधानतः दो मत मिलते हैं। पहला मत है वाचस्पतिमिश्र का। ये शब्द-श्रवण से परोक्ष ज्ञान की उत्पत्ति मानते हैं जो मनन और निदिध्यासन आदि योग-प्रक्रिया के द्वारा अपरोक्ष ज्ञान रूप में परिवर्तित हो जाता है। अतः गुरूपदेश के अनन्तर वेदांत वाक्य के अर्थ का मनन तथा ध्यान का अनुष्ठान करना नितांत आवश्यक होता है। तब ब्रह्म की अपरोक्ष अनुभूति उत्पन्न होती है[1]। अमलानंद ने भामती कल्पतरु में इसे वाचस्पति मिश्र का मत बतलाया है[2], परन्तु वस्तुतः यह मण्डन मिश्र का है। इसका परिचय ब्रह्मसिद्धि में भली भाँति मिलता है[3]। ऐसे मतों को ग्रहण करने के कारण ही तो वाचस्पति को प्रकटार्थविवरणकारने 'मण्डन-पृष्ठयायी' (मण्डन के पीछे चलने वाला) कहा है। दूसरा मत सुरेश्वराचार्य का है। इनकी सम्मति में शब्द से ही अपरोक्ष ज्ञान का उदय होता है। ज्ञान पर आवरण पड़े रहते हैं। उन्हें हटाने की यदि आवश्यकता हो तो मनन और निदिध्यासन करना चाहिए। शब्द की महिमा इसी में है कि शब्द को सुनने के समय ही तुरन्त ब्रह्म का अपरोक्ष (साक्षात्) ज्ञान उत्पन्न हो जाता है। नदी पार कर लेने पर गिनती करने के समय गिनती वाला आदमी अपने को ही भूल जाता था, अतः दस होने पर नौ आदमी ही पाकर वे सबके सब मूर्ख नितान्त दुःखित होते थे, परन्तु जब किसी होशियार व्यक्ति ने आकर गिनती करने वाले को उपदेश दिया कि दसवाँ तुम ही हो (दशमस्त्वमसि तब इस बात के सुनते ही उनका शोक विलीन हो गया। इस लोक-प्रसिद्ध उदाहरण के समान 'तत् त्वमसि' वाक्य सुनते ही आत्मा का वास्तव एकताबोधक ज्ञान उत्पन्न हो जाता है जिससे निरतिशय आनन्द का उदय होता है। यह मत वेद-वाक्यों की महत्ता के अनुकूल है शङ्कराचार्य का भी यही मत प्रतीत होता है। शब्द की इस महिमा का उल्लेख तन्त्रशास्त्र तथा व्याकरण में विशेषतः किया गया है। अद्वैतवेदान्त के भागतीप्रस्थान और विवरणप्रस्थान का यही मूल पार्थक्य है।

---

[1]श्रुतमयेन ज्ञानेन जीवात्मनः परमात्मभावं गृहीत्वा युक्तिमयेन च व्यवस्थाप्यते । तस्मात् निर्विचिकित्सशाब्दज्ञानसन्ततिरूपोपासना-कर्म सहकारिण्यविद्याद्युच्छेदहेतुः । —भामती : जिज्ञासाधिकरण

[2]अपि संराधने सूत्राच्छास्त्रार्थध्यानजा प्रमा ।
शास्त्रदृष्टिर्मता तां तु वेत्ति वाचस्पतिः स्वयम् ॥

—कल्पतरु (नि० सा०) पृ० २१८

[3]ब्रह्मसिद्धि, पृष्ठ ३५ ।

मुक्ति

तत्व के साधन से केवल मानसिक कौतूहल की निवृत्ति होना ही ध्येय नहीं है। उसका उपयोग व्यावहारिक जगत् के सन्तापों से मुक्ति प्राप्त करने में है। ये सन्ताप तीन प्रकार के हैं—आध्यात्मिक, आधिभौतिक तथा आधिदैविक। मनुष्य मात्र का जीवन जिन ध्येयों को आगे रखकर प्रवृत्त होता है, वे पुरुषार्थ कहलाते हैं। हिन्दूधर्म के अनुसार पुरुषार्थ चार प्रकार के हैं—धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष। इनमें मोक्ष सबसे श्रेष्ठ है। विचारशास्त्ररूपी कल्पतरु का मोक्ष ही अमृत फल है। मोक्ष के विषय में साधारण लोगों की यह विचित्र धारणा है कि इसकी प्राप्ति का स्थान यह शरीर नहीं है। परन्तु आचार्य ने उपनिषदों के आधार पर यही प्रतिपादित किया है कि ज्ञान की प्राप्ति होने पर इसी शरीर से मुक्ति प्राप्त हो जाती है। इस मुक्ति का नाम है जीवन्मुक्ति। यह दूरस्थित आदर्श अवश्य है परन्तु ऐसा नहीं है कि इस जन्म में साध्य न हो सके। वेदांत का कहना है कि यदि उसके बताये हुए साधनों का उपयोग भली भाँति किया जाय तो साधक को इसी जन्म में दुःखों से छुटकारा मिल सकता है। इस विषय में कठोपनिषद् (२। ३। १४) का स्पष्ट कथन है कि जब हृदय में रहने वाली समग्र वासनाओं का नाश हो जाता है तब मनुष्य अमरत्व को प्राप्त कर लेता है। और यही उसे ब्रह्म की उपलब्धि हो जाती है[1]। वैष्णवदर्शन इस जीवन्मुक्ति को नहीं मानता। वह केवल विदेह-मुक्ति में ही आस्था रखता है। पर अद्वैतवेदान्त की दृष्टि में दोनों साध्य हैं। यही दोनों में मौलिक भेद है।

अद्वैत-मत की मौलिकता

आचार्य शङ्कर ने अपने भाष्यों में अद्वैतमत का प्रतिपादन किया है, यह तो सब कोई जानते हैं। यह अद्वैतवाद नितान्त प्राचीन सिद्धान्त है। इस मत का प्रतिपादन केवल उपनिषदों में ही नहीं किया गया है, प्रत्युत् संहिता के अनेक सूक्तों में अद्वैत तत्त्व का आभास स्पष्ट रूपेण उपलब्ध होता है। अद्वैतवाद वैदिक ऋषियों को आध्यात्मिक जगत् को नितान्त महत्त्वपूर्ण देन है। इन ऋषियों ने आर्ष चक्षु से नानात्मक जगत् के स्तर में विद्यमान होने वाली एकता का दर्शन किया, उसे ढूंढ़ निकाला और जगत् के कल्याण के निमित्त प्रतिपादित किया। इसी श्रुति के आधार पर आचार्य ने अपने अद्वैत-तत्त्व को प्रतिष्ठित किया है।

---

[1] यदा सर्वे विमुच्यन्ते कामा ह्यस्य हृदि स्थिताः।
तदा मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते॥—कठ २। १४

शङ्कर ने जगत् के काल्पनिक रूप को प्रमाणित करने के लिए माया के सिद्धान्त को स्वीकार किया है और इसके लिए भी वे अपने दादागुरु आचार्य गौडपाद के ऋणी हैं। गौडपादाचार्य ने जिस अद्वैत सिद्धान्त को माण्डूक्यकारिकाओं में अभिव्यक्त किया है, उसी का विशदीकरण शङ्कर ने अपने भाष्यों में किया है। इतना ही क्यो ? आचार्य की गुरुपरम्परा नारायण से आरम्भ होती है। शङ्कर की गुरुपरम्परा तथा शिष्यों का निर्देश इन प्रसिद्ध पद्यों-में मिलता है—

> नारायणं पद्मभवं वसिष्ठं शक्तिं च तत्पुत्रपराशरं च।
> व्यासं शुकं गौडपदं महान्तं गोविन्दयोगीन्द्रमथास्य शिष्यम् ॥
> श्रीशङ्कराचार्यमथास्य पद्मपादं च हस्तामलकं च शिष्यम्।
> तत् तोटकं वार्तिककारमन्यान् अस्मद्गुरुं संततमानतोऽस्मि ॥

आचार्य की गुरु परम्परा का प्रकार यह है—नारायण, ब्रह्मा, वसिष्ठ, शक्ति, पराशर, वेदव्यास, शुक, गौडपाद, गोविन्द भगवत्पाद, शङ्कर। इसका स्पष्ट तात्पर्य यह है कि शङ्कर ने जिस मायावाद का विशद प्रतिपादन अपने ग्रन्थों में किया है उसका प्रथम उपदेश भगवान् नारायण के द्वारा किया गया। शिष्य लोग जिस उपदेश को गुरु से सुनते आये हैं उसी की परम्परा जारी रखने के लिए अपने शिष्यों को भी उन्हीं तत्त्वों का आनुपूर्वी उपदेश करते हैं। इस प्रकार यह अद्वैतवाद नितान्त प्राचीन काल से इस भारत-भूमि पर जिज्ञासु जनों की आध्यात्मिक पिपासा को शान्त करता हुआ चला आ रहा है। इसे शङ्कर के नाम से सम्बद्ध करना तथा शङ्कर को इस सिद्धान्त का उद्भावक मानना नितान्त अनुचित है।

कतिपय विद्वान् लोग इस प्राचीन परम्परा की अवहेलना कर 'मायावाद' को बौद्ध-दर्शन का औपनिषद् संस्करण मानते हैं और अपनी युक्तियों को पुष्ट करने के लिए पद्मपुराण[1] में दिये गये श्लोक को उद्धृत करते हैं। श्रीविज्ञानभिक्षु ने सांख्यप्रवचनभाष्य की भूमिका में इस वचन को उद्धृत किया है। अवान्तर-कालीन अनेक द्वैतमतावलम्बी पण्डित इस वाक्य को प्रमाण मान कर शङ्कर को प्रच्छन्न बौद्ध और उनके मायावाद को बौद्धदर्शन के सिद्धान्तों का ही एक नया रूप मानते हैं। परन्तु विचार करने पर यह समीक्षा युक्तियुक्त नहीं प्रतीत होती।

इस विषय में मार्के की बात यह है कि शाङ्करमत के खण्डन के अवसर पर बौद्धदार्शनिकों ने कहीं पर भी शाङ्कर को बौद्धों के प्रति ऋणी नहीं बतलाया है।

---

[1]मायावादमसच्छास्त्रं प्रच्छन्नं बौद्धमुच्यते।
मयैव कथितं देवि कलौ ब्राह्मणरूपिणा ॥

अद्वैतवाद और विज्ञानवाद

बौद्ध पण्डितों की दृष्टि बड़ी सूक्ष्म थी। यदि कहीं पर भी उन्हें अद्वैतवाद में बौद्ध तत्त्वों की सत्ता का आभास भी प्रतीयमान होता तो वे पहले व्यक्ति होते जो इसकी घोषणा डंके की चोट करते, अद्वैतवाद को विज्ञानवाद या शून्यावाद का आभास मानकर वे इसके खण्डन से सदा पराङ्मुख होते। परन्तु पराङ्मुख होने की कथा अलग रहे, उन्होंने तो बड़े अभिनिवेश के साथ इसके तत्त्वों की निःसारता दिखाने की चेष्टा की है। बौद्ध ग्रन्थों में अद्वैतवाद के औपनिषद् मत को बौद्ध मत से पृथक् कहा है और उसका खण्डन किया है। शान्तरक्षित नालन्दा विद्यापीठ के आचार्य थे और वे विख्यात बौद्ध दार्शनिक थे। उन्होंने अपने विपुलकाय 'तत्त्वसंग्रह में अद्वैतमत का खण्डन किया है'[1]। इस उद्धरण में जो 'अपरे' शब्द आता है उसका कमलशील ने इस ग्रन्थ की पञ्जिका में अर्थ लिखा है—'औपनिषदिका.'। यह तो हुआ शङ्करमत का अनुवाद। अब इसका खण्डन देखिए—

तेषामल्पापराधं तु दर्शनं नित्यतोक्तितः।
रूपशब्दादिविज्ञाने व्यक्तं भेदोपलक्षणात् ॥३३०॥
एकज्ञानात्मकत्वे तु रूपशब्दरसादयः।
सकृद्वेद्याः प्रसज्यन्ते नित्येऽवस्थान्तरं न च ॥३३१॥

इससे विज्ञानवाद तथा अद्वैतवाद का अन्तर स्पष्ट है। आचार्य शङ्कर एकमेवाद्वितीयम् (छा० उप० ६।२।१), विज्ञानमानदं ब्रह्म (बृहदा० उप०-३।९।२८) इत्यादि श्रुतियों तथा युक्तियों के आधार पर विज्ञानरूप ब्रह्म को एक मानते हैं तथा उस ब्रह्म को सजातीय भेद, विजातीय भेद और स्वगत भेद से रहित मानते हैं[2]। परन्तु विज्ञानवादी बौद्ध लोग विज्ञान को नाना—भिन्न-भिन्न—मानते हैं। अतः उनकी दृष्टि में विज्ञान सजातीय भेद से शून्य नहीं है। ब्रह्म तो नित्य पदार्थ है परन्तु विज्ञान क्षणिक है। उनका 'आलय विज्ञान' क्षणिक है। अतः यह वासनाओं का अधिकरण भी नहीं माना जा सकता। आचार्य शङ्कर ने

---

[1] नित्यज्ञानविवर्तोऽयं क्षितितेजोजलादिकः।
आत्मा तदात्मकश्चेति संगिरन्तेऽपरे पुनः॥
ग्राह्यग्राहकसंयुक्तं न किञ्चिदिह विद्यते।
विज्ञानपरिणामोऽयं तस्मात् सर्वः समीक्ष्यते॥—तत्त्वसंग्रह ३२८-२९

[2] पञ्चदशी २।२०-२५

अपने शारीरक भाष्य[1] में इसे स्पष्ट लिखा है। इतने स्पष्ट विभेद के रहने पर ब्रह्माद्वैतवाद विज्ञानाद्वयवाद का ही रूपान्तर कैसे माना जा सकता है ?

इतना ही नहीं, दोनों की जगद्-विषयक समीक्षा नितान्त विरुद्ध है। विज्ञान-वादियों का मत है कि विज्ञान या बुद्धि के अतिरिक्त इस जगत् में कोई पदार्थ ही नहीं है। जगत् के समग्र पदार्थ स्वप्नवत् मिथ्यारूप हैं। जिस प्रकार स्वप्न में माया मरीचिका आदि ज्ञान वाह्य अर्थसत्ता के बिना ही ग्राह्य-ग्राहक आकार वाले होते हैं, उसी प्रकार जागरित दशा के स्तम्भ आदि भी वाह्यार्थ-सत्ताशून्य हैं। परन्तु इसका खण्डन आचार्य ने किया है। उनका कहना है कि बाह्य अर्थ की उपलब्धि सर्वदा साक्षात् रूप में हमें हो रही है। जब पदार्थों का अनुभव प्रतिक्षण हो रहा है तब उन्हें उनके ज्ञान के बाहर स्थिर न मानना उसी प्रकार उपहास्यास्पद है जिस प्रकार स्वादिष्ट भोजन कर तृप्त होने वाला पुरुष जो न तो अपनी तृप्ति को माने और न अपने भोजन की ही बात स्वीकार करे[2]। विज्ञानवादी की सम्मति में विज्ञान ही एकमात्र सत्य पदार्थ है तथा जगत् स्वप्नवत् अलीक है। इस मत का खण्डन आचार्य ने बड़े ही युक्तियुक्त शब्दों में किया है। स्वप्न तथा जागरित दशा में बड़ा ही अधिक अन्तर रहता है। स्वप्न में देखे गये पदार्थ जागने पर लुप्त हो जाते हैं। अतः अनुपलब्धि होने से स्वप्न का बोध होता है। परन्तु जाग्रत अवस्था में अनुभूत पदार्थ (स्तम्भ, घट आदि) किसी अवस्था में बाधित नहीं होते। वे सदा एक रूप तथा एक स्वभाव से विद्यमान रहते हैं। एक और भी अन्तर होता है। स्वप्नज्ञान स्मृतिमात्र है, जागरित ज्ञान उपलब्धि है - साक्षात् अनुभव-रूप है। अतः जागृत दशा को स्वप्न-मिथ्या मानना उचित नहीं है। इसलिए विज्ञानवाद का जगद्-विषयक सिद्धान्त नितान्त अनुपयुक्त है। आचार्य के शब्द कितने मार्मिक हैं : –

वैधर्म्यं हि भवति स्वप्नजागरितयोः। बाध्यते हि स्वप्नोपलब्धं वस्तु प्रति-बुद्धस्य मिथ्या-मायोपलब्धो महाजनसमागम इति। नैवं जागरितोपलब्धं वस्तुस्त-म्भादिकं कस्याञ्चिदपि अवस्थायां बाध्यते। अपि च स्मृतिरेषा यत् स्वप्नदर्शनम्। उपलब्धिस्तु जागरितदर्शनम्।—ब्र० सू० भा० २।२।२६

माध्यमिकों की कल्पना योगाचार के मत का भी खण्डन करती है। योगा-

---

[1] यद्यपि आलयविज्ञाननाम वासनाश्रयत्वेन परिकल्पितं तदपि क्षणिकत्वाभ्युपगमात् अनवस्थितस्वरूपं सत्प्रवृत्तिविज्ञानवत् न वासनाधिकरणं भवितुमर्हति। शां० भा० २।२।३१

[2] शां० भा० २।२।२८

अद्वैतवाद का शून्यवाद से भेद

विज्ञान की सत्ता मानते हैं परन्तु शून्यवादी माध्यमिकों के मत में विज्ञान का भी अभाव रहता है। केवल शून्य ही एकमात्र तत्त्व है[1]। शून्यवादी 'शून्य' को सत्, असत्, सदसत् तथा सदसदनुभय रूप—इन चार कोटियों से अलग मानते हैं[2]। परन्तु अद्वैतमत में ब्रह्म 'सत्स्वरूप' है तथा ज्ञानस्वरूप है। शून्यवादियों की कल्पनामें शून्य सत्-स्वरूप नहीं है, यदि ऐसा होगा तो वह सत्कोटि में आ जायगा। वह कोटि-चतुष्टय से विनिर्मुक्त नहीं होगा। यह 'शून्य' ज्ञान रूप भी नहीं है। विज्ञान का अभाव मानकर ही तो माध्यमिक लोग अपने शून्य तत्त्व की उद्भावना करते हैं। उनकी दृष्टि में विज्ञान पारमार्थिक नहीं है :—

> नेष्टं तदपि धीराणां विज्ञानं पारमार्थिकम्।
> एकानेकस्वभावेन विरोधाद् वियदब्जवत्॥
>
> —शिवार्कमणिदीपिका २।२।३०

परन्तु अद्वैत मत में नित्य विज्ञान पारमार्थिक है। ऐसी दशा में अद्वैत-सम्मत ब्रह्म को माध्यमिकों का 'शून्य' तत्त्व बतलाना कहाँ तक युक्तियुक्त है, विद्वज्जन इस पर विचार करें।

खण्डनकार ने दोनों मतों में अन्तर दिखलाते समय स्पष्ट रूप से लिखा है कि बौद्ध-मत में सब कुछ अनिर्वचनीय है, परन्तु अद्वैत मत में विज्ञान के अतिरिक्त यह विश्व सद्-असद् दोनों से अनिर्वचनीय है[3]।

विज्ञानवाद तथा शून्यवाद से इन नितान्त स्पष्ट विभेदों के रहने पर भी यदि

---

[1] बुद्धिमात्रं वदत्यत्र योगाचारो न चापरम्।
नास्ति बुद्धिरपीत्याह वादी माध्यमिकः किल॥

—सर्वसिद्धान्तसंग्रह

[2] न सन्नासन्न सदसन्न चाप्यनुभयात्मकम्।
चतुष्कोटिविनिर्मुक्तं तत्त्वं माध्यमिका जगुः॥

—शिवार्कमणिदीपिका, २।२।३०

[3] एवं सति सौगतब्रह्मवादिनोरयं विशेषो यदादिमः सर्वमेवानिर्वचनीयं वर्णयति। तदुक्तं भगवता लङ्कावतारे—

बुद्ध्या विविच्यमानानां स्वभावो नावधार्यते।
अतो निरभिलप्यास्ते निःस्वभावाश्च देशिताः॥

विज्ञानव्यतिरिक्तं पुनरिदं विश्वं सदसद्भ्यां विलक्षणं ब्रह्मवादिनः संगिरन्ते—खण्डन।

कोई विद्वान् अद्वैतवादी शङ्कर को प्रच्छन्न बौद्ध बतलावे, तो यह उसका साहस मात्र है। पुराण-वाक्य भी श्रुतिसम्मत होने पर ही ग्राह्य होते हैं, मीमांसा का यह माननीय मत है। अतः पद्मपुराण के पूर्वोक्त कथन को श्रुति से विरुद्ध होने के कारण कथमपि प्रामाणिकता प्राप्त नहीं हो सकती। ऐसी दशा में शंकर का सिद्धान्त नितान्त श्रुत्यनुमोदित, प्राचीन एवं प्रामाणिक है। अवैदिक मतानुयायी बौद्धों तथा जैनों ने तथा वैदिक द्वैतों, विशिष्टाद्वैतवादियों आदि ने 'मायावाद' के सिद्धान्त का खण्डन बड़े समारोह के साथ किया है परन्तु वह तर्क के उस दृढ़ आधार पर अवलम्बित है जहाँ जितना विचार किया जाता है, उतना ही सच्चा प्रतीत होता है। वेदान्तियों का विवर्तवाद निपुण तर्क की भित्ति पर आश्रित है। कार्य-कारण-भाव की यथार्थ व्याख्या के विषय में अद्वैतियों की यह नितान्त अनुपम देन है। इस प्रकार बौद्ध-दर्शन के अद्वैतवाद से शङ्कर के सिद्धान्त का प्रभावित होना किसी प्रकार सिद्ध नहीं होता।

यह बात ध्यान देने योग्य है कि अद्वैतवाद शङ्कर से आरम्भ नहीं होता। यह तो भारतवर्ष में अति प्राचीन काल से प्रसिद्ध है। उपनिषदों में अद्वैतपरक श्रुतियाँ उपलब्ध होती ही हैं। इतना ही नहीं, मंत्रसहिताओं में भी यत्र-तत्र अद्वैतवाद का स्पष्ट आभास दृष्टिगोचर होता है। महाभारत आदि ग्रन्थों में अन्यान्य मतों के समान अद्वैतवाद का भी परिचय मिलता है। प्राचीन वेदान्त सूत्रकारों में कोई-कोई अद्वैतवादी थे, यह बात प्रसिद्ध ही है। ऊपर अभी दिखलाया गया है कि बौद्धों में माध्यमिक तथा योगाचार अद्वैतवादी थे, इसी कारण बुद्ध का नाम भी 'अद्वयवादी' पड़ा था। वैयाकरण, शाक्त, शैव—ये सभी अद्वैतवाद को मानते थे। वेदान्त में भी शङ्कर से पूर्व अद्वैतवाद विद्यमान था। मण्डन मिश्र ने अपने ब्रह्मसिद्धि में अद्वैतवाद का ही प्रतिपादन किया है। दिगम्बर आचार्य समन्तभद्र ने 'आप्तमीमांसा' में (श्लो० २४) अद्वैतावाद का उल्लेख किया है। शान्तरक्षित ने भी अपने तत्त्वसंग्रह[१] में प्राचीन औपनिषद अद्वैतवाद का निर्देश किया है। शान्तरक्षित के वचन से प्रतीत होता है कि उनके मत में विवर्त और परिणाम दोनो शब्द पर्यायवाची हैं क्योंकि एक बार वह पृथ्वी, तेज, वायु आदि पञ्चभूतों को नित्य ज्ञान का विवर्त बतलाते हैं, दूसरी बार उसे विज्ञान का परिणाम कहते हैं। इस मत में आत्मा नित्य विज्ञानरूपी है और क्षिति आदि संसार इसी का परिणाम या विवर्त है। भवभूति भी इस प्राचीन अद्वैतवाद से परिचित थे क्योंकि उन्होंने उत्तररामचरित में—ब्रह्मणीव विवर्तानां क्वापि विप्रलयः कृतः—विवर्तवाद का उल्लेख स्पष्ट ही किया है। इस वाक्य से स्पष्ट है कि विवर्त ब्रह्म

[१] तत्त्वसंग्रह—श्लोक ३२८-२६

से ही आविर्भूत होता है और अन्त में विद्या के कारण उसी में लीन हो जाता है। उनकी दृष्टि में विवर्त और परिणाम एकार्थवाची प्रतीत होते हैं क्योंकि—एको रसः करुण एव निमित्तभेदात्—इस प्रसिद्ध श्लोक में इन्होंने इन दोनों शब्दों का प्रयोग साथ ही सामान अर्थ में किया है। कुमारिल ने भी 'श्लोक-वार्तिक' में वेदान्त के अद्वैतवाद का उल्लेख किया है। इस प्रकार अद्वैत-धारा इस भारतवर्ष में अत्यन्त प्राचीन काल से बहती चली आती है।

भर्तृहरि

पूर्वोक्त मत अद्वैतवादी होने पर भी एक समान नहीं हैं। हमने ऊपर दिखलाया है कि शङ्कराचार्य का अद्वैतवाद माध्यमिकों के शून्याद्वैतवाद तथा योगाचारों के विज्ञानाद्वैतवाद से नितान्त भिन्न है। भर्तृहरि का शब्दाद्वैत भी एक विशिष्ट सिद्धान्त है। इनका सर्वमान्य ग्रन्थ वाक्यपदीय है जिसमें स्फोटरूप शब्द ही की अद्वैत कल्पना की गयी है। परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी—इन चार प्रकार के भेदों से सम्पन्न परा वाक् साक्षात् ब्रह्मरूप है। अक्षर ब्रह्म से ही जगत् का परिणाम उत्पन्न होता है। मण्डन मिश्र भी इसी मत के अनुयायी प्रतीत होते हैं। उनकी हाल में प्रकाशित 'स्फोट-सिद्धि' से इस मत का समर्थन होता है। 'ब्रह्मसिद्धि' के अनुशीलन से स्पष्ट ज्ञात होता है कि मण्डन स्फोट को मानते थे। श्रवण से

मण्डन

परोक्ष ज्ञान का उदय मानकर उपासना को ब्रह्म के साक्षात्कार में प्रधान कारण मानते थे। वे ज्ञानसमुच्चयवादी हैं जिसके अनुसार अग्निहोत्र आदि वैदिक कर्मों का भी उपयोग मोक्ष की सिद्धि में अवश्यमेव होता है। उनकी सम्मति में कर्मनिष्ठ गृहस्थ कर्मत्यागी संन्यासी की अपेक्षा मुक्ति का कम अधिकारी नहीं है।

शाक्त-मत मी अद्वैतवादी है। शङ्कराचार्य इस मत से परचित थे। इसका स्पष्ट प्रमाण उनके सौन्दर्यलहरी और दक्षिणामूर्ति-स्तोत्र हैं। इन दोनों ग्रन्थों में शङ्कर ने शाक्त-अद्वैत के सिद्धान्तों का परिचय दिया है। किसी-किसी का यह मत है कि अति प्राचीन शिवाद्वैतवाद का अवलम्बन करके शङ्कर ने अपना मत स्थापित किया है। प्रसिद्ध है कि उन्होंने सूत-संहिता का अठारह बार अवलोकन कर शारीरक भाष्य बनाया था[1]। सूत-संहिता स्कन्दपुराण के अन्तर्गत एक विख्यात संहिता है जिसमें शिवाद्वैत का वर्णन किया गया है। उसके भाष्यकार माधव मंत्री प्रसिद्ध शैवाचार्य क्रियाशक्ति के शिष्य थे। शङ्कर के दक्षिणामूर्ति स्तोत्र तथा सुरेश्वर के वार्तिक देखने से प्रतीत होता है कि वे शिवागम से परिचित थे।

---

[1] तामष्टादशधाऽऽलोच्य शङ्करः सूतसंहिताम्।
चक्रे शारीरकं भाष्यं सर्ववेदान्तनिर्णयम्॥

सच्ची बात तो यह है कि शङ्कराचार्य इन अद्वैत सिद्धान्तों से परिचित थे। यह भी सम्भव है कि किसी-किसी सिद्धान्त का भी प्रभाव उनके ऊपर पड़ा हो। पर यह कहना कि किसी विशिष्ट मत का अवलम्बन कर ही शङ्कर ने अपने अद्वैतमत का प्रतिपादन किया, नितान्त असत्य है। शङ्कर के समान महायोगी तथा सिद्धपुरुष ऐसा क्यों करने लगेगा? यह दूसरी बात है कि वह विचारधारा तथा पारिभाषिक शब्द जो किसी समय-विशेष में किसी देश में प्रचलित होते हैं, उनका प्रभाव उस देश के ग्रन्थकार पर स्वतः हो जाया करता है। इसे हम ज्ञान-पूर्वक आदान-प्रदान मानने के लिए प्रस्तुत नहीं हैं। शङ्कर के सिद्धान्त पर यदि किसी की अस्पष्ट छाया दीख पड़ती हो तो उसकी भी दशा ठीक वैसी है। तथ्य बात यह है कि शङ्कर का अद्वैतवाद नितान्त मौलिक सिद्धान्त है। इसके लिये वे उपनिषद् तथा गौडपाद के ऋणी हैं—ऐतिहासिक आलोचना करने पर हम इसी सिद्धान्त पर पहुँचते हैं।

प्रायः लोग समझा करते हैं कि अद्वैत वेदान्त केवल विद्वानों के मनन की ही वस्तु है। परन्तु बात ऐसी नहीं है। जिस प्रकार यह समाज के विद्वानों की आकांक्षाओं की पूर्ति करता है उसी प्रकार साधारण मनुष्यों की माँग को भी पूर्ण करता है। अद्वैत वेदान्त व्यावहारिक धर्म है। संसार के समस्त प्राणी उसे अपना कर सुखी हो सकते हैं। मनुष्यों को आपस में प्रेम रखना चाहिए, क्योंकि जब प्रत्येक प्राणी में एक ही ज्योति जग रही है तब किसका आदर किया जाय और किसका अनादर? अद्वैत वेदान्त का मूलमन्त्र है 'तत्त्वमसि'। हम और हमारे पड़ोसी दोनों एक ही हैं, तब अपने पड़ोसी की सहायता करना अपनी ही सहायता करना है। पर उपकार तो उच्च कोटि का सूक्ष्म स्वार्थ-साधन ही है। स्वार्थ और परमार्थ में किसी प्रकार का अन्तर नहीं। यदि अद्वैत के इस उपदेश पर हम चलें तो जगत् का कितना मङ्गल हो!

उन्नीसवाँ परिच्छेद

विशिष्ट-समीक्षा

आचार्य शङ्कर के जीवन-चरित को सामूहिक रूप से आलोचना करने पर उनका महान् व्यक्तित्व, अलोकसामान्य पाण्डित्य, उदात्त चरित्र तथा अप्रतिम काव्यप्रतिभा का भव्य रूप आलोचकों के सामने स्पष्ट रूप से अभिव्यक्त होता है। आचार्य का मानव-जीवन आदर्श गुणों से परिपूर्ण था। उनके सम्पर्क में जो कोई भी व्यक्ति आया,

आदर्श गुण

उसके साथ अपना सम्बन्ध उन्होंने अच्छी तरह निभाया। गुरु तथा माता की उत्कट भक्ति, शिष्यों पर अनुपम प्रेम, भक्तों के प्रति असीम दया, शत्रुओं के प्रति अहेतुकी क्षमा आदि अनेक सद्गुणों का सामञ्जस्य उनमें पाया जाता है जिनमें से एक गुण की भी स्थिति किसी भी व्यक्ति को महान् बनाने के लिए पर्याप्त सिद्ध हो सकती है। वे पितृसौख्य से वञ्चित थे, परन्तु माता की एकमात्र सन्तान होने से उनका हृदय अपनी माता के लिए स्नेह तथा भक्ति से आप्लुत रहता था। संन्यास लेने की तीव्र वासना रहने पर भी उन्होंने माता का विरोध कर इस उपादेय आश्रम के ग्रहण करने की ओर कभी प्रवृत्ति नहीं दिखलायी। संन्यास-आश्रम को अपने लिए नितान्त कल्याणकारी जानकर भी शङ्कर ने इसको तब तक ग्रहण नहीं किया, जब तक माता ने अनुज्ञा नहीं दी। मृत्यु के समय पर उपस्थित होने की प्रतिज्ञा उन्होंने खूब निभायी। संन्यास-धर्म का किञ्चित् शैथिल्य उन्हें अभीष्ट था, परन्तु माता की आज्ञा का उल्लङ्घन उन्हें स्वीकृत न था। संन्यासी होकर भी उन्होंने अपने हाथों माता का दाह-संस्कार किया, इस कार्य के लिए उन्हें जाति-भाइयों का तिरस्कार सहना पड़ा, अवहेलना सिर पर लेनी पड़ी, परन्तु वे माता की इच्छा को कार्यान्वित करने से तनिक भी पराङ्मुख नहीं हुए। मातृ-भक्ति का यह उदाहरण सदा हमारे हृदय को स्नेहसिक्त बनाता रहेगा। गुरु-भक्ति भी उनमें कम मात्रा में न थी। गुरु की खोज में वे इधर से उधर भटकते रहे, परन्तु जब उचित गुरु मिल गये, तब उन्होंने उनसे शिक्षा ग्रहण करने में तनिक भी आनाकानी नहीं की। गुरु-भक्ति का परिचय शङ्कर ने नर्मदा के बढ़ते हुए जल को अभिमन्त्रित कलश के भीतर पुञ्जीभूत करके दिया, नहीं तो वह गोविन्द भगवत्पाद की गुफा को जलमग्न करने पर भी उद्यत था। शिष्यों के लिए गुरु के हृदय में प्रगाढ़ अनुकम्पा थी। आनन्दगिरि स्वभावतः मन्दबुद्धि थे, अतः उन्हें सहपाठियों के तिरस्कार का भाजन

बनना पड़ता था। परन्तु आचार्य ने अलौकिक शक्ति से समग्र विद्याओं का संक्रमण उनमें सम्पन्न कर शिष्यों को आश्चर्य के समुद्र में मग्न कर दिया।

यह तो हुई आचार्य के 'हृदय' की अभिव्यक्ति। उनकी मानसिक शक्ति भी अपूर्व थी। मेधाशक्ति इतनी तीव्र थी कि उन्होंने नष्ट हुए ग्रन्थों का पुनरुद्धार कर दिया। पद्मपाद की पञ्चपादिका तथा राजशेखर के नाटक आचार्य शङ्कर के मेधा के उज्ज्वल दृष्टान्त हैं। मनुष्य, मस्तिष्क तथा हृदय का अपूर्व संमिश्रण है। किसी व्यक्ति में मस्तिष्क का अधिक विकास मिलता है, तो किसी में हृदय का। परन्तु पूर्ण मानवता की सच्ची पहचान है मस्तिष्क तथा हृदय का मृदुल सामञ्जस्य। इस सामञ्जस्य की दृष्टि से परखने पर आचार्य शङ्कर का जीवन खरा उतरता है। उनमें जितना विकास मस्तिष्क का उपलब्ध होता है, उतनी ही हृदय की भी अभिव्यक्ति मिलती है।

कर्मठ जीवन

कुछ लोग 'मायावाद' के व्यवस्थापक होने के नाते शङ्कर के ऊपर इस ठोस संसार को मायिक तथा स्वप्नवत् मिथ्या बतलाने का दोष आरोपित करते हैं। उनकी दृष्टि में इस कर्मठ देश में अकर्मण्यता तथा अलसता फैलाने का सारा दोष 'मायावाद' के उपदेष्टा के ऊपर है। जब समग्र जीवन ही मिथ्या ठहरा, तब उसे सुखमय बनाने को उद्योग करने की जरूरत ही क्या ठहरेगी? जगत् को मायिक मानते जाना और अपने आप को सुखाभास की मृगमरीचिका में फँसाये रहना—शङ्कर की शिक्षा का यही दुष्परिणाम है। ऐसे तर्काभासों को दूर करने के लिए आचार्य के कर्मठ-जीवन पर दृष्टिपात करना ही पर्याप्त होगा। उन्होंने अपने भाष्यों में जिन सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया, उन्हीं का व्यवहार-दृष्ट्या पालन अपने जीवन में किया। इस प्रकार आचार्य का जीवन उनके ग्रन्थों पर स्वयं भाष्यभूत है। वे एक स्थान पर रह कर सुख का जीवन नहीं बिताते थे, प्रत्युत देश भर के कोने-कोने में घूमकर वैदिक धर्म की प्रतिष्ठा के लिए सदा प्रयत्नशील थे।

शङ्कराचार्य के जीवन का प्रधान लक्ष्य वैदिक धर्म की प्रतिष्ठा तथा प्रचार था। उनके समय से पूर्व अवैदिक तथा वैदिकाभास धर्मों ने अपने वेद-विरोधी सिद्धान्तों का प्रचुर प्रचार कर जनसाधारण के हृदय में वैदिक धर्म के पालन करने में अश्रद्धा उत्पन्न कर दी थी। अज्ञानवश वेद के तथ्यों को अपसिद्धान्त का रूप देकर अनुयायियों ने इसे जर्जरित करने का पर्याप्त उद्योग किया था, परन्तु शङ्कर ने अपने अलोकसामान्य पाण्डित्य के बल पर इन समग्र अवैदिक या अर्धवैदिक सिद्धान्तों की धज्जियाँ उड़ा दीं। उनकी निःसारता प्रमाणित कर दी तथा वेद-

प्रतिपाद्य अद्वैतमत का विपुल ऊहापोह कर श्रौत धर्म को निरापद बना दिया। इस महत्त्वपूर्ण कार्य के निमित्त आचार्य शङ्कर ने अनेक व्यापक तथा उपादेय साधनों का अवलम्बन लिया—

(१) शास्त्रीय विचार से तर्कपक्ष का अवलम्बन कर आचार्य ने विरुद्ध मतवादों के अपसिद्धान्तों का युक्तियुक्त खण्डन कर दिया। इन अवैदिकों ने भारत के अनेक पुण्यक्षेत्रों को अपने प्रभाव से प्रभावित कर वहाँ अपना अड्डा जमा लिया था। आचार्य ने इन पुण्यक्षेत्रों को इनके चङ्गुल से हटा कर उन स्थानों की महत्ता फिर से जाग्रत की। दृष्टान्त रूप से 'श्रीपर्वत' को लिया जा सकता है। यह स्थान नितान्त पवित्र है, द्वादश ज्योतिर्लिङ्गों में से प्रधान लिङ्ग मल्लिकार्जुन का यह स्थान है, परन्तु कापालिकों की काली करतूतों ने इसे विद्वानों की दृष्टि से काफी बदनाम कर रखा था। कापालिकों की उग्रता इसी से समझी जा सकती है कि कार्णाटक की उज्जयिनी नगरी में क्रकच कापालिकों का एक प्रभावशाली सरदार था। उसके पास हथियारबन्द सेना रहती थी। जिसे वह चाहता, झट उसे अपने वश में कर लेता था। यह उग्र कापालिक तो आचार्य के ऊपर ही अपना हाथ साफ करने जा रहा था, परन्तु पद्मपाद के मन्त्रबल ने उसके पापकृत्य का मजा उसे ही चखा दिया। पाप का विषमय फल तुरन्त फला। आचार्य ने इन पवित्र स्थानों को वैदिक मार्ग पर पुनः प्रतिष्ठित किया। आनन्दगिरि ने अपने ग्रन्थ में शाक्तों तथा नाना प्रकार के सम्प्रदाय मानने वाले व्यक्तियों को परास्त करने तथा पुण्य तीर्थों में वैदिक धर्म की उपासना पुनः प्रचारित करने का पर्याप्त उल्लेख किया है। इस प्रकार धर्म-प्रचार का प्रथम साधन, तीर्थों को अवैदिक मत के प्रभावों से मुक्त करना और उनमें शुद्ध सात्त्विक वैदिक उपासना का प्रचार करना था।

(२) वैदिक ग्रन्थों के प्रति अश्रद्धा का कारण उनकी दुरूहता भी थी। उपनिषदों का रहस्य क्या है ? इस प्रश्न के उत्तर में जब पण्डितों में ही एकमत नहीं है, सर्वसाधारण जनता की तो कथा ही न्यारी है। आचार्य ने इसीलिए श्रुति के मूर्धस्थानीय उपनिषदों की विशद व्याख्या लिखकर उनके गूढ़ अर्थ को प्रकट किया। ब्रह्मसूत्र और गीता पर अपने सुबोध भाष्य लिखे। साधारण लोगों के निमित्त उन्होंने प्रकरण-ग्रन्थ की रचना कर अपने भाष्य के सिद्धान्त को बोधगम्य भाषा में सरस श्लोकों के द्वारा अभिव्यक्त किया। इतना ही नहीं, वेदान्त शास्त्र के सिद्धान्तों के विपुल प्रचार की अभिलाषा से इन्होंने अपने भाष्यग्रन्थों पर वृत्ति तथा वार्तिक लिखने के लिए विद्वानों को प्रोत्साहित किया। शिष्यों के हृदय में आचार्य की प्रेरणा प्रभावशालिनी सिद्ध हुई। उन लोगों ने इस विषय में आचार्य के पदों

अद्वैतसाहित्य के प्रतिष्ठापक

का अनुसरण किया। आज जो विपुल ग्रन्थ-राशि अद्वैत के प्रतिपादन के लिए प्रस्तुत की गयी है, उसकी रचना की प्रेरणा का मूल-स्रोत आचार्य के ग्रन्थों से प्रवाहित हो रहा है। वेदान्त के अन्य सम्प्रदायों में भी प्रस्थानत्रयी पर भाष्यग्रन्थों के लिखने की प्रवृत्ति आचार्य शङ्कर से ही मिली। यह ऐतिहासिक तथ्य है कि शङ्कर से पहले किसी आचार्य ने समस्त प्रस्थानत्रयी पर भाष्यग्रन्थों की रचना नहीं की थी। अद्वैत साहित्य को जन्म देकर शङ्कर ने ऐसा प्रबन्ध कर दिया कि जिससे समग्र देश की जनता उनके द्वारा प्रचारित धर्म का मर्म समझे और कोई भी अद्वैत तत्त्व के उपदेश से वञ्चित न रह जाय।

(३) धर्म-संस्थापन कार्य को स्थायी बनाने के लिए शङ्कर ने संन्यासियों को सङ्घबद्ध करने का श्लाघनीय उद्योग किया। गृहस्थ अपने ही काम में चूर है, अपने घर-गृहस्थी के कामों को सुलझाने में व्यस्त है। उसे अवकाश कहाँ कि वह धर्म के प्रचार के लिए अपना समय दे सके। इस कार्य के लिए यदि उपयुक्त कोई व्यक्ति है तो वह संसार से विरक्त संन्यासी ही है। उसे न घर है न द्वार, न जोरू है न जाँता, जिसकी चिन्ता में वह बेचैन बना रहे। अपनी शिक्षा-दीक्षा, उपासना तथा निवृत्ति के कारण वह समाज का उपदेशक भली भाँति हो सकता है। आचार्य की पैनी दृष्टि ने इस वर्ग की महत्ता पहचानी और उसे सङ्घरूप में सङ्गठित किया। विरक्त पुरुष ही धर्म का सच्चा उपदेश दे सकता है तथा अपना जीवन वैदिक धर्म के अभ्युत्थान, अभ्युदय तथा मङ्गल-साधन में लगा सकता है। शङ्कर ने इस विरक्त तापसवर्ग को एकत्र कर एक सङ्घ के रूप में बाँध कर वैदिक धर्म के भविष्य कल्याण के लिए महान् कार्य सम्पन्न कर दिया। कहना व्यर्थ है कि शङ्कर का यह कार्य नितान्त गौरवपूर्ण हुआ। संन्यासी लोगों ने हमारे धर्म के रक्षण के लिए बहुत बढ़िया काम पहले किया है और आज भी कर रहे हैं। धर्म के ऊपर जब सङ्कट के आने की आशङ्का होती है तब यह विरक्त-मण्डली आगे आती है और गृहस्थों को समझा-बुझाकर सन्मार्ग पर डटे रहने का उपदेश देती है। इस प्रकार 'संन्यासीसङ्घ' की स्थापना को हम आचार्य का तृतीय महत्वपूर्ण कार्य कह सकते हैं।

संन्यासी सङ्घ की स्थापना

(४) अपने कार्य को अक्षुण्ण बनाये रखने के लिए शङ्कर ने भारतवर्ष की चारों दिशाओं में चार मठों की स्थापना की। इनका विशिष्ट वर्णन किसी पिछले परिच्छेद में किया गया है। यहाँ इतना ही जान लेना आवश्यक है कि इन मठों के शासक वस्तुतः भारत के धार्मिक शासक थे जिनकी आज्ञा आस्तिक जनता बड़े गौरव तथा आदर से मानती थी। भारतवर्ष का धार्मिक दृष्टि से भी विभाजन

कर उन्हें इन्हीं मठों के अधीन कर दिया। मठ के अध्यक्ष का प्रधान कार्य है कि वह अपने शासन-क्षेत्र में घूम-घूम कर सदा धार्मिक भावना जागरित रक्खे। यह मठस्थापन का कार्य आचार्य का चौथा व्यावहारिक कार्य है जिससे उनका मत जनता के हृदय को स्पर्श कर सका।

मठ-स्थापन

शङ्कर के उपदेश नितान्त प्रभावशाली थे, इसमें किसी को सन्देह नहीं हो सकता। तभी तो इनका प्रभाव देश के एक कोने से लेकर दूसरे कोने तक शीघ्र पड़ गया। इस प्रभाव का रहस्य इस बात में छिपा हुआ है कि उनके उपदेश अनुभव की दृढ़ भित्ति पर आश्रित हैं। अनुभूत सत्य का ही उपदेश सबसे अधिक प्रभावशाली होता है। अद्वैतमत का प्रभाव भारतीय जनता पर खूब गहरा पड़ा। रामानुज, मध्व तथा अन्य आलोचकों ने मायावाद के खण्डन में जी-जान से उद्योग किया परन्तु आचार्य की व्याख्या इतनी सारगर्भित है कि विरोध होने पर भी हिन्दू जनता अद्वैतवाद में भरपूर श्रद्धा रखती है।

पाण्डित्य

आचार्य शङ्कर दार्शनिकों के ही शिरोमणि नहीं हैं, प्रत्युत् उनकी गणना संसार के उन दार्शनिकों में की जाती है जिन्होंने अपने विचारों से मानव-विचार की धारा ही पलट दी। वे कितने उच्च कोटि के दार्शनिक थे, इसका परिचय उनकी रचनावली दे रही है। उन्होंने प्रस्थानत्रयी जैसे कठिन अथ च दुरूह अध्यात्म-ग्रन्थों का अभिप्राय अपने भाष्यों में इतनी सरलता तथा सुगमता से समझाया है कि इसका पता विज्ञ पाठक को पद-पद पर लगता है। भाष्यों की भाषा नितान्त रोचक, बोधगम्य तथा प्रौढ़ है। शैली प्रसन्न-गम्भीर है। इन कठिन गम्भीर ग्रन्थों की व्याख्या इतनी प्रसादमयी वाणी में की गयी है कि पाठक को पता नहीं चलता कि वह किसी दुरूह विषय का विवेचन पढ़ रहा है। शङ्कराचार्य का ज्ञान बड़ा ही व्यापक था। वह केवल वैदिक धर्म के मूल-ग्रन्थों तक ही सीमित न था, प्रत्युत् उसकी परिधि खूब ही विस्तृत थी। जिन मतों का उन्होंने खण्डन किया है उनकी जानकारी उन्हें विशेष रूप से थी। बौद्ध, जैन, पाञ्चरात्र तथा पाशुपत, सांख्य, न्याय-वैशेषिक तथा मीमांसा—इन शास्त्रों में उनकी अबाध गति प्रतीत होती है। वैदिक दर्शनों के गाढ़ परिचय पर आलोचकों को विस्मय नहीं होता, परन्तु सचमुच आचार्य का बौद्ध दर्शन के मूल सिद्धान्तों का प्रतिपादन एक विस्मयनीय घटना है। आचार्य ने उस समय के प्रकाण्ड बौद्धाचार्यों—विशेषतः दिङ्नाग तथा धर्मकीर्ति—के ग्रन्थों का पर्याप्त परिशीलन किया था। ध्यान देने की बात यह है कि आचार्य ने ऐसे कतिपय बौद्ध सिद्धान्तों का खण्डन किया है जो प्रचलित

ग्रन्थों में उपलब्ध नहीं होते। परन्तु आजकल प्रकाशित होने वाले बौद्ध ग्रन्थों में शङ्कर-कृत पूर्वपक्ष की सत्ता देखकर आश्चर्य होता है। बिना बौद्ध दर्शन के विशाल तथा गम्भीर अध्ययन के कोई भी व्यक्ति इतना पुङ्खानुपुङ्ख खण्डन कभी नहीं कर सकता। अन्य दर्शनों की भी ठीक यही दशा है। जान तो पड़ता है कि शङ्कराचार्य बड़े भारी अध्ययनशील विद्वान् थे। यावत् उपलब्ध दर्शन ग्रन्थों का उन्होंने विचारपूवक अध्ययन किया था तथा खूब प्रवेशपूर्वक उनका मनन तथा अनुशीलन किया था।

शङ्कराचार्य भारतीय दार्शनिकों के मुकुटमणि हैं, इसे कौन स्वीकार नहीं करता? जिस प्रकार कोई धनुर्धर अपना तीर चलाकर लक्ष्य के मर्मस्थल को विद्ध कर देता है, उसी प्रकार आचार्य ने अपना तर्करूपी तीर चलाकर विपक्षियों के मूल-सिद्धान्त को छिन्न-भिन्न कर दिया है। मूल-सिद्धान्त के खण्डन करने की उनकी स्वाभाविक प्रवृत्ति रहती है। उस सिद्धान्त के खण्डन करते ही अन्य सिद्धान्त बालू की भीत की तरह भूतलशायी हो जाते हैं। आचार्य के भाष्यों को हम वीणा के सदृश मान सकते हैं। वीणा के तार की एक विशिष्टता रहती है। उससे एक ध्वनि तो ऐसी निकलती है जिसे सर्वसाधारण सुनते हैं और पहचानते हैं। परन्तु उसके मधुर झङ्कार के भीतर एक सूक्ष्म कोमल ध्वनि भी निकलती है जिसे कलाविदो के ही कान सुनते और पहचानते हैं। भाष्यां की भी ठीक ऐसी ही दशा है। उनके ऊपरी अर्थ का बोध तो सर्वसाधारण करते ही हैं, परन्तु इनके भीतर से एक सूक्ष्म गम्भीर अर्थ की भी ध्वनि निकलती है जिसे विज्ञ पण्डित ही समझते-बूझते हैं। भाष्यां की गम्भीरता सर्वथा स्तुत्य तथा श्लाघनीय है। आचार्य ने छोटे-छोटे प्रकरण-ग्रन्थों में अपने सिद्धान्त सरल सुबोध भाषा में प्रदर्शित करने की अद्भुत कला दिखलायी है। यह तो सर्वमान्य बात है कि विषय का संक्षिप्त विवेचन वही यथार्थ रूप से कर सकता है जिसने उसका विस्तृत तथा गम्भीर विचार किया हो। शङ्कर के समस्त प्रकरण-ग्रन्थ विषय प्रतिपादन की दृष्टि से नितान्त उपादेय तथा रुचिकर हैं। छोटे-छोटे छन्दों में, परिचित दृष्टान्तो की सहायता से पाण्डित्यपूर्ण विषय अनायास ही बुद्धिगम्य हो जाते हैं। आचार्य की यह विशिष्टता प्रत्येक पाठक की दृष्टि को आकृष्ट करती है। वाचस्पति मिश्र जैसे मर्मज्ञ विद्वान् ने आचार्य की वाणी को, उनके वचनों को उसी प्रकार पवित्र करने वाली बतलाया है जिस प्रकार भगवती भागीरथी का जल गलियों के जल को पवित्र बना डालता है—

> आचार्यकृतिनिवेशनमप्यवधूतं वचोऽस्मदादीनाम्।
> रथ्योदकमिव गङ्गाप्रवाहपातः पवित्रयति ॥—भामती

वाचस्पति का यह कथन यथार्थ है!

कवित्व

कविता मानव-हृदय को आनन्द से उल्लसित बनाने वाला कमनीय कला है। जिस कवि का हृदय रस से जितना ही सिक्त होगा, उसकी कविता उतनी ही स्निग्ध और हृदयग्राहिणी होगी। छन्द तो कविता का जरूरी जामा नहीं है। सच्ची कविता गद्य-पद्य का विभेद नहीं जानती। वह तो अपना सरस चमत्कार दिखलाने के लिए सदा प्रस्तुत रहती है। हमारे शास्त्रकारों ने पते की बात कही है कि काव्य-रचना की शक्ति भगवती शारदा की अनुकम्पा का प्रसाद है। संसार में मनुष्य का चोला मिलना ही कठिन होता है; उसपर विद्या का अर्जन दुर्लभ होता है; विद्या-सम्पन्न होने पर कवित्व की प्राप्ति अनुपम घटना है; और तिसपर कविता लिखने को शक्ति रखना तो संसार में एकदम दुर्लभ है :—

नरत्वं दुर्लभं लोके, विद्या तत्र सुदुर्लभा।
कवित्वं दुर्लभं तत्र, शक्तिस्तत्र सुदुर्लभा।

बात विचित्र है, परन्तु है बिल्कुल सत्य। शङ्कराचार्य में पाण्डित्य के साथ-साथ कवित्व का अनुपम सम्मेलन था। आचार्य की कविता पढ़ कर सहसा विश्वास नहीं होता कि यह किसी तर्क-निष्णात परमतविदूषक विद्वान् की रचना है। विचारणीय बात है ज्ञानमार्गी तथा भक्तिमार्गी आचार्यों की कविता का नितान्त स्फुट विभेद। शङ्कर प्रौढ़ ज्ञानमार्गी थे—उनके दर्शन में ज्ञान की ही महती विशिष्टता है, भक्ति तो केवल सगुण ब्रह्म की ही उपलब्धि कराने का साधन है, उससे हम अपने उच्च आदर्श पर पहुँच नहीं सकते। परन्तु रामानुज, मध्वाचार्य, निम्बार्क तथा वल्लभाचार्य तो वैष्णव मत के उपदेष्टा आचार्य हैं। उनके यहाँ तो भक्ति ही भगवान् तक पहुँचाने में सर्वतोभावेन जागरूक रहती है—भगवान् की अनुकम्पा पाने का एकमात्र उपाय भक्ति ही है। साधन की इस भिन्नता के कारण हम आशा किये हुए थे कि भक्तिवादी आचार्यों की कविता हृदयग्राहिणी, स्निग्ध तथा रसमय होगी परन्तु सच्ची बात ऐसी नहीं है। 'को बड़ छोट कहत अपराधू'। ये वैष्णव आचार्य भगवान् के परमभक्त उपासक थे, इसमें रञ्चक-मात्र भी सन्देह नहीं है, परन्तु काव्य के मर्मज्ञ आलोचक को हठात् कहना पड़ता है कि ज्ञानवादी अद्वैती शङ्कराचार्य की कविता भक्तिवादी वैष्णव आचार्यों की कविता से, काव्य-सम्पत्ति की दृष्टि में, शब्द की सुन्दरता में तथा अर्थ को अभिरामता में, कल्पना की कमनीयता में तथा रस की अभिव्यक्ति में, अवश्य ही बढ़कर है। इन आचार्य के पद्यों में प्रौढ़ता है, तार्किकता है परन्तु उस

स्निग्धता तथा कोमलता का अभाव है जो सहृदयों का हृदय आवर्जन करती है। परन्तु शङ्कराचार्य की कविता संस्कृत-साहित्य की एक मनोरम वस्तु है।

शङ्कर की कविता रस-भाव-निरन्तरा है, यह आनन्द का अजस्र स्रोत है, यह उज्ज्वल अर्थरत्नों की मनोरम पेटिका है, कमनीय कल्पना की ऊँची उड़ान है। उसमें एक विचित्र मोहकता है, अनुपम मादकता है, जिसे पढ़ते ही मस्ती छा जाती है। कविता में शब्द-सौन्दर्य इतना अधिक है कि शब्दों की माधुरी चख कर चित्त अन्य विषयों से हट कर इस मनोरम काव्य-प्रवाह में प्रवाहित होने लगता है। कौन ऐसा भावुक होगा जिसका मनोमयूर 'भज गोविन्दं' स्तोत्र की भावभङ्गी पर नाच नहीं उठता ?

> भज गोविन्दं भज गोविन्दं भज गोविन्दं मूढमते।
> प्राप्ते सन्निहिते ते मरणे नहि नहि रक्षति डुकृञ् करणे।
> बालस्तावत् क्रीडासक्तः तरुणस्तावत् तरुणीरक्तः।
> वृद्धस्तावत् चिन्तामग्नः परमे ब्रह्मणि कोऽपि न लग्नः॥

—की मधुर स्वर-लहरी हमारे कानों में जब सुधा बरसाने लगती है, तब हम इस दुःखमय भौतिक जगत् से बहुत ऊँचे उठकर किसी अलौकिक जगत् में पहुँच जाते हैं और सद्यः ब्रह्मानन्द का आस्वाद लेने लगते हैं। काव्य का आनन्द उनके प्रत्येक स्तोत्र के पाठ से होता है, विशेषतः श्री ललिता के स्तोत्रों से। 'आनन्दलहरी' सचमुच भावुकों के हृदय में आनन्द की लहरी उठाती है। भगवती को आचार्य चिदानन्द की लतिका (लता) बतलाते हैं। इस प्रसङ्ग में साङ्गरूपक की रमणीयता अनुपम है—

> हिमाद्रेः सम्भूता सुललितकरैः पल्लवयुता
> सुपुष्पा मुक्ताभिर्भ्रमरकलिता चालकभरैः।
> कृतस्थाणुस्थाना कुचफलनता सूक्तिसरसा
> रुजां हन्त्री गन्त्री विलसति चिदानन्दलतिका॥

चिदानन्दमयी भगवती जङ्गम लता हैं, जो हिमालय से उत्पन्न हुई है, सुन्दर हाथों से पल्लवयुक्त है, मोतियाँ फूल के समान है, बालों के भार से वह भ्रमर से सम्पन्न है, स्थाणु (शिव तथा ठूंठ पेड़) पर वह आश्रय लेने वाली है, स्तनों के फल से वह नम्र है, सूक्तियों से सरस है तथा रोगों को नष्ट करने वाली औषधि है।

'अपर्णा' शब्द की उपयुक्तता दर्शाते समय शङ्कर की यह अनूठी सूझ किसे नहीं अनुपम भाती ? सब लोग तो सपर्णा (पत्ते से युक्त) कतिपय गुणों से सम्पन्न लता का आश्रय लेते हैं, परन्तु मुझे अपर्णा (पत्तों से हीन लता) पार्वती

ही अच्छी मालूम पड़ती है जिसके आश्रय से वह पुराण स्थाणु (पुराना ठूँठ तथा शिव) भी कैवल्य—मोक्ष—का फल देता है। यदि पार्वती का प्रसाद न मिले, तो ठूँठ क्या फल दे सकता है ?

सपर्णामाकीर्णां कतिपयगुणैः सादरमिह
श्रयन्त्यन्ते वल्लिं मम तु मतिरेवं विलसति ।
अपर्णैका सेव्या जगति सकलैर्यत् परिवृतः
पुराणोऽपिस्थाणुः फलति किल कैवल्यपदवीम् ।।

'सौन्दर्यलहरी' तो अपनी काव्य-कला तथा आध्यात्मिकता के निदर्शन में संस्कृत के स्तोत्र-साहित्य में एक देदीप्यमान् रत्न है जिसकी स्निग्ध प्रभा शताब्दियों से भक्त हृदयों को शीतल बनाती आती है। कल्पना की ऊँची उड़ान, अर्थों की नवीनता तथा भावों की रमणीयता देखने के लिए अकेले सौन्दर्यलहरी का अध्ययन ही पर्याप्त होगा। इस विषय में दो-चार पदों की समीक्षा ही यथेष्ट होगी।

तनोतु क्षेमं नस्तव वदनसौन्दर्यलहरी—
परीवाहः स्रोतः सरणिरिव सीमन्तसरणी ।
वहन्तो सिन्दूरप्रबलकवरी भारतिमिर—
द्विषां वृन्दैर्वन्दीकृतमिव नवीनार्ककिरणम् ।।

भगवती ने अपने माथे पर माँग फाड़ रखा है। वह ऐसा प्रतीत होता है मानो मुख के सौन्दर्य की लहरी के बहने के लिए रास्ता हो। उसमें सिन्दूर लाल रङ्ग का सुशोभित होता है, जान पड़ता है कि काले-काले केशों के रूप में घने अन्धकार ने अपने शत्रुरूपी नवीन सूर्य-किरणों को बन्दी बना रखा है। बड़ी अनूठी उक्ति है। जिस प्रकार कोई प्रबल व्यक्ति अपने शत्रु को कारागृह में बन्द कर देता है, ठीक उसी प्रकार प्रबल अन्धकार के पुञ्ज ने केशपाश का रूप धारण कर अपने शत्रु--बालसूर्य की किरण—को बन्दी बना रक्खा है !

भगवती की आठ प्रकार की दृष्टि भारत की आठ प्रसिद्ध नगरियों की प्रतिनिधि प्रतीत होती है :—

विशाला कल्याणी स्फुटरुचिरयोध्या कुवलयैः
कृपाधारा ऽऽधारा कमपि मधुरा भोगवतिका ।
अवन्ती दृष्टिस्ते बहुनगर-विस्तार-विजया
ध्रुवं तत्तन्नाम-व्यहरणयोग्या विजयते ।।

तुम्हारी दृष्टि व्यापक है, कल्याण देने वाली है, रुचि से चमकती है और

इसलिए नीलकमल, युद्ध में उसकी समता करने के लिए कभी खड़ा नहीं हो सकता। कृपा की धारा का वह झरना है, अत्यन्त मीठी है, भोग से युक्त है, भक्तों की वह रक्षिका है। इस प्रकार वह अनेक नगरों की शोभा को विस्तार के साथ जीतने वाली है। इसीलिए वह इन नगरों के नाम से क्रमशः पुकारी जाती है—वह विशाला (उज्जैनी), कल्याणी, अयोध्या, धारा, मधुरा, भोगवती, अवन्ती तथा विजया नामक भारत-प्रसिद्ध नगरियों के नाम से पुकारी जाती है। मुद्रालङ्कार की छटा अवलोकनीय है।

भगवती की रोमावलि क्या है ? शिव की नेत्र-ज्वाला से जब कामदेव सन्तप्त था, तब दौड़ता हुआ आकर वह ललिता के गहरे नाभीह्रद में कूद पड़ा। उससे धूम की रेखा जो उठी, वही संसार पुकारने लगा कि यह भगवती की रोमावलि है जो नाभि-प्रदेश से उठकर छाती की ओर जा रही है :—

हरक्रोधज्वालावलिभिरवलीढेन वपुषा
गभीरे ते नाभो सरसि कृतसङ्गो मनसिजः।
समुत्तस्थौ तस्मादचलतनये ! धूमलतिका
जनस्तां जानीते तव जननि रोमावलिरिति॥

भगवती से आचार्य की सदय प्रार्थना है कि हे मातः ! विकसित नीलकमल की शोभा वाले अपने दीर्घ नेत्रों से इस दीन की ओर देखिए जिससे वह कृपा से सिक्त हो जाय। इससे वह धन्य हो जाएगा और आपकी हानि न होगी। चन्द्रमा सर्वत्र अपनी किरणों को फैलाता है—चाहे वह चमकता हुआ महल हो अथवा उजाड़ बीहड़ जङ्गल हो :—

दृशा द्राघीयस्या दरदलितनीलोत्पलरुचा
दवीयांसं दीनं स्नपय कृपया मामपि शिवे।
अनेनायं धन्यो भवति न च ते हानिरियता
वने वा हर्म्ये वा समकरनिपातो हिमकरः॥

यह तो हुई पद्यात्मक काव्य-कला की सुषमा। आचार्य के संस्कृत गद्य की कमनीयता कम रोचक नहीं है। उनके शास्त्रीय ग्रन्थों में साहित्यिक गद्य का पूर्ण आनन्द आता है। उनकी एक विशिष्ट शैली है। यह तो मानी हुई बात है कि अद्वैत तत्त्व उन्नत मस्तिष्क की उपज है—वह साधारण बुद्धि के लिए दुरूह विषय है, परन्तु उसी विषय को आचार्य शङ्कर ने इतने सुन्दर, सरस तथा सुबोध शब्दों में अभिव्यक्त किया है कि विषय को हृदयङ्गम होते विलम्ब नहीं होता। पढ़ते समय जान नहीं पड़ता कि इतने गम्भीर विषय का प्रतिपादन हो रहा है। बीच-बीच में लोकोक्तियों के पुट से तथा दृष्टान्तों के सद्भाव से आचार्य के लेख में सञ्जीवनी-शक्ति का सञ्चार हो जाता है। इसीलिए उनके भाष्य 'प्रसन्न-

गम्भीर' कहे गये हैं—जिनमें गम्भीरता के साथ साथ प्रसाद गुण की मनोहर अभिव्यक्ति होती है।

ब्रह्मसूत्र भाष्य का आरम्भ ही बड़ी उदात्त शैली में किया गया है। पठनमात्र से विचित्र गम्भीरता की भावना जाग्रत हो उठती है। वाक्यों को छोटा या बड़ा भावानुकूल ही किया गया है। अध्यास विषय का वर्णन सुनिए—

एवमहं प्रत्ययिनमशेषस्वप्रचारसाक्षिणि प्रत्यगात्मनि अध्यस्य तं च प्रत्यगात्मनं सर्वसाक्षिणं तद्विपर्ययेणान्तःकरणादिषु अध्यवस्यति। एवमयमनादिरनन्तो नैसर्गिकोऽध्यासो। मिथ्याप्रत्ययरूपः कर्तृत्वभोक्तृत्वप्रवर्तकः सर्वलोकप्रसिद्धः।

शङ्कर के गद्यकाव्य का आनन्द लेने के लिए केवल एक वाक्य स्मरण रखना चाहिए जिसपर मेरी दृष्टि से अनेक गद्य के बड़े पोथे निछावर किये जा सकते हैं। वह वाक्य है—नहि पद्भ्यां पलायितुं पारयमाणो जानुभ्यां रंहितुमर्हति—जो व्यक्ति पैरों से भागने में समर्थ है उसे घुटने के बल रेंगना कभी शोभा नहीं देता। बहुत ही ठीक!

तान्त्रिक उपासना

आचार्य के जीवन की एक विशिष्ट दिशा की ओर विद्वज्जनों का ध्यान आकृष्ट करना नितान्त आवश्यक है—यह है उनकी उपासना-पद्धति की विशिष्टता। शङ्कर मन्त्रशास्त्र के एक बड़े भारी मर्मज्ञ विद्वान् थे। परन्तु उन्होंने अपने तान्त्रिक रूप को भाष्यों के पृष्ठों में अभिव्यक्त होने नहीं दिया है। इसमें एक रहस्य है। भाष्य की रचना तो सर्वसाधारण के लिए की गयी थी, इसलिए उसमें ज्ञान की महत्ता का प्रतिपादन है। उपासना नितान्त अन्तरङ्ग वस्तु है। उसकी साधना के लिए उपयुक्त अधिकारी चाहिए। ज्ञान के लिए उतने विशिष्ट कोटि के अधिकारी की आवश्यकता नही होती जितनी तान्त्रिक उपासना के लिए। उपयुक्त अधिकारी के मिलने पर ही उस उपासना का रहस्य किसी को समझाया जा सकता है। यही कारण है कि शङ्कर ने इस विषय को अपने भाष्यों में आने नही दिया परन्तु इसका प्रतिपादन उन्होंने 'सौन्दर्य लहरी' तथा 'प्रपञ्चसार' में पर्याप्त मात्रा में कर दिया है। वे साधना-साम्राज्य के सम्राट् थे। वे भगवती त्रिपुरा के अनन्य उपासक थे। मठों में आचार्य ने श्रीविद्यानुकूल देवी की पूजा-अर्चा का विधान प्रचलित किया। यह बात किसी से छिपी नहीं है कि वह पूजा-परम्परा आज भी अक्षुण्ण रूप से चल रही है। आचार्य का यह साधक रूप उनके जीवन-मन्दिर का कलश-स्थानीय है। इनका जीवन क्या था? परमार्थ-साधन की दीर्घव्यापिनी परम्परा थी। वे उस स्थान पर पहुँच चुके थे जहाँ स्वार्थ का कोई भी चिह्न

अवशिष्ट नहीं रहता। सब कुछ परमार्थ ही था। ग्रन्थों के अध्ययन से हम उनकी उन्नत विचार-शक्ति तथा अलौकिक प्रतिभा से परिचित होते हैं। परन्तु उनमें एक और विशेष बात थी—साधारणजन के प्रति सहानुभूति। उस महान् व्यक्ति के लिए हमारे हृदय में बहुत ही अधिक आदर होता है जो स्वयं हिमालय के ऊँचे शिखर पर चढ़ गया हो और घाटी के दुर्गम मार्ग में धीरे-धीरे पैर रखकर आगे बढ़ने वाले राहियों के ऊपर सहानुभूति दिखला कर उनको राह बतलाता हो। आचार्य की दशा भी ठीक उसी व्यक्ति के समान है। वे स्वयं प्रज्ञा के प्रासाद पर आरूढ़ थे, उस पर चढ़ने वाले व्यक्ति के ऊपर सहानुभूति तथा अनुकम्पा दिखला कर उसके मार्ग का निर्देश कर रहे थे। चढ़ने के अभिलाषी जनों के ऊपर उन्होंने अनादर-दृष्टि कभी न डाली, प्रत्युत् उन पर दया दिखलायी, अनुकम्पा की, जिससे वे भी उत्साहित होकर आगे बढ़ते जाएँ और उस अनुपम आनन्द के लूटने का सौभाग्य प्राप्त करें। आचार्य की स्थिति का वर्णन निम्नलिखित श्लोक से भली-भाँति किया जा सकता है जिसे व्यास ने अपने योगभाष्य (१।४७) में उद्धृत किया है :—

प्रज्ञाप्रासादमारुह्याशोच्यः शोचतो जनान्।
भूमिष्ठानिव शैलस्थः सर्वान् प्राज्ञोऽनुपश्यति॥

× × ×

आचार्य शङ्कर के बहुमुखी प्रतिभा-सम्पन्न व्यक्तित्व का यह सामान्य परिचय है। इससे स्पष्ट है कि जगत् की व्यावहारिक सत्ता के प्रतिपादन करने वाले आचार्य जितने आदर्शवादी थे उतने ही यथार्थवादी भी थे। उनका अद्वैत-सिद्धान्त उच्च विचार-शक्ति का परिणाम होने पर भी उन्हें संसार के अस्तित्व से, व्यवहार की व्यापकता से पराङ्मुख नहीं कर सका। अद्वैत वेदान्त व्यावहरिक धर्म है जिस पर विभिन्न मत वाले भी आस्था रख सकते हैं। अद्वैत वेदान्त के मूल प्रतिष्ठापकों की बात हम भली भाँति नहीं जानते, परन्तु इसे इतनी व्यापकता प्राप्त हुई है कि यह भारतीय जनता का व्यावहारिक धर्म बन गया है। यह सब शङ्कराचार्य की ही प्रतिभा का प्रसाद है। छोटी उम्र में ऐसा व्यापक कार्य सम्पन्न करते देख कर आलोचक की दृष्टि आश्चर्य से चकित हो उठती है। अष्टम वर्ष में चारों वेदों का अध्ययन, द्वादश वर्ष में समग्र शास्त्रों की अभिज्ञता, सोलहवें में भाष्य की रचना—सचमुच आश्चर्य-परम्परा है। 'आश्चर्य-परम्परा केयम् ?'

अष्टवर्षे चतुर्वेदी द्वादशे सर्वशास्त्रवित्।
षोडशे कृतवान् भाष्यं द्वात्रिंशे मुनिरभ्यगात्॥

आचार्य अध्यात्मवेत्ता होते हुए भी नितान्त कर्मठ थे, ज्ञान की महिमा के

प्रतिपादक होने पर भी उपासना के परम उपासक थे। वर्णाश्रम-धर्म की मर्यादा अक्षुण्ण बनाये रखने तथा उसकी नींव दृढ़ करने के लिए शङ्कराचार्य को अपना कार्य स्थायी बनाना था और इसके लिए आचार्य की व्यवस्था सर्वतोभावेन सफल रही। इतिहास बस बात का साक्षी है कि आचार्य शङ्कर ने जिस वृक्ष का बीजारोपण किया वह फूला-फला। जिस उद्देश्य की पूर्ति की अभिलाषा से वह रोपा गया था, वह सिद्ध हुआ। आज भारत-भूमि में वैदिक धर्म की प्रतिष्ठा, वेदों के प्रति श्रद्धा, ज्ञान के प्रति आदर, जो कुछ दीख पड़ता है उसके लिए अधिक अंश में आचार्य को श्रेय देना चाहिए। शङ्कर का जो महान् उपकार हमारे ऊपर है हम उसके लिए अपनी कृतज्ञता किन शब्दों में प्रकट करें? आचार्य शङ्कर उच्च कोटि के प्रौढ़ दार्शनिक थे, जगत् से ममता छोड़ देने वाले संन्यासी थे, लोक के निर्वाह के लिए नितान्त व्यवहार-कुशल पण्डित थे, कविता के द्वारा रसिकों के हृदय में आनन्द-स्रोत बहाने वाले भावुक कवि थे, भगवती ललिता के परम उपासक सिद्ध जन थे—एक शब्द में हम कह सकते हैं वे युगान्तरकारी सिद्ध पुरुष थे। उनके गुणों की प्रशंसा कौन नहीं करता? उनके विरोधियों को भी उनके उदात्त चरित्र और परम सात्विक जीवन के प्रति श्रद्धा से नतमस्तक होना पड़ता है। उन्हें हम लोग भगवान् शङ्कर का साक्षात् अवतार मानते हैं। वे भगवान् की एक देदीप्यमान् दिव्य विभूति थे जिसकी आभा शताब्दियों के बीतने पर भी उसी प्रकार प्रद्योतित हो रही है।

× × ×

हम लोग उनके उदात्त जीवन-चरित का अध्ययन कर अपने जीवन को पवित्र बनावें, उनके मधुर उपदेशों का अनुसरण कर अपने भौतिक जीवन को सुखमय तथा सफल बनावें, आचार्य शङ्कर के प्रति यही हमारी श्रद्धाञ्जलि होगी। इसी विचार से यह वाक्य पुष्पाञ्जलि चरितनायक शङ्कराचार्य के चरणारविन्द पर अर्पित की जा रही है :—

आकल्पमेतत् परमार्थबोधं श्री शङ्कराचार्यगुरोः कथार्थम्।
सच्छिष्यमुक्तिप्रदमस्तु लोके संसेव्यतामार्यजनैरभेदम्॥

× × ×

सर्वेऽत्र सुखिनः सन्तु सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चित् दुःखभाग् भवेत्॥
तथास्तु। ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः॥

●●

अनुक्रमणी

(१) सहायक-ग्रन्थ

1 C. N. Krishnaswami Aiyer—Shankaracharya, His Life and Times (G. A. Natesan, Madras).

2 Maxmuller India—What it can Teach us.

3 Bhasyacharya—Age of Sankara (Adyar Pamphlets, No. 3).

4 T. A. Gopinath Rao—Copperplate Inscriptions of Sankaracharya Matha.

5 K. T. Telang—Sankaracharya, Philosopher and Mystic Adyar, 1911.

6 N. K. Venkatesan—Sankaracharya and His Kamakoti Pitha, Kumbhakonan, 1915.

7 T. S. Narayan Sastri—The Age of Sankara.

8 N. Venkata Raman—Sankaracharya the Great and His Successors at Kanchi (Ganesh and Co., Madras, 1923).

9 Sri Sankaracharya the Great and his Connexion with Kanchipuri (Bangiya Brahma Sabha Calcutta)

10 S. K. Belvelkar—Vedanta Philosophy (Lecture VI, Bilvakunja Publishing House, Poona, 1929).

११ शिवराम शास्त्री—श्रीमुखदर्पण

१२ वेङ्कट राम—शङ्करभगवत्पाद-चरितम्

१३ यज्ञेश्वर शास्त्री—आर्य विद्यासुधाकर (लाहौर)

१४ गोपीनाथ कविराज—शाङ्करभाष्यानुवाद की भूमिका (अच्युतकार्यालय, काशी)

१५ राजेन्द्रनाथ घोष—आचार्य शङ्कर ओ रामानुज (बं)

१६ हरिमङ्गलमिश्र—स्वामी शङ्कराचार्य का जीवनचरित (सं० १९७५, प्रयाग)

१७ उमादत्त शर्मा—शङ्कराचार्य (सं० १९८३, कलकत्ता)

१८ बलदेव उपाध्याय—शङ्कर दिग्विजय (माधव-कृत) का (विस्तृत ऐतिहासिक भूमिका के साथ) अनुवाद; २००० सं. हरिद्वार ।

१९ बलदेव उपाध्याय—भारतीय दर्शन (परिवर्धित संस्करण, सं. २००२, काशी)

२० शरच्चन्द्र शास्त्री—शङ्कराचार्य-चरित (बँगला, कलकत्ता, १३३० साल)

२१ राजेन्द्रनाथ घोष सम्पादित शङ्करग्रन्थावली (बँगला, कलकत्ता, १३२४ साल, भूमिका)

22. S. S. Surya Narayan Sastri—Sankarcharya. (G. A. Natesan and Co, Madras.)

23. Ganganath Jha—Shankara Vedanta (Allahabad University, 1939).

२४ बलदेव प्रसाद मिश्र—क्रान्ति नाटक (चाँद बुकडिपो, प्रयाग, १९३९)

२५ गोस्वामी पृथ्वीगीर हरिगीर—गोसावी वत्याँचा सम्प्रदाय (मराठी-यवतमाल), दो भाग ।

२६ रमाकान्त त्रिपाठी—स्वामी शङ्कराचार्य (हि. पु. ए. काशी १९००)

२७ श्री शङ्करविजय चूर्णिका (निर्णयसागर, बम्बई)

२८ शङ्कराचार्य जीवन चरित्र—स्वामी परमानन्द (खेमराज, बम्बई, १९१३)

२९ 'गीताधर्म' का शङ्कराङ्क (काशी, १९३६ मई)

(२) शङ्करदिग्विजय

१ माधव (कृत—आ० सं० सी०, संख्या २२)

२ आनन्दगिरि (अनन्तानन्दगिरि – कलकत्ता)

३ सदानन्द

४ चिद्विलास (Printed in Telugu and Grantha)

५ व्यासगिरि (Tanjore Palace Library)

६ आचार्य चरितम् (मलयालम् अक्षरों में, उपनाम केरलीयशङ्कर विजय) ।

७ राजचूडामणि दीक्षित, शङ्कराभ्युदय (Vani Vilas Press,)

८ शङ्करदेशिकेन्द्र-शङ्करविजय-विलास-काव्य (ms. Aufrect 626, Oppert II, 492)

९ शङ्करविजयकथा (ms. Madras Oriental Library).

१० शङ्कराचार्यचरित (ms. Burnell 4746, Oppert 6232)

११ शङ्कराचार्यावतारकथा-आनन्दतीर्थ (S. Rice 742)

१२ शङ्कराचार्योत्पत्ति

१३ प्राचीन शङ्करविजय (मूकशङ्कर, 18th head of Kanchi Matha.)

१४ बृहत्-शङ्कर विजय (ms. by सर्वज्ञचित्सुख)

१५ शङ्कर विलास, विद्यारण्य हस्त लिखित)

१६ ——————चम्पू, जगन्नाथ (हस्तलिखित)

१७——अभ्युदयकाव्य—रामकृष्ण

१८ श. दि. सार—व्रजराज

(३) अद्वैत-वेदान्त के ग्रन्थकार

अखण्डानन्द	तत्त्वदीपन (विवरण की व्याख्या) चौ० सं० सी० १७
अखण्डानन्द	ऋजु प्रकाशिका (भामती की टीका)
अच्युत कृष्णानन्द	कृष्णालंकार (सिद्धान्तलेश की टीका)
अद्वैतानन्द	ब्रह्मविद्याभरण (ब्रह्मसूत्र शङ्करभाष्य का व्याख्यान) चौ०सं०सी०
अनन्तदेव	सिद्धान्ततत्त्व—चौ० सं० सी०
अनन्तानन्दगिरि	ऐतरेय उपनिषद् भाष्य-टीका
,,	प्रश्न भाष्य टीका
,,	शङ्कर विजय
अनुभूतिस्वरूपाचार्य	प्रमाणरत्नमाला टीका
,,	माण्डूक्यकारिका भाष्य टीका
अप्पय दीक्षित	उपक्रम पराक्रम (ब० सं० सी० २२)
,,	न्यायरक्षामणि (ब्रह्मसूत्र की व्याख्या)
,,	सिद्धान्तलेशसंग्रह (चौ० सं० सी०)
,,	कल्पतरु परिमल (नि० सा०)
,,	मध्वतंत्र मुखमर्दन (आनन्दाश्रम सं० सी० ११३)
अमरदास	मणिप्रभा मिताक्षरा (उपनिषदों की व्याख्या) चौ० सं० सी०
अमलानन्द	वेदान्त कल्पतरु (भामती की टीका)
,,	शास्त्रदर्पण (ब्रह्मसूत्र की टीका)
अनन्तानन्द	प्रकटार्थ विवरण में निर्दिष्ट
आनन्द गिरि	वाक्यवृत्ति टीका
,,	त्रिपुटी टीका
,,	उपदेशसाहस्री टीका
,,	न्यायरत्न दीपावली
,,	न्यायनिर्णय (ब्रह्मसूत्र शङ्करभाष्य की टीका)
,,	गीताभाष्य टीका (आनन्दाश्रम सं० सी० ३४)
,,	पञ्चीकरण विवरण

आनन्दगिरि	बृहदारण्यकवार्तिक कारिका (आनन्दाश्रम)
आनन्दपूर्ण	न्याय चन्द्रिका
,,	पञ्चपादिका टीका
,,	टीकारत्न (विवरण की टीका)
,,	खण्डन फक्किका विभाजन (खण्डन की टीका)
,,	न्याय कल्पलतिका (वृत्तिवार्तिक की टीका) चौ० सं० सी०
,,	(खण्डनखण्डखाद्य टीका)
,,	विद्यासागर
,,	भावशुद्धि (ब्रह्मसिद्धि की टीका)
,,	न्याय दीपावली
आनन्द बोध	शाब्दनिर्णय दीपिका
,,	न्याय मकरन्द (चौ० सं० सी० ११)
आनन्दानुभव	इष्टसिद्धि टीका
,,	न्यायरत्न दीपावली
आपदेव	बालबोधिनी (वेदान्द सार की टीका)
उत्तमश्लोकयति	वेदान्त सूत्र लघुवार्तिक (चौ० सं० सी० ४६)
कृष्णतीर्थ	अन्वयार्थप्रकाशिका संक्षेपशारीरक पर टीका, आनन्दाश्रम सं० ८३)
गोविन्दानन्द	रत्नप्रभा (ब्रह्मसूत्र शाङ्करभाष्य की टीका)
गंगाधरेन्द्रसरस्वती	प्रणवकल्पप्रकाश (चौखम्भा सं० सी० ७४)
,,	वेदान्त सिद्धान्त सूक्ति मञ्जरी (चौ० सं० सी० ३६)
गंगाधरसरस्वती	स्वराजसिद्धि पर टीका
चित्सुखाचार्य	अधिकरण मञ्जरी
,,	अधिकरण संगति
,,	अभिप्राय प्रकाशिका (ब्रह्मसिद्धि की टीका)
,,	खण्डन खाद्य टीका
,,	तत्त्वदीपिका
,,	न्यायमकरन्द टीका
,,	प्रमाणरत्नमाला टीका
,,	भावद्योतनिका (विवरण की टीका)
,,	सुबोधिनी (संक्षेप शारीरक पर टीका, आनन्दाश्रम ८३)
,,	भावतत्त्वप्रकाशिका (नैष्कर्म्यसिद्धि की टीका)
जनार्दन	तत्त्वालोक

जीव गोस्वामी	गोपालतापिनी टीका (हस्तलिखित)
ज्ञानघनपाद	तत्व शुद्धि
ज्ञानामृत यति	विद्यासुरभि (नैष्कर्म्यसिद्धि की टीका)
ज्ञानोत्तम	इष्टसिद्धि टीका
,,	चन्द्रिका (नैष्कर्म्यसिद्धि की टीका) बनारस सं० सी०
,,	ज्ञान सिद्धि
ज्ञानोत्तम	न्याय सुधा
,,	विद्याश्री (ब्रह्मसूत्र शाङ्कर भाष्य की टीका, हस्तलिखित)
ज्ञानोत्तम (गौडेश्वराचार्य)	ज्ञानसुधा
ताराचरण शर्मा	खण्डनपरिशिष्ट (खण्डनपर टीका) चौखम्भा सं० सी०
दिगम्बरानुचर	प्रकाश (ईश, केन और कठ पर टीका, आनन्दाश्रम ७६)
दिवाकर	बोधसार टीका (बनारस संस्कृत सीरीज)
धनपति	वेदान्त परिभाषा की टीका (ह० लि०)
धर्मराजाध्वरीन्द्र	वेदान्त परिभाषा
नरहरि	बोधसार (बनारस संस्कृत सीरीज)
नाना दीक्षित	सिद्धान्त दीपिका (वेदान्त मुक्तावली की टीका)
नारायण तीर्थ	सिद्धान्त बिन्दु पर नारायणी टीका (काशी संस्कृत सीरीज ६५)
,,	विभावना (ब्रह्मसूत्र पर टीका)
,,	लघु व्याख्या (सिद्धान्तबिन्दु पर टीका)
नारायण पण्डित	दीपिका टीका (अनेक उपनिषदों की, एशियाटिक सोसाइटी)
नारायणाश्रम	तत्त्वविवेक दीप (हस्तलिखित १६१)
,,	सत्क्रिया (भेदधिक्कार पर टीका)
नित्यानन्द मुनि	मिताक्षरा (बृहदारण्यक पर टीका, आ० सं० सी० ३१)
,,	मिताक्षरा (छान्दोग्य पर टीका) आ० सं० सी० ७६
नीलकण्ठ	वेदान्त शतक
,,	आनन्दमयाधिकरण विचार
नृसिंह सरस्वती	सुबोधिनी (वेदान्तसार पर टीका)
नृसिंहाश्रम	अद्वैत दीपिका (नारायण पाद की टीका के साथ, चौ० सं० सी०)
,,	दीपन (वेदान्त तत्व विवेक की टीका)
,,	तत्वबोधिनी (संक्षेप शारीरक पर टीका)
,,	प्रकाशिका (विवरण पर टीका)
,,	भावप्रकाशिका (तत्व-दीपन पर टीका)

मधुसूदन	सिद्धान्त बिन्दु
मण्डन मिश्र	ब्रह्मसिद्धि
मल्लनाराध्य	अभेदरत्न १५
महादेवानन्दसरस्वती	तत्वानुसंधान १६६४ (बनारस सं० सी० २४)
महेश्वर तीर्थ	लघुसंग्रह (बृहदारण्यक कीर्तकसार पर टीका) चौखम्भा
माधव मंत्री	तात्पर्य दीपिका (सूतसंहिता पर टीका) आनन्दाश्रम सं० सी० २५
माधवाश्रम	स्वानुभवादर्श (चौखम्भा से प्रकाशित ४०)
रङ्गराजाध्वरीन्द्र	अद्वैत विद्यामुकुर
रङ्गराजाध्वरीन्द्र	विवरण दर्पण विवरण पर टीका)
रंगोजिभट्ट	अद्वैत चिन्तामणि
,,	अद्वैत शास्त्र-सारोद्धार
रघुनाथ सूरि	शङ्करपादभूषण (ब्रह्मसूत्र पर टीका) आनन्दाश्रम सं० सी० १०१
रघुनाथ भट्टाचार्य	खण्डनभूषणमणि टीका (खण्डन पर टीका) चौखम्भा
राघवानन्दसरस्वती	विद्यामृतवर्षिणी (संक्षेप शारीरक पर टीका; हस्तलिखित)
रामकृष्ण	वेदान्तसार की टीका
,,	वेदान्त शिखामणि वेदान्त परिभाषा की टीका)
रामतीर्थ	अन्वयार्थ प्रकाशिका (संक्षेप शारीरक पर टीका)
,,	दक्षिणामूर्ति वार्तिक पर टीका
,,	पदयोजनिका (उपदेश साहस्री पर टीका)
,,	शारीरक रहस्यार्थ-प्रकाशिका (शाङ्करभाष्य पर टीका)
,,	विद्वन्मनोरञ्जनी (वेदान्तसार पर टीका)
रामाद्वय	वेदान्त कौमुदी (हस्तलिखित)
रामनारायण	अनुमिति निरूपण
,,	तत्त्वानुसंधान पर टीका (हस्तलिखित)
,,	तात्पर्य-बोधिनी (पञ्चदशी पर टीका) हस्तलिखित
,,	विज्ञाननौका पर टीका
रामानन्द तीर्थ	अत्यन्तभाव दीपिका (ऋजुविवरण पर टीका)
रामतीर्थ स्वामी	अन्वयार्थ बोधिनी (संक्षेप शारीरक पर टीका) काशी सं० सी० २
रामानन्द सरस्वती	विवरणोपन्यास (विवरण पर टीका) बनारस संस्कृत सीरीज १६
,,	ब्रह्मामृत दर्पिणी (ब्रह्मसूत्र पर टीका) चौखम्भा ३६
,,	ब्रह्मामृत तरंगिणी (ब्रह्मसूत्र पर टीका)
लक्ष्मीधर	अद्वैत मकरन्द

वाचस्पति मिश्र	भामती
,,	ब्रह्मतत्त्वसमीक्षा
वामन पण्डित	अनुभूति लेश (चौखम्भा)
वासुदेवज्ञानमुनि	कैवल्यरत्नम् (चौखम्भा—)
वासुदेवशास्त्री	अद्वैतामोद (आनन्दाश्रम स० सी० ८४)
अभ्यंकर	
विज्ञानवास यति	पञ्चपादिका व्याख्या (मद्रास हस्तलिखित)
विज्ञानात्मन्	श्वेताश्वतरोपनिषद्-भाष्य टीका
विज्ञानात्मभगवान्	उपनिषद् विवरण
विद्यारण्य	अनुभूति प्रकाश
,,	जीवन्मुक्ति विवेक
,,	नृसिंह उत्तरतापिनी दीपिका (आनन्दाश्रम सं० सी० ३०)
,,	पञ्चदशी
,,	ब्रह्मगीता टीका
,,	विवरण प्रमेय संग्रह
,,	वैयासिक न्यायमाला
,,	वृहदारण्यक वार्तिकसार
विमुक्तात्मा	इष्टसिद्धि
विश्वदेवाचार्य	निरंजनभाष्य (सिद्धान्तदर्शन पर टीका)
विश्ववेद	सिद्धान्तदीप (संक्षेप शारीरक पर टीका) हस्तलिखित
विश्वेश्वर	वाक्यवृत्ति पर टीका (आनन्दाश्रम स० सी ८०)
,,	गोपालतापिनी टीका (एशियाटिक सोसाइटी)
विष्णुभट्ट उपाध्याय	ऋजु विवरण (विवरण पर टीका)
वेदव्यास	सिद्धान्तदर्शन
वैद्यनाथ	कल्पतरुमञ्जरी पर टीका
शङ्कर मिश्र	आनन्दवर्धन (खण्डनखण्ड-खाद्य की टीका)
शङ्कराचार्य	ईशोपनिषद्-भाष्य
	ऐतरेय भाष्य
	कठ-भाष्य
	केन-पदभाष्य
	वाक्य भाष्य
	छान्दोग्य भाष्य
	तैत्तिरीय भाष्य

	नृसिंह पूर्व-तापिनी भाष्य
	प्रश्न भाष्य
	वृहदारण्यक भाष्य
	ब्रह्मसूत्र भाष्य
	भगवद्गीता भाष्य
	माण्डूक्य भाष्य
	माण्डूक्य कारिका भाष्य
	मुण्डक भाष्य
	श्वेताश्वतर भाष्य
	सनत्सुजातीय भाष्य
शङ्करानन्द	आत्म पुराण (सटीक) चौखम्भा
,,	ब्रह्मसूत्र दीपिका (बनारस सं० सीरीज २४)
,,	दीपिका कैवल्य उपनिषद् पर टीका (एशियाटिक सोसाइटी कलकत्ता)
,,	दीपिका (कौषितकी पर टीका)
,,	दीपिका (नृसिंहतापिनी पर टीका)
,,	नृसिंह पूर्वतापिनी भाष्य (आनन्दाश्रम १०)
,,	माण्डूक्य उपनिषद् दीपिका (काशी सं० सीरीज)
,,	वाक्यवृत्ति (आनन्दाश्रम ८०)
श्रीहर्ष	खण्डनखण्डखाद्य, (चौखम्भा काशी)
श्रीधराचार्य	अद्वयसिद्धि
सदानन्द	वेदान्तसार
सदानन्द काश्मीरक	अद्वैत ब्रह्मसिद्धि (एशियाटिक सोसाइटी, कलकत्ता)
,,	ईश्वरवाद
,,	स्वरूपनिर्णय
,,	स्वरूप प्रकाश
,,	अद्वैतसिद्धि सिद्धान्तसार (चौ० सं० सीरोज १८)
सदानन्द काश्मीरक	गीताभावप्रकाश (पद्यमयी टीका)
,,	तत्वचिवेक पर टीका (हस्तलिखित)
,,	प्रत्यक् तत्त्वचिन्तामणि (प्रभा टीका के साथ) अच्युत ग्रन्थमाला, काशी
,,	शङ्कर दिग्विजयसार
स्वयं प्रकाश	पञ्चप्रक्रिया (अद्वैतमकरन्द टीका)

सर्वज्ञात्ममुनि	संक्षेप शारीरक
सुख प्रकाश	अधिकरणरत्नमाला
,,	न्यायदीपावली टीका
,,	न्यायमकरन्द टीका
,,	भावद्योतनिका (तत्वप्रदीपिका पर टीका)
सुरेश्वराचार्य	तैत्तिरीय भाष्य वार्तिक (आनन्दाश्रम सं० सी० १३)
,,	नैष्कर्म्यसिद्धि (बाम्बे सं० सी०, पूना)
,,	बृहदारण्यक भाष्य-वार्तिक (आनन्दाश्रम १६)
सूर्यनारायण शुक्ल	खण्डनरत्नमालिका (खण्डन पर टीका) चौखम्भा
स्वयं प्रकाशानन्द	मिताक्षरा (माण्डूक्यकारिका पर टीका) चौ० सं०सी० ४८
स्वयं प्रकाश	अद्वैतमकरन्द पर टीका
हनुमान्	पैशाच भाष्य—गीता पर (आनन्दाश्रम सं० सी० ४०)
हरिदीक्षित	ब्रह्मसूत्र वृत्ति (आनन्दाश्रम सं० सी० ८२)

(४) अद्वैत-वेदान्त के ग्रन्थ

ग्रन्थ	ग्रन्थकार	विवरण
अद्वैतसिद्धि	श्रीधराचार्य	
अद्वैतचन्द्रिका	ब्रह्मानन्द सरस्वती	अद्वैतसिद्धि की टीका
अद्वैत चिन्तामणि	रङ्गोजी भट्ट	सरस्वती भवन टैक्स (नं० २)
अद्वैत दीपिका	नृसिंहाश्रम	
अद्वैत ब्रह्मसिद्धि	सदानन्द काश्मीरक	कलकत्ता विश्वविद्यालय
अद्वैत मकरन्द	लक्ष्मीधर	
,, (टीका)	स्वयं-प्रकाश	
अद्वैतरत्न लक्षण	मधुसूदन	
अद्वैत-रस-मञ्जरी		चौखम्भा सं० सीरीज में प्रकाशित
अद्वैत विद्यामुकुर	रङ्गराजाध्वरीन्द्र	
अद्वैतशास्त्र सारोद्धार	रङ्गोजी भट्ट	
अद्वैत सिद्धि	मधुसूदन	
अद्वैत सिद्धान्त	ब्रह्मानन्द सरस्वती	विद्योतन की टीका
अद्वैतसिद्धिसिद्धान्तसार	सदानन्द पण्डित	चौखम्भा सं० सी० नं० १८

अद्वैतामोद	वासुदेव शास्त्री अभ्यंकर	आ० सं० सी०
अधिकरण मंजरी	चित्सुख	
अधिकरण रत्नमाला	सुख प्रकाश	
अधिकरण संगति	चित्सुख	
अनुभूति प्रकाश	विद्यारण्य	
अनुभूति लेश	वामन पण्डित	चौखम्भा में प्रकाशित
अनुमिति निरूपण	रामनारायण	
अन्वयार्थ प्रकाशिका	रामतीर्थ	संक्षेप शारीरक की टीका
अन्वयार्थ बोधिनी	,,	संक्षेप शारीरक पर टीका, काशी संस्कृत सीरीज (नं० २) में प्रकाशित
अभिप्राय प्रकाशिका	चित्सुख	ब्रह्मसिद्धि की टीका
अभेदरत्न	मल्लनाराध्य	१५०० ई०
अवधूत गीता		
अवधूत गीता (टीका)	परमानन्द	
आत्मपुराण	शङ्करानन्द	चौखम्भा सं० सी० काशी
आनन्दमयाधिकरणविचार	नीलकण्ठ	
इष्टसिद्धि	विमुक्तात्मा	गायकवाड़ ओरियन्टल
,, (टीका)	आनन्दानुभव	सीरीज
,, (टीका)	ज्ञानोत्तम	
ईशोपनिषद् भाष्य	शङ्कराचार्य	आ० सं० सी०
ईश्वरवाद	सदानन्द काश्मीरक	
उपदेशसाहस्री	शङ्कराचार्य	निर्णय सागर से प्रकाशित
,, (टीका)	आनन्दगिरि	,,
उपनिषद्-दीपिका	शङ्करानन्द	
—भाष्य	शङ्कराचार्य	
,, ,,	भास्करानन्द	चौखम्भा से प्रकाशित
,, विवरण	विज्ञानात्म भगवान्	
,, मणिप्रभा		,,
ऋजु प्रकाशिका	अखण्डानन्द	भामती की टीका
ऋजु विवरण	विष्णुभट्ट उपाध्याय	विवरण की टीका

ऐतरेय उपनिषद्-भाष्य टीका	अनन्तानन्द गिरि	
ऐतरेय भाष्य	शङ्कराचार्य	मुद्रित (आ० सं० सी०)
कठभाष्य—	शङ्कराचार्य	आ० सं० सी०
कल्पतरु परिमल	अप्पयदीक्षित	
,, मञ्जरी	वैद्यनाथ	कल्पतरु की टीका
केन-पद भाष्य	शङ्कराचार्य	आ० सं० सी०
कैवल्यरत्नवाक्य भाष्य	वासुदेव ज्ञानमुनि तीर्थ	चौ० सं० सी०
कृष्णालंकार	अच्युत कृष्णानन्द कीर्ति	सिद्धान्तलेश की टीका, चौ०
खण्डनखण्ड खाद्य	श्री हर्ष	
, (टीका)	शङ्कर मिश्र	टीका का नाम आनन्दवर्धन
,, ,,	चित्सुख	
,, ,,	प्रगल्भमिश्र	टीका का नाम खण्डन-दर्पण, चौखम्भा सं० सीरीज
,,	ताराचरण शर्मा	टीका-नाम खण्डन परिशिष्ट, चौखम्भा सं० सीरीज
,, ,,	आनन्दपूर्ण	टीका-नाम 'खण्डन-फक्किका विभजन', चौखम्भा सं० सी०
,, ,,	रघुनाथ भट्टाचार्य	टीका नाम—खण्डन-भूषामणि, चौ० सं० सी०
,, ,,	सूर्यनारायण शुक्ल	टीका-नाम—खण्डनरत्न-मालिका, चौ० सं० सी०
गीता भाष्य	शङ्कराचार्य	
,, (टीका)	आनन्दगिरि	आ० सं० सी० ३४
,, ,,	मधुसूदन	टीका-नाम-'गूढार्थदीपिका'
,, ,,	महानन्द पण्डित	टीका नाम गीताभावप्रकाश
गोपाल तापिनी (टीका)	विश्वेश्वर पण्डित	एशियाटिक सोसाइटी (हस्तलिखित)
,, ,,	जीवगोस्वामी	

चन्द्रिका	ज्ञानोत्तम मिश्र	नैष्कर्म्यसिद्धि की टीका, बाम्बे सं०सी० में प्रकाशि
छान्दोग्यभाष्य	शङ्कराचार्य	आ० सं० सी०
जीवन्मुक्तिविवेक	विद्यारण्य	आ० सं० सी० २०
,, (टीका)	अच्युत राय मोडक	टीकानाम-पूर्णानन्देन्द्र कौमुदी
ज्ञानसिद्धि	ज्ञानोत्तम	
ज्ञानसुधा	ज्ञानोत्तम (गौडेश्वराचार्य)	
टीकारत्न	आनन्दपूर्ण	विवरण की टीका
तत्वदीपन	अखण्डानन्द मुनि	विवरण की व्याख्या,
तत्त्वदीपिका	चित्सुख	चौ० सं० सी०
तत्वप्रकाशिका	प्रकाशानन्द	तत्वालोक की टीका
तत्त्वबोधिनी	नृसिंहाश्रम	संक्षेप शारीरक की टीका
तत्त्व विवेक		
तत्त्व विवेक (टीका)	सदानन्द पण्डित	
,,	भट्टोजिदीक्षित	
तत्त्वविवेक दीपन	नारायणाश्रम	ह० लि०
तत्त्व शुद्धि	ज्ञान घनपाद	
तत्वानुसन्धान	महादेवानन्द सरस्वती	बा० सं० सी० नं० ३४
,, ,, (टीका)	रामनारायण	ह० लि०
तत्वालोक	जनार्दन	
अय्यन्त भावदीपिका	रामानन्द तीर्थ	ऋजुविवरण की टीका
त्रिपुटी (टीका)	आनन्द	
तात्पर्यदीपिका	माधवमन्त्री	सूतसंहिता की टीका आ०सं०
तात्पर्यबोधिनी	रामनारायण	पंचदशी टीका ह० लि०
तैत्तिरीय भाष्य	शङ्कराचार्य	मु०
,, ,, वार्तिक	सुरेश्वराचार्य	आ० सं० सी० १३
दक्षिणामूर्तिस्तोत्र	शङ्कराचार्य	
,, वार्तिक	सुरेश्वराचार्य	
,, ,, (टीका)	रामतीर्थ	
दीपन (टीका)	नृसिंहाश्रम	वेदान्त तत्त्वविवेक की टीका
दीपिका (टीका) ब्रह्मसूत्र	शङ्करानन्द	आ० सं० सी० ६७
,, कैवल्य उपनिषद्	,,	एशियाटिक सोसाइटी, कलकत्ता

दीपिका कौषीतकी ,,	शङ्करानंद	एशि० सो० कलकत्ता
,, नृसिहतापनीय	,,	,,
,, नृसिहउत्तरतापिनी	विद्यारण्य	आ० सं० सी० ३०
,, उपनिषद्	नारायण पण्डित	एशि० सो० कलकत्ता
नारायणी (टीका)	नारायण तीर्थ	सिद्धान्तबिन्दु पर टीका, चौ०
न्याय-कल्प-लतिका	आनन्दपूर्ण	टीका—वृहदारण्यकवार्तिक की
न्यायचन्द्रिका	आनन्दपूर्ण	
न्यायदीपावली	आनन्दबोध	
,, (टीका)	सुखप्रकाश	
न्यायनिर्णय	आनन्द	शाङ्करभाष्य पर टीका
न्याय मकरन्द	आनन्दबोध	चौ० सं० सी० १
,, (टीका)	चित्सुख	
न्याय मकरन्द	सुखप्रकाश	
न्यायरक्षामणि	अप्पयदीक्षित	ब्रह्मसूत्र पर टीका
न्याय रत्नदीपावली (टीका)	आनन्द	
न्यायरत्नावली	ब्रह्मानन्द	सिद्धान्त बिन्दु पर टीका चौ० सं० सी० ६५
न्यायसंग्रह	प्रकाशात्मा	शाङ्करभाष्य पर टीका
न्यायसुधा	ज्ञानोत्तम	
निरंजन भाष्य	विश्वदेवाचार्य	सिद्धान्त दर्शन पर
नैष्कर्म्य सिद्धि	सुरेश्वर	बा० सं० सी०
नृसिह विज्ञापन	नृसिहाश्रम	
नृसिह पूर्वतापिनी भाष्य	—शङ्कर	आनन्दाश्रम सं० सी० ३० नि०सा०
पञ्चदशी	विद्यारण्य	
पञ्चपादिका व्याख्या	विज्ञानवास यति	हस्तलिखित
पञ्चपादिका (टीका)	आनन्दपूर्ण	ह० लि०
पञ्चप्रक्रिया	सर्वज्ञात्ममुनि	
पञ्चीकरण विवरण	आनन्द	
पञ्चीकरणवार्तिक (टीका)		
,, विवरण		चौ० सं० सी० ७
पदयोजनिका	रामतीर्थ	उपदेशसाहस्री पर टीका
पैशाच भाष्य	हनुमान	गीता की टीका, आ० सं० सी० ४०

प्रकटार्थ विवरण		शङ्करभाष्य पर टीका; मद्रास विश्व-विद्यालय से प्रकाशित
प्रकाश	दिगम्बरानुचर	ईश, केन, कठ पर टीका आ० सं० सी० ७६
प्रकाशिका	नृसिंहाश्रम	विवरण की टीका
प्रज्ञानन्दप्रकाश	प्रज्ञानन्द सरस्वती	
प्रणवकल्पप्रकाश	गंगाधरेन्द्र सरस्वती	चौ० सं० सी० ७४
प्रत्यक् तत्त्वचिन्तामणि	सदानन्द	अच्युत ग्रन्थमाला से प्रकाशित
प्रमाणरत्नमाला	अनुभूति स्वरूपाचार्य	
,,	चित्सुख	
प्रश्नभाष्य टीका)	अनन्तानन्द गिरि	
प्रश्न भाष्य	शङ्कराचार्य	आ० सं० सी०
बालबोधिनी	आपदेव	वेदान्तसार की टीका
बोधसार	नरहरि	चौ० सं० सी०
,, (टीका)	दिवाकर	चौ० सं० सी०
बृहदारण्यक भाष्यवार्तिक	सुरेश्वराचार्य	आ० सं० सी० १६
बृहदारण्यक भाष्य	शङ्कराचार्य	चौ० सं० सी०
,, (टीका)	आनन्दगिरि	,, ,, ,,
बृहदारण्यकवार्तिकसार	विद्यारण्य	हिन्दी अनुवाद; आ० मा० काशी
ब्रह्मगीता (टीका)	विद्यारण्य	
ब्रह्मतत्त्व समीक्षा	वाचस्पति	
ब्रह्मप्रकाशिका—	—	प्रकटार्थविवरण में उल्लिखित है
ब्रह्मविद्याभरण—	अद्वैतानन्द	शङ्करभाष्य पर टीका,चौ०सं०सी०
ब्रह्मसिद्धि	मण्डन	मद्रास से प्रकाशित
ब्रह्मसूत्र भाष्य	शङ्कराचार्य	आ० सं० सी०
ब्रह्मसूत्रतात्पर्य विवरण	भैरव शर्मा	चौ० सं० सी०
ब्रह्मसूत्र वृत्ति	हरिदीक्षित	आ० सं० सी० ८२
ब्रह्मामृतम्	जयकृष्ण ब्रह्मतीर्थ	चौ० सं० सी० १२
ब्रह्मामृत तरंगिणी	रामानन्द सरस्वती	ब्रह्मसूत्र पर टीका
,, वर्षिणी		,, ,, आ० सं० सी० ६७
भगवद्गीता भाष्य	शङ्कराचार्य	आ० सं० सी० ३६
भामती	वाचस्पति मिश्र	ब्र० सू० शाङ्कर भाष्य की टीका (नि० सा०)

वाक्यवृत्ति (टीका)	आनन्द	
वाक्यसुधा (टीका)	ब्रह्मानन्द भारती	ब० सं० सी० १६
विज्ञाननौका (टीका)	रामनारायण	
विद्यामृतवर्षिणी	राघवानन्द सरस्वती	संक्षेपशारीरक पर टीका (ह० लि०)
विद्याश्री	ज्ञानोत्तम	शाङ्करभाष्य पर टीका (ह० लि०)
विद्यासुरभि	ज्ञानामृत यति	नैष्कर्म्यसिद्धि पर टीका
विद्वन्मनोरंजनी	रामतीर्थ	वेदान्तसार पर टीका
विभावना	नारायण तीर्थ	ब्रह्मसूत्र पर टीका
विवरण	प्रकाशात्मा	
विवरणोपन्यास	रामानन्द सरस्वती	ब० सं० सी० १६
विवरण दर्पण	रङ्गराजाध्वरीन्द्र	विवरण पर टीका
विवरणप्रमेय संग्रह	विद्यारण्य	
वेदान्त-शतक	नीलकण्ठ	
वेदान्त कल्पतरु	अमलानन्द	नि० सा०
वेदान्तकल्प दीपिका	मधुसूदन	
वेदान्त कौमुदी	रामाद्वय—	हस्तलिखित
वेदान्ततत्व कौस्तुभ	भट्टोजिदीक्षित	
वेदान्त तत्वविवेक	नृसिंहाश्रम—	
वेदान्त परिभाषा	धर्मराजाध्वरीन्द्र	
,, (टीका)	शिवदत्त	हरिदास सं० सी० ६
वेदान्त रत्नकोश	नृसिंहाश्रम	पञ्चपादिका पर टीका
वेदान्त शिखामणि	रामकृष्ण	वेदान्तपरिभाषा पर टीका
वेदान्तसार	सदानन्द	
,, (टीका)	रामकृष्ण	
वेदान्त सिद्धान्त मुक्तावली	प्रकाशानन्द	हिन्दी अनुवाद, काशी
वेदान्त सिद्धान्तसूक्तिमंजरी	गंगाधरेन्द्र सरस्वती	चौ० सं० सी० २६
वेदान्तसूत्र मुक्तावली	ब्रह्मानन्द सरस्वती	ब्रह्मसूत्र पर टीका, आ० सं० सी० ७७
वेदान्तसूत्र लघुवार्तिक	उत्तम श्लोकयति	चौ० सं० सी० ४६
वैयासिक न्यायमाला	विद्यारण्य और भारतीतीर्थ	आ० सं० सी० २३
शङ्करपाद भूषण	रघुनाथ सूरि	ब्र० सू० की टीका, आ० स० सी० १०१

ग्रन्थकारानुक्रमणिका

———

ग्रन्थानुक्रमणिका